आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य

लेखक एवं सम्पादक

डॉ. पारसनाथ द्विवेदी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[सप्तम पुष्प]

आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य-साहित्य

लेखक एवं सम्पादक

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

व्याकरण-साहित्याचार्य

साहित्य-संस्कृति संकायाध्यक्ष

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

वाराणसी



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

UNIVERSITY-SILVER JUBILEE-SERIES

[Vol. 7]

ĀCĀRYA NANDIKEŚVARA
AURA
UNAKĀ NĀṬYA-SĀHITYA

BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ
M. A., Ph. D., D. Lit.
Professor & Head Department of 'Purāṇetihāsa'
Dean of Sāhitya-Sanskṛti Faculty
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi



VARANASI

1989

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 70·00

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli,
Varanasi.

विश्वविद्यालय–रजतजयन्ती–ग्रन्थमाला

[सप्तम पुष्प]

आचार्य नन्दिकेश्वर
और
उनका नाट्य-साहित्य

लेखक एवं सम्पादक

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,

व्याकरण-साहित्याचार्य

आचार्य एवं अध्यक्ष,

पुराणेतिहास-विभाग

तथा

साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्ष

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय

वाराणसी



वाराणसी

२०४६ वैक्रमाब्द १९११ शकाब्द १९८९ खीस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी

□

प्रकाशक—
डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्तिस्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
मूल्य—७०.०० रूपये

□

मुद्रक—
विजय-प्रेस,
सरसौली,
वाराणसी।

प्राक्कथन

संस्कृत-वाङ्मय सतत प्रवहमान एक अमृत-नद है और नाट्यकला कल-कल निनाद करती सुधा-रस को प्रवाहित करने वाली त्रिपथगा मन्दाकिनी है, जिसमें अवगाहन करने पर शब्द एवं भाव रत्नों की अपूर्व मणिराशि उपलब्ध होती है। सहस्रों वर्षों के काल-खण्ड में इस पुनीत मन्दाकिनी की संजीवनी-धारा कहीं-कहीं अज्ञेय प्रखण्डों में खोई हुई प्रतीत होती है; किन्तु शीघ्र ही अधिक अन्वेषित क्षेत्रों के सुरम्य स्थलों में उस अमृतवाहिनी का प्रभाव विस्तृत, अबाध एवं सुप्रकाशित दिखाई देता है। इस परिव्रज्या की दीर्घ-यात्रा में ऐसा कोई स्थल नहीं दृष्टिगोचर होता, जहाँ पर इसकी कमनीयता, हृदय-ग्राह्यता एवं पावनता का आभास न मिलता हो। नृत्य, गीत एवं वाद्य के तीन मार्गों में प्रवाहित होने वाली नाट्यकला एवं संगीतकला को त्रिपथगा के उन आचार्यों एवं तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिनसे संस्कृत-वाङ्मय गौरव एवं समृद्धि को प्राप्त हुआ है।

संस्कृत-वाङ्मय की महत्त्वपूर्ण विधा नाट्यकला एवं संगीतकला को अनेक ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों ने अपनी अकाट्य प्रतिभा, अनुपम मनीषा, अलौकिक पाण्डित्य एवं असाधारण विवेचना-कौशल से मण्डित कर प्रौढ, लोकप्रिय एवं व्यापक बनाने का विपुल प्रयास किया है। आज उनके भौतिक शरीर अतीत के कालखण्डों में समा गये हैं; किन्तु उनके यशस्वी कृतित्व की सुरभि से आज भी यह धरती सुरभित है। आचार्य नन्दिकेश्वर उस गौरवशालिनी परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। वे मीमांसा, योग, तन्त्र, शैवदर्शन, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। उन्हें शिव का अवतार भी कहा गया है। वे शिव के प्रमुख गण एवं नाट्याचार्य भरत के उपाध्याय थे। उन्होंने कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अभिनय, नृत्य एवं संगीतकला पर ग्रंथ लिखकर अपने रचना-कौशल एवं प्रखर पाण्डित्य से संस्कृत-वाङ्मय को गौरवान्वित किया है। उनके रसशास्त्रविषयक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का भी पता चलता है। उनकी विशाल ज्ञानराशि, विविधता एवं मौलिकता ही उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। वे नाट्य, नृत्य, संगीत, दर्शन एवं रसशास्त्र के आचार्य के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने नाट्यकला एवं संगीतकला को शास्त्र का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है–नाट्यशास्त्र एवं संगीतकला के इस व्यापक क्षेत्र में आचार्य नन्दिकेश्वर का क्या स्थान है ? उनकी मौलिक देन क्या है ? उनका परवर्त्ती आचार्यों पर क्या प्रभाव पड़ा है और उनकी चिन्तनधारा एवं प्रतिभा को आचार्यों ने अपने विचारों एवं कल्पनाओं द्वारा किस सीमा तक अनुप्राणित किया है ? वस्तुत: जब तक नन्दिकेश्वर एवं उनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों की मान्यताओं का तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं होता, तब तक नन्दिकेश्वर तथा उनके साहित्य एवं उनकी देन की महत्ता का तात्त्विक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। अतएव पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती आचार्यों के विचारों के साथ तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए संस्कृत-वाङ्मय में उनका स्थान एवं उनकी मौलिक देन निर्धारित करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

नन्दिकेश्वर ने भारतीय नाट्यकला एवं संगीतकला की चिन्तनधारा में इतना व्यापक, सूक्ष्म एवं तात्त्विक रूप प्रस्तुत किया है कि परवर्त्ती कोई भी आचार्य उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका है। निष्पक्षता से विचार करने पर उनके आंगिक अभिनय के सिद्धान्त एवं मौलिक तत्त्व तथा उनका महत्त्वपूर्ण विचार-दर्शन विश्व की किसी भी नाट्यकला एवं संगीतकला के लिए आज भी ग्राह्य है। नन्दिकेश्वर ने अभिनय एवं संगीतकला के सिद्धान्तों तथा प्रयोगविज्ञान के सब पक्षों का जैसा संतुलित एवं तात्त्विक विवेचन किया है, उसकी परवर्त्ती आचार्यों एवं कवियों द्वारा प्रतिपादित नाट्यकला एवं संगीतकला से तुलना करते हुए इस ग्रन्थ में उसकी व्यापकता एवं महत्ता की स्थापना की गई है। इस ग्रंथ में नन्दिकेश्वर के विचारों एवं सिद्धान्तों के स्वरूप और महत्त्व के मूल्यांकन के क्रम में जिन निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है, वे मौलिक हैं। उन सब की पुष्टि नन्दिकेश्वर एवं अन्य काव्य तथा नाट्यशास्त्र के चिन्तकों की मूल विचारधारा से हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में नन्दिकेश्वर के व्यक्तित्व, इतिवृत्त एवं समय का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में नाट्य-कला एवं संगीतकला के उद्गम एवं विकास की रूपरेखा तथा तृतीय अध्याय में नाट्य एवं संगीत परम्परा के आचार्यों का परिचय तथा नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र की परम्परा में नन्दिकेश्वर का स्थान निर्धारित किया गया है। चौथे अध्याय में नन्दिकेश्वर की रचनाओं का तथा उनमें प्रतिपाद्य विषय की सामग्री का प्रतिपादन

किया गया है। पञ्चम अध्याय में अभिनय, उसके स्वरूप एवं प्रकारों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में अभिनय एवं नर्तन का सम्बन्ध, नर्तन के प्रकार एवं स्वरूप पर विचार किया गया है। सप्तम अध्याय में गीत-वाद्य आदि नाट्य की उपरञ्जक कलाओं का विवेचन किया गया है। अष्टम अध्याय में ताल की परिभाषा, ताल के दस प्राणों एवं ताल के प्रकारों का समीक्षात्मक विवेचन किया गया है। नवम अध्याय में नन्दिकेश्वर की कृतियों में रसतत्त्व, अभिनय, नृत्य, गीत एवं प्रेक्षागृह के साथ रसतत्त्व का सम्बन्ध तथा सभा की रचना एवं पुष्पाञ्जलि-विधान आदि विषयों पर विचार किया गया है। अन्त में दशम अध्याय में आचार्य नन्दिकेश्वर के योगदान का मूल्याङ्कन किया गया है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत नन्दिकेश्वरकृत 'नन्दिकेश्वरकाशिका' तथा 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' नामक ग्रन्थों का मूल अवतरित किया गया है और तत्पश्चात् शब्दानुक्रमणिका, पारिभाषिक शब्द-कोष एवं सहायक ग्रंथों की सूची दी गई है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उच्चकोटि की नवीन मौलिक कृतियों के प्रकाशन तथा संस्कृत-वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों के समालोचनात्मक सम्पादन एवं आकर ग्रन्थों की मौलिक टीकाओं तथा व्याख्याओं के साथ ही साथ प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों के हिन्दीभाषा में अनुवाद एवं उनके प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। इसी क्रम में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने 'आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यसाहित्य' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लेकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में जिन आचार्यों एवं विद्वान् लेखकों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उन सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग का, विशेषकर प्रकाशनाधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** का अन्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था में पूर्ण तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है। **विजय प्रेस** के व्यवस्थापक श्री गिरीशचन्द्र जी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अधिक उत्साह एवं कलात्मक ढ़ङ्ग से इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को यथासंभव शुद्ध बनाने का प्रयास किया गया है; फिर भी मानव-सुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है, अतः उसके लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि एवं कमी का अनुभव हो, उसे तुरन्त सूचित करने का कष्ट करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। पुस्तक को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा। लेखक का अल्प अध्ययन एवं सीमित सामर्थ्य से एक गुरुतर, गम्भीर एवं जटिल विषय पर किया गया इस प्रकार का यह प्रथम लघु एवं विनम्र प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इसकी सफलता अथवा असफलता का निकष वस्तुतः उन्हीं का परितोष है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

"आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्"।

विजयादशमी
विक्रमसंवत्, २०४६
वाराणसी

विनयावनत
पारसनाथ द्विवेदी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

आचार्य नन्दिकेश्वर का इतिवृत्त एवं व्यक्तित्व

द्वितीय अध्याय

नाट्य एवं संगीत परम्परा और उनमें नन्दिकेश्वर का स्थान

तृतीय अध्याय

नाट्य एवं संगीत परम्परा के आचार्य और नन्दिकेश्वर

चतुर्थ अध्याय

आचार्य नन्दिकेश्वर का साहित्य

पञ्चम अध्याय

अभिनय का स्वरूप एवं प्रकार

षष्ठ अध्याय

अभिनय एवं नर्तन

सप्तम अध्याय

गीत एवं वाद्य

अष्टम अध्याय

तालविवेचन

नवम अध्याय

नन्दिकेश्वर की कृतियों में रसतत्त्व

दशम अध्याय

आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाटच-साहित्य

भारतीय-[illegible] विकास और राजनैतिक इतिहास

प्रथम अध्याय

नन्दिकेश्वर का इतिवृत्त एवं व्यक्तित्व

नन्दिकेश्वर :

संस्कृत नाटचशास्त्र के इतिहास में आचार्य नन्दिकेश्वर का विशिष्ट स्थान है। नन्दिकेश्वर बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे जिन्होंने नाटचशास्त्र, संगीतशास्त्र, शैवदर्शन, मीमांसा, कामशास्त्र एवं रसशास्त्र आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। अभिनयदर्पण, भरतार्णव, नन्दिकेश्वरकाशिका एवं अन्य नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर का जो इतिवृत्त प्राप्त होता है तदनुसार उनका व्यक्तित्व कुछ पौराणिक-सा लगता है। वहाँ वे ब्रह्मा, शिव, पार्वती, इन्द्र, नारद आदि देवताओं के समकालीन कहे गये हैं और वहाँ उन्हें शिव का पार्षद कहा गया है। नाटचकला एवं संगीतकला में तो वे पारंगत ही थे, साथ ही अन्य अनेक शास्त्रों के भी ज्ञाता थे। नाटचशास्त्र में उन्हें भरत का शिक्षक बताया गया है और कामसूत्र में कामशास्त्र का प्रवक्ता कहा गया है। काव्यमीमांसा में उन्हें रसशास्त्र का आधिकारिक विद्वान् के रूप में स्मृत किया गया है। संस्कृत वाङ्मय में नन्दिकेश्वर के निम्नलिखित नाम उपलब्ध हैं—

(१) नन्दिकेश्वर (२) नन्दिकेशान
(३) नन्दिकेश (४) नन्दीश्वर
(५) नन्दीश (६) नन्दिन्
(७) नन्दी (८) शैलादि
(९) नन्दिभरत (१०) तण्डु

भरतार्णव और नन्दिकेश्वर-काशिका की उपमन्युकृत टीका में नन्दिकेश्वर[१], नन्दिकेशान[२], नन्दिकेश[३], तथा शैलादि[४] नाम प्रयुक्त हुए हैं। पुराणों में नन्दिकेश्वर[५], नन्दीश्वर[६], नन्दीश[७], नन्दी[८] (नन्दिन्), नन्दि[९] एवं शैलादि[१०] नाम प्राप्त होते हैं। नाट्यशास्त्र में नन्दिन्[११] और नन्दीश्वर[१२] दोनों नाम उपलब्ध हैं। अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने नन्दि[१३] और नन्दिकेश्वर[१४] दोनों नाम प्रयुक्त किया है। कामसूत्र में वात्स्यायन ने नन्दी[१५] नाम का उल्लेख किया है। मतंग ने बृहद्देशी में, राजशेखर ने काव्यमीमांसा में, शार्ंगदेव ने संगीत रत्नाकर में और शिङ्गभूपाल ने नन्दिकेश्वर[१६] नाम का प्रयोग किया है। नान्यदेव ने भरतभाष्य में नन्दि[१७] नाम प्रयुक्त किया है। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण की अन्तिम पुष्पिका में तथा भरतार्णव में नन्दिभरत[१८] नाम आया है। अभिनयदर्पण और नाट्यशास्त्र में नन्दिकेश्वर के लिए तण्डु[१९] शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिनवगुप्त तण्डु और नन्दी को एक ही व्यक्ति मानते है।[२०]

---

१. भरतार्णव १३७, ६३८, ७०५, ७६४ तथा नन्दिकेश्वरकाशिका. उपमन्युकृत टीका, पृ० १।

२. भरतार्णव ६६६, ७६५, ८८६, ८:८, ६७४।

३. वही, १६३, ७७१, ६२३ तथा नन्दिकेश्वरकाशिका, उपमन्युकृत टीका, पृ० १।

४. भरतार्णव ६६०, ७७४, ७८६।

५. लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध अध्याय ४२-४४ तथा कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध, अध्याय ४३। हरिवंश पुराण १८२।८६, एवं वाराहपुराण।

६. वही। ७. वहीं। ८. वही। ९. वही। १०. वही।

११. नाट्यशास्त्र, चौखम्भा ३।३ , ३।३१ ,

१२. वही, ३।५६, ३।६०।

१३. अभिनवभारती, गायकवाड़ प्रथम भाग, पृ० १६४, १६८, १६६, चतुर्थ भाग, ४१४, ४२०।

१४. वही, प्रथम भाग, पृ० १६५, चतुर्थ भाग, पृ० १२०, १२२।

१५. कामसूत्र, वात्स्यायन १।१।८।

१६. बृहद्देशी (मतङ्ग) पृ० ३२, काव्यमीमांसा (राजशेखर) १।१, संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) १।१७।

१७. भरतभाष्य (नान्यदेव) १।१७।

१८. (क) नन्दिभरतोक्तसंगीतपुस्तकम् (नाट्यशास्त्र काव्यमाला संस्करण),
(ख) भरतार्णव ७५२।

१९. अभिनयदर्पण ४-५, तथा नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय।

२०. तण्डुमुनिशब्दो नन्दिभरतयोरपरनामनी (अभिनवभारती, पृ० ८८)

नन्दिकेश्वर, नन्दिकेशान, नन्दिकेश, नन्दीश्वर, नन्दीश, नन्दिन्, नन्दीः—

भरतार्णव के अनुसार नन्दिकेशान और नन्दिकेश नाम नन्दिकेश्वर के लिए प्रयुक्त हुए हैं। नन्दिकेश्वरकाशिका में भी नन्दिकेश नाम नन्दिकेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन तीनों नामों में अन्त में ईश्वर, ईशान और ईश पद जुड़े हुए हैं जो एक ही अर्थ (ईश) को प्रकट करते हैं। अतः नन्दिकेश्वर के लिए वहाँ नन्दिकेशान एवं नन्दिकेश नाम का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पुराणों में नन्दीश्वर, नन्दीश, नन्दिन् एवं नन्दी शब्द नन्दिकेश्वर के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। हरिवंशपुराण में नन्दि को ही नन्दिकेश्वर कहा गया है[१]। शब्द-कल्पद्रुम में नन्दि, नन्दीश्वर, नन्दिकेश्वर को एक ही व्यक्ति माना गया है। शब्द-कल्पद्रुम में त्रिकाण्डशेष का सन्दर्भ देते हुए बताया गया है कि नन्दिकेश्वर के अपरनाम नन्दी, शालंकायन और ताण्डवतालिक है और हेमचन्द्र के अनुसार नन्दि-केश्वर के अपरनाम नन्दीश्वर और तण्डु हैं[२]। केशव के कल्पद्रुमकोष में भी नन्दि-केश्वर का दूसरा नाम नन्दिन्, शालंकायन, ताण्डवतालिक, तण्डु एवं केलीलीला बताया है[३]। उपर्युक्त प्रसंगो से ज्ञात होता है कि नन्दि, नन्दी, नन्दीश्वर, नन्दि-केश्वर, नन्दिकेशान, नन्दिकेश, नन्दीश एक ही व्यक्ति थे। नन्दिकेश्वर को ही भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख किया गया है। उन्हें नन्दी-श्वर या नन्दिकेश्वर इसलिए कहा जाता था कि वे नन्दिगणों के ईश (प्रमुख) थे। वह्निपुराण में तीन नन्दी का उल्लेख मिलता है—कनकनन्दी, गिरिनन्दी और सोमनन्दी[४]। इनमें प्रमुख होने के कारण तथा अन्य नन्दी से पार्थक्य दिखाने के लिए उन्हें नन्दीश्वर कहा जाता होगा।

शैलादिः—

पुराणों एवं भरतार्णव में नन्दिकेश्वर का एक नाम शैलादि कहा गया है। पुराणों के अनुसार शैलादि शिलाद ऋषि के पुत्र थे[५]। उनका पैतृक नाम शैलादि था। शिलाद ऋषि के पुत्र होने के कारण उन्हें शैलादि कहा जाता था। शिलाद

---

१. ततो नन्दिं महादेवः प्राह गम्भीरया गिरः।
नन्दिकेश्वर संयाहि .... ।। हरिवंशपुराण १८२।८६।

२. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, ८२४।

३. कल्पद्रुमकोष (गायकवाड़ संस्करण) पृ. ३९२ श्लोक ११७-११८।

४. आद्यः कनकनन्दी च गिरिकाख्यो द्वितीयकः।
सोमनन्दी तृतीयस्तु विज्ञेया नन्दिनस्त्रयः॥
— (वह्निपुराण, गणोपाध्याय) शब्दकल्पद्रुम (२ काण्ड, ८·८२५)

५. कूर्मपुराण (उतरार्द्ध ४३ अ), लिङ्गपुराण (पूर्वार्द्ध, ४२, ४४)

शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होकर शैलादि शब्द बनता है (शिलाद + इञ् (इ)-- शैलादि)[१]। भरतार्णव में शैलादि नाम का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है[२]। इससे ज्ञात होता है कि शिलाद ऋषि के पुत्र शैलादि ही नन्दिकेश्वर थे। शिव के भक्त एवं पार्षद होने के कारण उन्हें नन्दिकेश्वर कहा जाता था और इन्होंने ही भरतार्णव की रचना की है।

नन्दिभरतः—

नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण की अन्तिम अध्याय के अन्त में नन्दि-भरत[३] का नाम आया है। इन्होंने संगीत पर पुस्तक लिखी थी। इसी प्रकार भरतार्णव में नन्दिभरत[४] का उल्लेख है जिन्हें सप्तलास्य का प्रवक्ता कहा गया है। इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि नन्दिकेश्वर नृत्य के आचार्य थे जिन्होंने सप्तलास्य का निरूपण किया था। नृत्य संगीत का महत्त्वपूर्ण अंग है अतः उन्होंने संगीत पर भी कोई ग्रन्थ लिखा होगा। भरतार्णव एवं अभिनयदर्पण में उल्लिखित भरत शब्द जातिपरक प्रतीत होता है जो अभिनय (नाट्य) का कार्य करती थी (विभर्त्ति स्वांगमिति भरतः) उन्हें भरत कहते थे। यदि इस बात पर विश्वास कर लिया जाय तो निश्चित ही यह सिद्ध हो जाता है कि नन्दि भरत थे और उनका नाम 'नन्दिभरत' था तथा वे नाट्य एवं संगीत के आचार्य थे।

तमिल भाषा में 'पंचभरतम्' नामक एक रचना मिलती है जो नारद से सम्बन्धित बताई जाती है। संभवतः नारद ने इस ग्रंथ में संगीत के पांच रूपों पर विचार किया होगा जो नर्तन एवं नाट्य से सम्बद्ध रहा होगा और उनका नाम 'पंचभरतम्' रहा होगा। क्योंकि भरत से सम्बन्धित पांच नाम है-- आदि-भरत, मतङ्गभरत, अर्जुनभरत, हनुमद्भरत और नन्दिभरत। ये सभी नाट्य एवं संगीत के आचार्य थे और नाट्य तथा संगीत पर ग्रन्थों की रचना भी की थी[५]। इनमें नन्दिभरत वही नन्दिभरत होंगे जिन्होंने अभिनय एवं संगीत पर ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त भावप्रकाशन के रचयिता शारदातनय को 'पंचभार-

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, अपत्याधिकार, पृ० २२८-२२९।

२. भरतार्णव ६६०, ७७४, ७८६।

३. समाप्तश्चायं ग्रन्थः, नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्।
—नाट्यशास्त्र, काव्यमाला संस्करण।

४. नन्दिना भरतेनोक्तं सप्तलास्यस्य लक्षणम्।
—भरतार्णव ७५२।

५. भारतीय साहित्य, पृ० ६९ (के० एम० मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय आगरा)।

तीयम्' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता था। संभवतः यह वही ग्रन्थ होगा जिसमें आदिभरत, मातंगभरत, अर्जुनभरत, हनुमद्भरत तथा नन्दिभरत—इन पांचों के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन होगा। क्योंकि शरदातनय के अनुसार ब्रह्मोक्त नाट्यवेद का भरण या विस्तार करने के कारण ब्रह्मा के छः प्रमुख शिष्य 'भरत' नाम से सम्बोधित हुए[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय 'भरत' शब्द का प्रयोग नटन करने वाले वर्ग के लिए किया जाता रहा होगा, यदि इस बात पर विश्वास कर लिया जाय तो 'पंचभारतीयम्' यह वही ग्रन्थ होगा जिसका सम्पादन पंच भरतों ने किया होगा और ये 'पंचभरत' वही होंगे जिन्होंने ब्रह्मा के आदेश से ब्रह्मोक्त नाट्यवेद का भरण किया था और इसी कारण वे 'भरत' कहलाये। उक्त ग्रन्थ में नाट्य एवं संगीत सम्बन्धी विषय रहे होंगे जिनमें से आदिभरत और नन्दिभरत के सिद्धान्तों को लेकर दो संहिताएं तैयार की गई होंगी[2]। जिनमें से एक में बारह हजार श्लोक थे जिसका अभिधान "द्वादशसाहस्री संहिता" था और वह आदिभरत या वृद्धभरत की रचना कहलायी। डॉ० डें० के अनुसार 'भरतों से पृथक् करने के लिए नाट्यशास्त्र का नाम 'आदिभरत' किया गया। आन्ध्रलिपि में उपलब्ध 'आदिभरत' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध नाट्यशास्त्र का प्रतिरूप है[3]। दूसरे में छः हजार श्लोक थे, जिसका अभिधान 'षट्साहस्री संहिता' था और जिसके रचयिता 'नन्दिभरत' थे। पहले यह नाट्यशास्त्र नन्दिभरत के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा[4] और बाद में 'भरतनाट्यशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गया होगा।

किन्तु अभिनव उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि नन्दि-भरत एक व्यक्ति नहीं हैं बल्कि नन्दि और भरत दो व्यक्ति हैं[5]। दोनों का ही नाट्यशास्त्र और संगीतशास्त्र के निर्माण में योगदान रहा है। यह नाट्यशास्त्र नन्दि और भरत दोनों की संयुक्त रचना रही होगी तभी तो काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय के अन्त में 'समाप्तश्चायं ग्रन्थः, नन्दिभरतसङ्गीत-पुस्तकम्' यह लेख मिलता है। किन्तु अधिकांश संस्करणों में यह उल्लेख नहीं पाया जाता अतः इनकी प्रामाणिकता पर सन्देह है। दूसरे उक्त लेख भरत का नन्दि का

---

१. भावप्रकाशन, पृ० २८६-२८८।

२. वही, ?, ३४-३५।

३. भाण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका १२, पृ० १३७-१७६ (मनकड़ का लेख)।

४. मैसूर तथा कुर्ग की हस्तलिखित सूची में नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत' नामक कृति का उल्लेख है। —भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० ४६३ (टिप्पणी)।

५. तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी।—(अभिनव-भारती, गायकवाड़, पृ० ८८)।

शिष्य होने का संकेतित करता प्रतीत होता है क्योंकि अभिनव के अनुसार नन्दि भरतवंशी नहीं थे, वे शिव के प्रमुख गण थे जिन्होंने भरत को रस की शिक्षा दी थी[१]। कन्हैयालाल पोद्दार नन्दिभरत शब्द का अर्थ नन्दिशिष्य भरत ऐसा अनुमानित करते हैं[२]। उनके अनुसार अन्य भरतों से पृथक् करने हेतु नन्दिभरत शब्द का प्रयोग किया होगा। इस प्रकार अभिनव के अनुसार नन्दि का भरत होना सिद्ध नहीं होता। वे शिव के गण भरत के नृत्तोपदेष्टा नन्दी थे। ये नन्दी नन्दिकेश्वर ही थे। राजशेखर ने भी नन्दिकेश्वर और भरत को अलग-अलग माना है[३]।

तण्डु और नन्दी :

तण्डु को समझना बहुत कठिन है कि यह तण्डु कौन था? उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व एक समस्या है। नाटचशास्त्र में तण्डु का उल्लेख दो रूपों में हुआ है। एक तो भरत के शतपुत्रों में उनकी गणना है दूसरे अंगहारों के व्याख्याता एवं भरत के ताण्डव नृत्य के शिक्षक के रूप में उनका उल्लेख है[४]। इस परम्परा के अनुसार तण्डु एक नाटचाचार्य तथा करण अंगहार रेचक आदि नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता हैं। अभिनयदर्पण एवं नाटचशास्त्र के अनुसार शिव के ताण्डव नृत्य की शिक्षा तण्डु को दी थी और तण्डु ने भरत को शिक्षा प्रदान की[५]। नाटचशास्त्र में 'तण्डिन्' एवं 'ताण्डव' नाम भी मिलता है[६]। ताण्डव एक ऋषि थे, जिन्होंने नृत्यशास्त्र की रचना की थी। ताण्डव के द्वारा रचित शास्त्र 'ताण्डि' है जो नृत्यशास्त्र का ग्रन्थ है[७]। अभिनव का कहना है कि तण्डु शब्द ही ठीक है क्योंकि तण्डु से ही ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति हुई है। अतः ताण्डव शब्द के आधार पर 'तण्डु' नाम ही उचित प्रतीत होता है[८]। यह तण्डु

१. नाट्यशास्त्र, ४।१७-१८।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पोद्दार), पृ० २६।

३. "रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, रूपकनिरूपणीयं भरतः"—यह कथन यह सिद्ध करता है कि नन्दिकेश्वर ने रसशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा था और भरत ने रूपक पर। ये दोनों अलग-अलग आचार्य थे —(काव्यमीमांसा, १।१)

४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १।२६ तथा ४।१७-१८।

५. वही, ४।२७५-२७६ तथा अभिनवदर्पण, २।

६. नाट्यशास्त्र (चौखम्बा) ४।२५७- १।२६।

७. ताण्ड्येन मुनिना प्रोक्तं..........ताण्डि, नृत्यशास्त्रम्।

(द नम्बर आफ् रसस् राघवन्, पृ० ७)

८. "सर्वत्र पाठे तण्डु शब्द एव युक्तः, ताण्डवशब्दव्युत्पत्तिवशात्।"

—अभिनवभारती (गायकवाड़) पृ० ८८।

शिव का गण नन्दि ही था। हरविजय के कर्ता रत्नाकर के अनुसार तण्डु नन्दिकेश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि तण्डु और नन्दीश्वर दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं[1]। तण्डु ताण्डवनृत्य के प्रयोक्ता मुनि हैं और नन्दी मृदंग-वादक शिवगण हैं[2]। नाटयशास्त्र से भी दोनों के एक व्यक्ति होने का समर्थन प्राप्त नहीं होता। नाटयशास्त्र में नन्दी या नन्दीश्वर का उल्लेख गणेश्वर के रूप में हुआ है तथा चतुर्थ अध्याय में पिण्डीबन्धों के प्रसंग में उनका उल्लेख आया है किन्तु ताण्डव नृत्य के प्रयोक्ता के रूप में नहीं। ताण्डवनृत्य के प्रयोक्ता तथा प्रवक्ता तो तण्डु थे। किन्तु अभिनवगुप्त तण्डु और नन्दि को एक ही व्यक्ति मानते हैं[3]। नाटय-शास्त्र के अनुसार भगवान् शंकर ने तण्डु के द्वारा भरत को करणों एवं रेचकों से युक्त अंगहारों की शिक्षा दिलायी थी। इन रेचकों एवं अंगहारों से युक्त नृत्य करते हुए शंकर को देखकर पार्वती ने सुकुमार प्रयोगों से युक्त नृत्य किया था जिसमें विविध वाद्यों की संगत की गई थी। इस प्रकार रेचित एवं अंगहारों के साथ पिण्डीबन्धों का निर्माण कर शिव ने तण्डु को दीक्षित किया। रामकृष्ण कवि ने भी तण्डु और नन्दिकेश्वर को एक ही माना है[4]। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति हैं जो शिव के द्वारपाल थे। उनकी गणना शिव के प्रमुख गणों में की जाती है और वे ही ताण्डवनृत्य के प्रयोक्ता थे[5]। हेमचन्द्र ने भी तण्डु और नन्दी को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है[6]। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि तण्डु का ही अपरनाम नन्दि या नन्दिकेश्वर था। कल्पद्रुमकोष में भी नन्दिकेश्वर का दूसरा नाम तण्डु बताया गया है[7]। यदि तण्डु नन्दिकेश्वर का ही अपरनाम है तो निश्चय ही ये शिव के अनुचर एवं ताण्डव के प्रयोक्ता रहे हैं।

इस प्रकार पुराण, नाटयशास्त्र, संगीतशास्त्र एवं सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों के विवरणों के विश्लेषण से आचार्य नन्दिकेश्वर के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त होती है तदनुसार नन्दिकेश्वर शिलाद मुनि के पुत्र, शिव के अनन्य भक्त, अन्तेवासी एवं उनके प्रमुख गण थे। उनका ही अपरनाम नन्दी भी था। उन्होंने ही शिव

---

१. हरविजय २।२०।

२. अभिनवगुप्त ने नन्दि को मृदंग का वादक बताया है (नन्दिकेश्वरनियतस्थानं मृदंगः) अभिनवभारती (प्रथम भाग) पृ० १६५।

३. तण्डुमुनिशब्दो नन्दिभरतयोरपरनामनी। अभिनवभारती (प्रथम भाग), पृ० ८८।

४. द क्वार्टरली जर्नल् आफ् द आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी, भाग ३, पृ० २५-२६।

५. शब्दकल्पद्रुम, २ य काण्ड, पृ० ८२४।

६. वही।

७. कल्पद्रुमकोष (गायकवाड़) पृ० ३६२।

की आज्ञा से भरत को दीक्षित किया था। नन्दिकेश्वर भले ही शिव के प्रमुख गण के रूप में प्रसिद्ध रहे हों, किन्तु नाटचशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के प्रणयन एवं प्रयोग में उनका विशेष योगदान रहा है। जैसा कि नाटचशास्त्र से भी यह बात प्रमाणित होती है कि उनके पहले भी नाटचशास्त्र एवं नाटचाचार्यों की अक्षुण्ण परम्परा विद्यमान थी। उस परम्परा में नन्दिकेश्वर का भी स्थान रहा होगा, क्योंकि उन्होंने नाटच से सम्बद्ध अभिनयों एवं नृत्यों का प्रतिपादन किया है।

नन्दिकेश्वर का जीवनवृत

नन्दिकेश्वर के जीवन के सम्बन्ध में अभिनयदर्पण, भरतार्णव, नाट्यशास्त्र, नन्दिकेश्वरकाशिका तथा पुराणों में कुछ बिखरी हुई सामग्री प्राप्त होती है। डा० महमोहन घोष का मत है कि नन्दिकेश्वर दाक्षिणात्य थे[१] क्योंकि दक्षिण भारत में नन्दिकेश्वर की देवता के रूप में पूजा होती है। दक्षिण के मन्दिरों में नन्दिकेश्वर की मूर्त्तियां प्राप्त होती हैं। बैल्यूर के शिवमन्दिर में नन्दिकेश्वर की एक कांस्यमूर्त्ति प्राप्त हुई है जिसके चार हाथ है, पीछे के हाथ में परशु और मृग है, पीछे का हाथ अभयमुद्रा में उठा हुआ है और आगे का हाथ अञ्जलि मुद्रा में है। शिर पर जटामुकुट है और चन्द्रमा एवं गंगा से सुशोभित है तथा पद्मासन पर स्थित है।[२] इसके अतिरिक्त अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव की जो पांडुलिपियों प्राप्त हुई है वे सब दक्षिण भारत में और तेलगु भाषा में प्राप्त हुई हैं। इससे प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर दक्षिण भारत के थे, क्योंकि दक्षिण भारत में विशिष्ट देवताओं के नाम पर व्यक्तियों के नाम रखने की प्रथा है। किन्तु अभिनयदर्पण[३] एवं नाट्यशास्त्र में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जाता है कि नन्दिकेश्वर शिव के प्रमुख गण एवं अन्तेवासी थे। शिव का निवास कैलास पर्वत माना जाता है। अतः नन्दिकेश्वर भी कैलास पर्वत पर रहे होंगे। भरतार्णव में कहा गया है कि भगवान् शिव एक समय वसन्तोत्सव के रमणीय अवसर पर कैलास पर्वत के शृङ्ग--शिखर पर गये। तब पार्वती ने शिव से कहा कि हे देवाधिदेव! आकाशचारी के योग को कहिए। तब शिव ने पार्वती से शृङ्गनाट्य का वर्णन किया था।[४] इस प्रकार नाटचशास्त्र, अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव के हिमालय वर्णन तथा शिव एवं पार्वती के ताण्डव एवं लास्य के विवरणों से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर शिव के अन्तेवासी थे और हिमालय के कैलास शिखर पर निवास करते थे।

---

१. अभिनयदर्पण (घोष) भूमिका, पृ० ६७।

२. अभिनयदर्पण २-६।

३. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), चतुर्थ अध्याय।

४. भरतार्णव, १२।६६१।६५५।

नन्दिकेश्वर के नाम से 'नन्दिकेश्वरकाशिका' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त है जिसमें माहेश्वर सूत्रों की शैवदर्शन के अनुसार व्याख्या की गई है[1]। शैवदर्शन का विशेष प्रचार कश्मीर में रहा है। इसके अतिरिक्त काश्मीर में नाट्यशास्त्र का परम्परागत अध्ययन भी होता रहा है। इस आधार पर कुछ विद्वान उन्हें काश्मीर का निवासी बताते हैं। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार नन्दिकेश्वर तन्त्र, मीमांसा एवं शैवदर्शन के आचार्य थे तथा शिव के अवतार माने जाते थे और वे कैलास पर्वत पर रहते थे। वहीं पर इन्द्र के साथ इनका वार्तालाप हुआ था[2]। कहा जाता है कि एक बार शुक्राचार्य से विद्या प्राप्त करने वाले असुरों ने देवताओं को एक नृत्यप्रतियोगिता में भाग लेने की चुनौती दी थी। तब इन्द्र ने नन्दिकेश्वर के पास आकर प्रार्थना की कि वे इन्हें अभिनय-कला की शिक्षा दें जिससे वे असुरों पर विजय प्राप्त कर सकें। तब नन्दिकेश्वर ने चार हजार श्लोकों वाले भरतार्णव की रचना कर इन्द्र को उसे अध्ययन करने की सलाह दी थी[3]। नागेशभट्ट ने अपने शब्देन्दुशेखर नामक ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर को शिवसूत्रों के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है[4]। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि नन्दिकेश्वर का सम्बन्ध शिव से था और उन्होंने शिव से शिक्षा प्राप्त की थी तथा शिव के पास कैलाश पर्वत पर रहते थे।

पुराणों का साक्ष्यः—

पुराणों में नन्दिकेश्वर को शिलाद ऋषि का पुत्र एवं शिव का पार्षद बताया गया है। कूर्मपुराण के अनुसार नन्दिकेश्वर शालंकायन ऋषि के पौत्र एवं शिलाद ऋषि के पुत्र थे। उनका पैतृक नाम शैलादि था। शिलाद ऋषि के कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने सन्तान के लिए शिव की आराधना की। तब भगवान् शिव प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा। तब शिलाद ऋषि ने शिव के समान पुत्र वर रूप में माँगा। शिव 'तथास्तु' कहकर अन्तर्ध्यान हो गये। तब यज्ञ के लिए भूमि जोतते समय शिलाद को एक रूपलावण्ययुक्त सुन्दर बालक की प्राप्ति हुई। शिलाद उस बालक को घर लाये। वह बालक अल्पायु था। अल्पायु दूर करने के लिए उन्होंने स्वयं तपस्या की। तब उनके तप से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उसे पुत्र के रूप में स्वीकार कर नन्दीश्वर नाम रखा और अपने गणों से उसे प्रमुख स्थान दिया[5]। नन्दिकेश्वर की उत्पत्ति

---

१. नन्दिकेश्वरकाशिका (चौखम्बा)।
२. मिरर आफ जेश्चर, पृ० ३१।
३. भारतीय साहित्य— (संगीत परम्परा और भरतार्णव) पृ० ६८।
४. लघुशब्देन्दुशेखर (नागेश भट्ट) पृ० ७।
५. कूर्मपुराण (उत्तरार्द्ध) अध्याय ४३।

की इसी प्रकार की कथा लिङ्गपुराण में भी मिलती है। लिङ्गपुराण के अनुसार शिलाद ऋषि अन्धे थे। उन्होंने पुत्रप्राप्ति के लिए तपस्या की थी[१] और शिव के प्रसाद से उन्हें पुत्रप्राप्ति हुई थी[२]। वाराहपुराण और हरिवंशपुराण में नन्दिकेश्वर का शिव के पार्षद के रूप में उल्लेख है। महाभारत के अनुसार नन्दि शिव के सामने शूल लिए हुए स्थित रहते थे[३]। वाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण कुबेर को जीतकर लौट रहा था। शरावण नामक स्थान पर उसका विमान रुक गया। उसे देखकर रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ और सोचने लगा कि हमारा विमान आगे क्यों नहीं बढ़ रहा है ? वहाँ उसे बन्दर के समान मुख वाला, अत्यन्त शक्तिशाली, नाटे कद का भयानक आकारवाला एक व्यक्ति मिला जो शिव का अनुचर था। उसने बताया की इस पर्वत पर महादेव उमा के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। उन्होंने देवताओं तक को भी रोक दिया है कि वे इस पर्वत को पार न करें। इस पर रावण बहुत क्रोधित हुआ और बोला कि वह महादेव कौन है ? और वानर के समान मुख वाले नन्दि को देखकर भी हँसा। तब नन्दिश्वर ने श्राप दे दिया कि तुम वानररूप मुझे देखकर हँसे थे, अतः वानरों द्वारा ही तुम्हारा विनाश होगा। उसके बाद रावण ने सोचा की इस पर्वत को ही रास्ते से क्यों न हटा दें। उसने हाथ लगाकर पर्वत को उठाना चाहा कि पर्वत हिलने लगा। तब सभी डर गये और पार्वती भी डरकर शिव (महादेव) से लिपट गई। इस पर शिव रावण पर प्रसन्न हो गये और उसे वरदान दिया[४]। उपर्युक्त पौराणिक सामाग्री के आधार पर इतना संकेत मिलता है कि नन्दिकेश्वर शिव के पार्षदों में अग्र थे और उन्हें ही नन्दि या नन्दीश्वर भी कहा जाता था। इस प्रंसङ्ग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर का सम्बन्ध शिव से था।

नाट्यशास्त्रों का साक्ष्यः—

अभिनयदर्पण के अनुसार जगत्स्रष्टा भगवान् प्रजापति ने नाट्यवेद की रचना कर उसे अभिनय के लिए भरत को दिया था। भरत मुनि ने गन्धर्वों एवं अप्सराओं के साथ उस नाट्यवेद को नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों रूपों में शिव के समक्ष प्रस्तुत किया। उस अभिनय में उद्धत प्रयोगों को देखकर भगवान् शंकर ने अपने मुख्य गण तण्डु के द्वारा भरत को नाट्य-शिक्षा दिलाई और भगवती पार्वती ने स्नेहवश होकर लास्य से उनको

---

१. लिङ्गपुराण, अध्याय ३७।

२. लिङ्गपुराण ४२-४४।

३. पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम्।
मूलं विष्टम्भ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम्॥ (महाभारत १२।१४।२७५)।

४. बाल्मीकिरामायण (उत्तरकाण्ड) १६।१-६।

दीक्षित किया। तण्डु के द्वारा भरत को उपदिष्ट वह नाट्य ताण्डव कहलाया[1]। ये तण्डु ही नन्दिकेश्वर थे। ये भरत के शिक्षक एवं ताण्डव नृत्य के प्रयोक्ता एवं प्रवक्ता थे। भरतार्णव में नन्दिकेश्वर का शिव के गण, नाट्यप्रयोक्ता, नाट्य-शास्त्रप्रणेता, नृत्याचार्य एवं संगीतशास्त्रकार के रूप में उल्लेख है। भरतार्णव के अनुसार नन्दिकेश्वर ने सप्तलास्य का निरूपण किया था[2]।

नाट्यशास्त्र में तण्डु का भरत के शिक्षक के रूप में उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र में कहा है कि भरत मुनि ने ब्रह्मा के आदेश से 'त्रिपुरदाह' नामक डिम भगवान् शिव के सामने प्रस्तुत किया था। इस अभिनय से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ने कहा कि मैंने अनेक करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का सृजन किया है उसकी योजना आप पूर्वरङ्ग में करें। तब भगवान् शिव ने अपने गणों में श्रेष्ठ तण्डु को बुलाकर कहा कि नानाविध करणों एवं रेचकों से युक्त अङ्गहारों का विधान भरत को बतला दीजिए। तब तण्डु ने भरत को अङ्गहारों की शिक्षा दी थी। तण्डु के द्वारा उद्भावित होने के कारण वह नृत्य 'ताण्डव-नृत्य' के नाम से प्रथित हुआ[3]। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के आधार पर कहा जाता है कि नाट्य के प्रथम आचार्य ब्रह्मा हैं, उन्होंने कला प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम भरत को चुना और नृत्य के आचार्य शिव हैं उन्होंने नृत्य का उपदेश तण्डु (नन्दि) को दिया और तण्डु ने नृत्य को नाट्य के साथ जोड़ दिया। नाट्यशास्त्र में इसीलिए ब्रह्मा और शिव इन दोनों की एक साथ वन्दना की गई है:—

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ[4] इससे स्पष्ट है कि नाट्य के देवता ब्रह्मा और नृत्य के देवता शिव हैं और तण्डु दोनों के बीच की कड़ी है। अभिनव-गुप्त ने भी नाट्य का प्रवर्त्तक ब्रह्मा और नाट्य के उपकारक नृत्य का प्रवर्त्तक शिव को स्वीकार किया है। इस प्रकार ब्रह्मा की देन नाट्य और शिव की देन नृत्य है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में नन्दी तथा नन्दीश्वर का महागणेश्वर के रूप में उल्लेख है[5] तथा चतुर्थ अध्याय में पिण्डीबन्ध नृत्यों के लक्षण विधायक के रूप में उल्लेख है[6]।

अभिनवगुप्त की मान्यता—अभिनवगुप्त तण्डु और नन्दि को एक ही व्यक्ति मानते हैं। वह शिव का प्रमुख गण था। शिव ने रेचकों, अङ्गहारों एवं पिण्डीबन्धों की सर्जना कर उसे सिखाया था। तब तण्डु ने गीत, वाद्य आदि से संयुक्त जो नृत्य किया वह ताण्डव नृत्य कहलाया। दक्ष-यज्ञ-विध्वंस के अनन्तर सन्ध्या के समय जब शिव ने ताल लय एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य और पार्वती ने

---

१. अभिनयदर्पण, २-५।
२. भरतार्णव, १३।७५२।
३. नाट्यशास्त्र ४।२।६१,
४. वही।
५. वही ३।३० तथा ३।९६।
६. वही ४।२५।

सुकुमार नृत्य किया था। उस पिण्डीबन्ध नृत्य में नन्दिकेश्वर ने मृदङ्ग से सङ्गत की थी। तब नन्दी तथा वीरभद्र प्रमुख गणों ने पिण्डीबन्धों को देखकर उनके नाम रख दिये। उनमें नन्दी के पिण्डीबन्ध का नाम 'पट्टसी' था[१]। इसके अतिरिक्त अभिनव ने नन्दिकेश्वर के मत से रेचित नाम अङ्गहार का भी उल्लेख किया है[२]। कोहल के अनुसार एक समय सन्ध्या को नृत्य करते समय भगवान् शङ्कर ने तण्डु से कहा था कि हे वत्स! इस ताण्डव नृत्य को नाट्योक्त अभिनय से संयोजित कीजिये[३]। उपर्युक्त प्रसंगों से यही ज्ञात होता है कि तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति थे जिन्हें शिव ने रेचित अङ्गहारों की शिक्षा दी थी और उन्होंने उसका प्रयोग नाट्याभिनय में किया। उनके द्वारा प्रयुक्त वह नृत्य ताण्डव नाम से प्रथित हुआ। नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय के 'पुनश्चित्र' यहाँ से लेकर अध्याय के अन्तिम भाग तक ध्रुवानिरूपण नाट्यशास्त्र के अनेक संस्करणों में प्राप्त नहीं होता। अतएव अभिनवगुप्त ने इस पर टीका नहीं लिखी है, ऐसा विद्वानों का कथन है। किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रथम सम्पादक ने इस भाग की कोई पारिभाषिक पद टीका लिखी है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि यह रचना नन्दिकेश्वर की है क्योंकि नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्तिधर ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार चित्रपूर्वरङ्गविधि का निरूपण किया है[४]। यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि नन्दिकेश्वर का पूर्वरङ्ग के विधान में योगदान रहा है और ये नन्दिकेश्वर वही हो सकते हैं जिन्हें शिव ने रेचकों एवं करणों से युक्त अङ्गहारों की शिक्षा देकर उसे पूर्वरङ्गविधि में संयोजित करने को कहा था।

शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्ता भगवान् शङ्कर हैं। भगवान् शङ्कर ने नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को दी थी और शङ्कर के आदेश से नन्दिकेश्वर ने उस नाट्यवेद को ब्रह्मा को सिखाया और ब्रह्मा ने भरत

---

१. अभिनवभारती भाग १, पृ० १६४, १६५, १६८, १७०।

२. तथा च नन्दिमते उक्तम्—

रेचिताख्यो अङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तां नियोजयेत्॥
(अभिनवभारती गायकवाड़) भाग १, पृ० १६२।

३. अभिनवभारती भाग १, पृ० १८०।

४. यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागामित्वेन दर्शितं तदस्माभिः
साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः।....................
इत्येवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निबद्धः।
अभिनवभारती भाग ४, (गायकवाड़) पृ० १२०, १२२

को सिखाया[1]। इस प्रकार भावप्रकाशन के अनुसार नन्दिकेश्वर शिव के शिष्य एवं ब्रह्मा के गुरु रहे हैं। शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर से ग्रहण की थी। भावप्रकाशन के विवरण से इतना स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र के आचार्य थे।

संगीतशास्त्रों के साक्ष्य—

संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य मतङ्ग ने अपने बृहद्देशी नामक ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर को संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है[2]। उनकी दृष्टि में नन्दिकेश्वर का द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद रागसिद्धि के लिए आवश्यक है। भरतभाष्य में नान्यदेव ने संगीतशास्त्रकार के रूप में नन्दि को स्मरण किया है[3]। उनके अनुसार पुष्करवाद्यों में नन्दि का मत भरतमत के समान प्रमाणभूत है[4]। शाङ्र्गदेव के संगीतरत्नाकर में संगीताचार्य के रूप में नन्दिकेश्वर का स्मरण ही नहीं किया है बल्कि उनके मतों का विवेचन भी किया है[5]। कई स्थलों पर दोनों के मतों में समानता भी पाई जाती है। संगीतरत्नाकर के टीकाकार शिंगभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में नन्दिकेश्वर के मत की चर्चा की है[6]। उनके अनुसार नन्दिकेश्वर की कृति का नाम "नन्दिकेश्वरसंहिता" है। किन्तु वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त संगीतशास्त्रों के उल्लेख से स्पष्ट है है कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र के प्रणेता एवं संगीतशास्त्र के आचार्य थे।

नन्दिकेश्वरकाशिका—

नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार भगवान् शङ्कर ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि सिद्धों के उद्धार की कामना से नृत्य के अवसान में चौदह बार डमरु को बजाया था। उसी से चौदह सूत्र निकले। नन्दिकेश्वर-काशिका के व्याख्याकार उपमन्यु के अनुसार सकललोकनायक परमशिव ने सनकादि सिद्धों को डमरु से निःसृत शब्द के बहाने चौदह सूत्रों के रूप में तत्त्व का उपदेश दिया था। तब सभी मुनियों ने उन चौदह सूत्रों के तत्त्व को जानने के उद्देश्य से नन्दिकेश्वर से प्रश्न किया, क्योंकि शिवसूत्रों के रहस्य को नन्दिकेश्वर ही जानते थे। तदनन्तर नन्दिकेश्वर ने छब्बीस कारिकाओं में माहेश्वरसूत्रों की

---

१. भावप्रकाशन (गायकवाड़), पृ० २८५।

२. बृहद्देशी पृ० ३२। ३. भरतभाष्य नान्यदेव पृ० २०२।

४. एवं स्याद् वाद्यभण्डाजांसिद्धिः शास्त्रनिदर्शनात्।
नन्द्यादीनां मते तु तदाह भरतो यथा॥ (भरतभाष्य पृ० २०४)

५. संगीतरत्नाकर १।१६-१७।

६. रसार्णवसुधाकर (शिंगभूपाल) (भारतीय साहित्य, पृ० ६८)

व्याख्या की[1]। नागेशभट्ट ने भी अपने ग्रन्थ शब्देन्दुशेखर में नन्दिकेश्वर का शिवसूत्रों के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है[2]। इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने शिवसूत्रों की दार्शनिक दृष्टि से भी व्याख्या की थी।

कामसूत्र—

वात्स्यायन ने कामसूत्र में परम्परागत ज्ञान की एक ऐसी धारा का उल्लेख किया है कि ब्रह्मा ने मानव-जीवन को नियमित बनाने तथा जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने के लिए एक संविधान तैयार किया था जो एक लाख अध्यायों का था जिसमें मानव-जीवन के हर क्षेत्र का निरूपण एवं संयमन था। उस विशाल ग्रन्थार्णव को मथकर मनु ने मानव धर्मशास्त्र का एक पृथक् संस्करण प्रस्तुत किया और आचार्य वृहस्पति ने अर्थशास्त्र तैयार किया। किन्तु देवाधिदेव महादेव के अनुचर नन्दी ने कामशास्त्रविषयक भाग को पृथक् कर एक सहस्र अध्यायों का कामशास्त्र सम्पादित किया। उसी संस्करण से श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार किया। तदनन्तर बभ्रुपुत्र पाञ्चाल्य ने श्वेतकेतु के संस्करण को और संक्षिप्त करके एक सौ पचास अध्यायों में एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया जिसमें सात अधिकरण थे। इन सात अधिकरणों पर ही परवर्त्ती आचार्यों ने अलग-अलग रचनाएँ की। जैसे आचार्य दत्तक ने वैशिक अधिकरण पर, चारायण ने साधारण अधिकरण पर, सुवर्णनाभ ने सांप्रयोगिक अधिकरण पर, घोटकमुख ने कन्यासाम्प्रयुक्त अधिकरण पर, गोर्नदीय ने भार्याधिकारिक अधिकरण पर, गोणिकापुत्र ने पारदारिक अधिकरण पर और कुचुमार ने औपनिषदिक अधिकरण पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु आचार्य वात्स्यायन ने बाभ्रव्य के उस विशाल ग्रन्थ को संक्षिप्त करके थोड़े में ही समस्त विषयों से सम्पन्न वर्तमान कामसूत्र की रचना की[3]। रतिरहस्य और पंचसायक नामक ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर के कामशास्त्र का आचार्य बताया गया है[4]।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने कामशास्त्र का प्रवचन मानवी सृष्टि से पहले किया था। कालान्तर में भगवान् शिव के अनुसार नन्दी ने अपने स्वामी के गृहद्वार पर बैठकर सहस्र अध्यायों का एक स्वतन्त्र कामशास्त्र रचा था। इस प्रकार कामशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक नन्दी हैं। यह नन्दी शिव का प्रमुख गण था

---

१. नन्दिकेश्वरकाशिका, पृ० १।

२. (क) उक्तञ्चैतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृतव्याख्यायाम्।
(ख) तत्त्वं च नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां स्पष्टम्॥
(लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७)

३. कामसूत्र १।१।६-१४।

४. अभिनयदर्पण (घोष) भूमिका, पृ० ६६।

और शिव को सदैव प्रसन्न बनाये रखने की चेष्टा रखता था। इसीलिए उसे नन्दी कहा जाने लगा। यह नन्दी कामशास्त्र की भांति ही नाट्यशास्त्र का भी प्रवर्त्तक था।

काव्यमीमांसा—

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में काव्य-विद्या की उत्पत्ति और परम्परा का विवेचन करते हुए लिखा है कि भगवान् शंकर ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश चौसठ शिष्यों को दिया। उनमें काव्यपुरुष भी एक था। उस काव्यपुरुष ने अठारह दिव्य स्नातकों को शिक्षित किया और उन अठारह शिष्यों ने काव्यविद्या के एक-एक भाग पर अलग-अलग ग्रन्थों की रचना की। उनमें से भरत ने नाट्य विषय पर और नन्दिकेश्वर ने रस विषय पर ग्रन्थ लिखे[1]। राजशेखर के इस विवरण से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने रसशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। प्राचीन आचार्य नाट्य के प्रसंग में ही रस का विवेचन करते थे। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का सम्बन्ध नाट्यशास्त्र से सिद्ध होता है।

आधुनिक विद्वानों की मान्यता—

म० म० रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दिकेश्वर और तण्डु एक ही व्यक्ति थे। नन्दिकेश्वर ने "नन्दिकेश्वरसंहिता" की रचना की थी, जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया। अवशिष्ट अंश संभवतः वर्तमान अभिनयदर्पण है[2]। आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार नन्दिकेश्वर तन्त्र, पूर्वमीमांसा एवं लिंगायत शैवदर्शन के अनुयायी थे। वे शिव के अवतार थे और कैलाश पर्वत पर रहते थे। वहीं उनका इन्द्र से वार्तालाप हुआ था[3]। श्रीकृष्णमाचारी ने नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य बताया है। उन्होंने पुष्करादिवाद्यों के सम्बन्ध में उनके मत का उल्लेख किया है[4]। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने नन्दिकेश्वर के सम्बन्ध में लिखा है कि नन्दिकेश्वर स्वातन्त्र्यवादी शैवदार्शनिक एवं संगीतशास्त्र के आचार्य थे। उन्होंने शंकर के डमरु से उत्पन्न शिवसूत्रों की व्याख्या दो रूपों में की है। एक व्याख्या शैवदर्शन मत के दृष्टिकोण से की

---

१. तत्र··· ····· ····· रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।
(काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय)

२. द क्वार्टरली जर्नल आफ द आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग ३ पृ० २५-२६।

३. मिरर आफ जेश्चर, पृ० ३१।

४. यथोक्तं नन्दीश्वरमते—
षोडशेष्वपि वर्णेषु भेदाः पञ्चदशोदिताः।
ताड़ने ग्रहसन्धानेमोक्षे मुखचतुष्टयम्॥ (अभिनवभारती भाग ४ पृ० ४२०)

गयी है उसका नाम "नन्दिकेश्वरकाशिका" है। नन्दिकेश्वरकाशिका के व्याख्याकार उपमन्यु के अनुसार "नन्दिकेश्वरकाशिका" स्वातन्त्र्यवादी शैवमत प्रतिपादक ग्रन्थ है। नन्दिकेश्वर ने अपने इस ग्रन्थ में शैवस्वातन्त्र्यवाद दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया है। दूसरी व्याख्या संगीतकला की दृष्टि से की गयी है उसका नाम "रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण" है। इस ग्रन्थ में सांगीतिक स्वरों एवं ताल के उद्भव का वर्णन है। उसके अनुसार उनका उद्गम माहेश्वर सूत्रों से हुआ है[१]।

उपर्युक्त विवरणों के अनुशीलन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि नन्दिकेश्वर अनेक विषय के ज्ञाता थे। वे योग, तन्त्र, मीमांसा, शैवदर्शन, कामसूत्र, रसशास्त्र, नाटचशास्त्र एवं संगीत के विद्वान् थे। उन्हें शिव का अवतार भी कहा गया है। वे शिव के प्रमुख गण तथा भरत के शिक्षक थे। उन्होंने भरत को नाटचवेद की शिक्षा दी थी। वे संगीत के भी आचार्य थे। कामशास्त्र नाटचशास्त्र एवं संगीत पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे थे। उनके रसशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का भी संकेत मिलता है। भले ही विद्वानों में मतैक्य न हो किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वे नाटचशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के आचार्य थे।

नाटचशास्त्र प्रणेता एवं संगीतशास्त्रकार—

नाटचपरम्परा में नन्दिकेश्वर का प्रमुख स्थान है। उन्होंने नाटच-परम्परा की महत्त्वपूर्ण विधा अभिनय की उदात्त परम्परा की स्थापना की है और लोक एवं शास्त्र के नये दृष्टिकोण एवं नयी अभिरुचि के द्वारा नाटचाभिनय मानव की चित्तवृत्तियों को आनन्दित एवं संयमित बनाता है। कहा जाता है कि जब मानव लोकचिन्ताओं से घिर जाता है, मन खिन्न हो जाता है तो मन की खिन्नता एवं थकावट को दूर करने के लिए और अपने को प्रसन्न रखने के भाव से रंगमच पर जीवन की विभिन्न प्रक्रियायों का साकार रूप अभिनय देखता है। उस समय वह अभिनेताओं से तादात्म्य स्थापित कर इतना प्रभावित हो जाता है कि उसका चित्त शान्त हो जाता है उसकी चिन्ताएँ दूर हो जाती है, वह आनन्दविभोर हो उठता है। इस प्रकार नाटचाभिनय लोकानुरञ्जन के साथ उपदेशप्रद एवं शान्तिप्रद बन जाता है। इस सदुद्देश्य को दृष्टि में रखकर नन्दिकेश्वर नाटच को चारों वेदों का सारतत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामदेव से गीत और अथर्ववेद से रसों को संग्रह करके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को देने वाला नाटचशास्त्र बनाया हैं। इससे कीर्त्ति, वाक्चातुर्य, सौभाग्य एवं पाण्डित्य की वृद्धि होती है और व्यक्ति में उदारता, स्थिरता, धैर्य एवं विलास उत्पन्न करता है। इससे दुःख, पीड़ा, शोक, नैराश्य और खेद की जलन

---

१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र प्रथम भाग पृ० ५४३।

मिट जाती है। इसके बाद ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो नारद मुनि जैसे विरक्त सन्तों को यह नाट्य कैसे मोहित कर लेता[1]। इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने लोक एवं शास्त्र दोनों दृष्टियों से अभिनय की प्रकल्पना कर नाट्यशास्त्र को एक नवीन दिशा प्रदान की है। इस ललित-कला का प्रयोग दुःख एवं शोक से संतप्त मानव के दुःखों एवं तापों को दग्धकर जीवन में सुख-शान्ति एवं आनन्द की शीतल वर्षा करता है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के द्वारा निर्दिष्ट यह अभिनयकला उनकी अक्षय एवं उज्ज्वल कीर्त्ति को प्रतिभासित करती है।

भारतीय नाट्यपरम्परा में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। संगीत अभिनय का जीवनाधायक तत्त्व है। नाट्य में संगीत का महत्त्व सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। केवल भारतीय विद्वान् ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य विद्वान् भी संगीत के इस महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि गीत एवं वाक्य के भली भाँति प्रयुक्त होने पर नाट्य प्रयोग में विपत्ति नहीं आती[2]। इसी दृष्टि से नन्दिकेश्वर ने भी नाट्य के साथ संगीत पर भी विचार किया है। संगीत का प्रमुख तत्त्व नृत्य है। नृत्य के बिना संगीत अपूर्ण माना जाता है। नृत्य के साथ प्रयुक्त संगीत लोकचित्र को अधिक मनोरञ्जन प्रदान करता है। नन्दिकेश्वर ने भगवान् शंकर से नृत्यकला की शिक्षा ग्रहण कर उसे लोक में प्रसारित किया था। उनके ग्रन्थों के समीकरण से यह ज्ञात होता है कि लोक-जीवन को सुसंस्कृत, परिष्कृत एवं विकसित बनाने के उद्देश्य से ही उन्होंने संगीतशास्त्र का प्रणयन किया था। उनके द्वारा उपदिष्ट नृत्यकला नाट्यकला का पूरक है।

---

१. ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणात् क्रमात्।
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः॥
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मार्थकाममोक्षदम्।
कीर्तिप्रागल्भ्य-सौभाग्य-वैदग्ध्यानां प्रवर्धनम्॥
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य कारणम्॥
दुःखार्त्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेदकारणम्।
अपि ब्रह्मपरानन्दादप्यधिकं मतम्।
जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा॥
(अभिनयदर्पण ७-११)

२. गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति।
(नाट्यशास्त्र २२।४४१)

अभिनयदर्पण, भरतार्णव और नाट्यशास्त्रों में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्री, नाट्यशास्त्रप्रणेता, संगीत एवं नृत्यकला के आचार्य थे। अभिनयकला में तो वे पारगंत थे ही, साथ ही संगीतादि अन्य कलाओं तथा दर्शन एवं तन्त्र के भी ज्ञाता थे। वे लोकहित का ध्यान रखने वाले एक क्रियात्मक पुरुष थे। अभिनय एवं नृत्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में उनकी प्रतिभा अतिविशाल प्रतीत होती है। उन्होंने नाट्यप्रयोग हेतु शिव की आज्ञा से भरत को शिक्षित किया था, उन्होंने ही नृत्य प्रतियोगिता में असुरों की चुनौती को स्वीकार कर भरतार्णव का उपदेश सुमति को दिया था। उन्हें शिव का गण, ताण्डव नृत्य का उपदेष्टा तथा मृदंगवादक भी कहा गया है। इस प्रकार वे नाट्य, नृत्य, संगीत, दर्शन एवं रसशास्त्र के आचार्य के रूप में विख्यात हैं।

नन्दिकेश्वर का समय

संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन आचार्यों, लेखकों तथा कवियों की यह धारणा रही है कि वे अपनी रचनाओं में अथवा अन्यत्र अपने जीवनवृत्त एवं समय के सम्बन्ध में कुछ भी परिचय देने में प्रायः उदासीन रहा करते थे। इसी कारण उनके समय आदि निश्चय करने में लेखकों को बड़ी कठिनाई होती है। आचार्य नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी यही स्थिति रही है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने जन्म समय के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। ऐसी स्थिति में हम आभ्यन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनका स्थितिकाल निर्धारण करने का प्रयास करेंगे।

अन्तःसाक्ष्य—

नन्दिकेश्वर ने अपने ग्रन्थों में विविध विषयों के विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीनकाल के अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया है। नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरत[१], हस्ताभिनय के सम्बन्ध में बृहस्पति[२], नानार्थ-हस्तप्रकरण में पार्वती[३], ताण्डवनृत्य एवं शृङ्गनाट्य के सन्दर्भ में शिव[४], पुष्पाञ्जलिविधि के विसर्जन विधि में सदाशिव[५], सप्तलास्य प्रकरण में याज्ञवल्क्य[६], पुष्पाञ्जलिविधि के प्रकरण में नारद[७], एवं तुम्बुरु[८], अनेक स्थलों पर सुमति[९], तथा नानार्थहस्तप्रकरण में भरतार्थचन्द्रिका[१०], का उल्लेख मिलता है। इन

१. अभिनयदर्पण श्लोक २।
२. भरतार्णव ४।१३७।
३. वही १०।५८४-६३६।
४. वही १४।७८७।
५. वही १५।९६२।
६. वही १३।७०६, ७६२, ७६५।
७. वही १५।६५५ अभिनयदर्पण १।
८. भरतार्णव १५।६५५।
९. वही ६।४२६, ८।४६४, १०।५८४, ६३६, ११।६३७, ६३८, १३।७०५, ७५९, ७६३, १४।७६७, ७८७।
१०. वही १०।६३६।

प्राचीन आचार्यों एवं ग्रन्थों के नामोल्लेख से इतना तो निश्चित है कि ये सब आचार्य नन्दिकेश्वर से पहले हुए हैं या उनके समकालीन रहे हैं। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ नन्दिकेश्वर के प्राचीन होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

नन्दिकेश्वर और भरत—

नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण में एवं भरतार्णव में भरत का नामोल्लेख किया है जिसके आधार पर कहा जाता है कि नन्दिकेश्वर भरत के बाद हुए हैं। मेरे विचार से नामोल्लेख मात्र से यह कल्पना कर लेना कि भरत नन्दिकेश्वर के पूर्ववर्त्ती है, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थकारों के नामोल्लेख की यह प्रथा पुराणकाल से प्रचलित रही है। यही कारण है कि हर एक पुराणों में दूसरे पुराणों एवं उनके प्रवक्ताओं का नामोल्लेख आता है। एक और भी बात है कि भरत ने स्वयं नाटचशास्त्र में वृत्तियों के निरूपण के प्रसंग में भरत का नामोल्लेख किया है[1]। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्र के प्रथम तथा षष्ठ अध्याय में भी "भरताः" शब्द का उल्लेख है[2]। इससे समस्या और उलझ जाती है कि क्या भरत के पहले भी कोई भरत था ? इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों ने ही किसी अन्य भरत का उल्लेख किया है और वे आदि भरत हो सकते हैं। अभिनवगुप्त का कहना है कि वृत्तियों के निरूपण के प्रसंग में जो भरत शब्द आया है वह सामान्य जाति नटमात्र का बोधक है[3]। शारदातनय ने भी अपने भावप्रकाशन में 'भरत' शब्द का अर्थ 'नट' परक ही किया है[4]। दूसरे अभिनयदर्पण के नाटचोत्पत्ति प्रसंग के अतिरिक्त जहाँ भी भरत शब्द आया है सर्वत्र भरत शब्द 'नट' या 'नाटच' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दूसरे नाटचशास्त्र में रंगपूजा तथा पिण्डीबन्धों के निरूपण के प्रसंग में नन्दी और नन्दीश्वर का नाम आया है[5] जिससे स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर भरत के पूर्ववर्त्ती हैं। इसके अतिरिक्त भरत ने नन्दिकेश्वर के बहुत से सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया है केवल उन्हीं को ही स्वीकार किया है जो मानव के सामान्य जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी थे और जो रंगमच की दृष्टि से उपयोगी थे उन्हें भी लिया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर का काल भरत से प्राचीन है। भरत का समय पञ्चम शताब्दी माना जाता है अतः नन्दिकेश्वर का समय इससे पूर्व षष्ठ शताब्दी ईसापूर्व होना चाहिए।

---

१. नाटचशास्त्र २०।२५।   २. वही १।२, ६ तथा ६।१, ४।

३. भरतैरिति नटैः स्वतो वंशकरे नामधेयं येषां (तैः) भरतसन्तानत्वात्तद्धिते भरताः। (अभिनवभारती, पृ० ६१)

४. भावप्रकाशन (शारदातनय) पृ० २८६।   ५. भरतार्णव, ४.१३७।

६. नाटचशास्त्र ३४।७६।

भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग का निरूपण है। बृहस्पति का ग्रन्थ अप्राप्य है। किन्तु नाटचशास्त्र तथा कौटल्य के अर्थशास्त्र[1] वात्स्यायन के कामसूत्र[2] में बृहस्पति का आचार्य के रूप में उल्लेख है। नाटच-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी के आस पास माना जाता है। अतः बृहस्पति का उनके पूर्व होना निश्चित है। यदि यह बृहस्पति अर्थशास्त्र रचयिता से भिन्न नहीं है तो निश्चय नन्दिकेश्वर के समकालिक या उनसे पूर्ववर्त्ती रहा होगा। याज्ञवल्क्य वैदिककालीन ऋषि थे। उन्होंने शुक्लयजुर्वेद का सम्पादन किया था और उपनिषदों में उनका उल्लेख है अतः उनका पूर्व-वर्त्तित्व होना स्वतः सिद्ध है।

नन्दिकेश्वर और सुमति—

भरतार्णव के अध्यायों के अन्त में 'इति नन्दिकेश्वरविरचिते भरतार्णवे सुमतिबोधके' आया है। इसके अतिरिक्त अनेक श्लोकों में 'सुमति' का सम्बोधन के रूप में प्रयोग हुआ है। भरतार्णव की शैली प्रश्नोत्तरात्मक है। सुमति प्रश्न करते हैं और नन्दिकेश्वर उत्तर देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव की रचना 'सुमति' के लिए की थी। इसीलिए उसे 'सुमतिबोधक' भी कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव की रचना कर 'सुमति' को दीक्षित किया था। अब प्रश्न यह उठता है कि यह सुमति था कौन? भागवतपुराण के अनुसार सुमति भरत का पुत्र था[3]। कहते हैं कि ब्रह्मावर्त में प्रियव्रत के वंश में राजा ऋषभदेव हुए थे। भरत उन्हीं के पुत्र थे। भरत ब्रह्मावर्त से वैशाली के हरिक्षेत्र में पुलहाश्रम चले गये थे[4]। भरत के पाँच पुत्र थे—सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु[5]। कहा जाता है कि इक्ष्वाकु के अलम्बुषा नाम की वेश्या से 'विशाल' नामक पुत्र हुआ था। उसने वैशाली नाम की नगरी बसाई थी[6]। उन्हीं का वंशज सोमदत्त था। सोमदत्त के कोई सन्तान नहीं थी। तब भरत ने अपने पुत्र सुमति को उन्हें गोद दे दिया

---

१. अर्थशास्त्र १।२।　　२. कामसूत्र, १।१।७।

३. भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह बाव।
(भागवत ५।१५ १)

४. ………स्वयं सकलसम्पन्निकेतनात् स्वनिकेतनात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज।
(भागवत ५।७।८)

५. सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति।
अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥
(भागवत ५।७।३)

६. वाल्मीकिरामायण ४७।११-१२।

था। सुमति दत्तक पुत्र थे, इसलिए उनका नाम 'दत्तक' भी पड़ गया था। विष्णुपुराण के अनुसार मनुवंशी ऋषभदेव का पुत्र भरत था और भरत का पुत्र सुमति[1]। विष्णुपुराण की एक दूसरी कथा के अनुसार मनुवंशीय तृणविन्दु के अलम्बुषा नामक अप्सरा से 'विशाल' नामक पुत्र हुआ था। उसने विशाला (वैशाली) नामक नगरी बसाई थी। उसी वंश में सोमदत्त हुआ था। सोमदत्त का पुत्र जनमेजय और जनमेजय का पुत्र सुमति था[2]। वाल्मीकिरामायण में इसी प्रकार का वर्णन है किन्तु वहाँ सोमदत्त का पुत्र काकुत्स्थ बताया गया है और काकुत्स्थ का पुत्र सुमति[3]। उपर्युक्त सन्दर्भों की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि 'सुमति' नामक दो व्यक्ति थे। एक ऋषभदेव का पुत्र भरत और भरत का पुत्र सुमति। दूसरा सोमदत्त का पौत्र सुमति। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें मनुवंशी राजा ऋषभदेव का पौत्र सुमति ही वह सुमति होगा जिसने नन्दिकेश्वर से नाटयवेद पढ़ा था। भागवत और विष्णुपुराण के आधार पर यह सुमति भरत का पुत्र था। भरत ब्रह्मावर्त से वैशाली आये थे और वहाँ से दक्षिण कर्णाटक चले गये थे[4]। वहीं पर उन्होंने नाटयशास्त्र की रचना की थी, इसीलिये आज भी कर्णाटक नृत्य 'भरत-नृत्य' के नाम से प्रसिद्ध है। भावप्रकाशन के निम्न कथन से भी इस बात का समर्थन प्राप्त होता है। भावप्रकाशन के अनुसार मनु के प्रार्थना पर ब्रह्मा ने भरतों को पृथ्वी पर नाटयप्रयोग के लिए भेजा था[5]। कहते हैं कि ब्रह्मा ने नाटयप्रयोक्ताओं के स्मरण करते ही एक मुनि पाँच शिष्यों के साथ उपस्थित हुए। ब्रह्मा ने उन्हें नाटयवेद भरण करने के लिए आदेश दिया। नाटयवेद का भरण (धारण) करने के कारण वे भरत कहलाये[6]। इन भरतों ने मनु के आदेश से नाटयसंग्रह तैयार किया था और मनु ने उसे प्रकाशित किया था[7]। संभव है ऋषभदेव के पुत्र भरत ही अपने पाँच पुत्रों के साथ ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हुए हों और ब्रह्मा ने उन्हें नाटयप्रयोग का आदेश दिया हो। इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाटयप्रयोक्ता भरत का सम्बन्ध मनु से था और उसके पाँच शिष्य थे। अतः वह भरत ऋषभदेव का पुत्र भरत ही रहा होगा, क्योंकि उसके पाँच पुत्र थे। उन्हें ही पाँच शिष्यों के रूप में कह दिया गया होगा। ऋषभदेव के पुत्र ही तो कर्णाटक भी गये थे, अतः उनके द्वारा नाटयवेद संगृहीत होने की बात सत्य प्रतीत होती है। ऐतिहासिक साक्ष्य से 'सुमति' इसी

१. विष्णुपुराण २।१।२६-३३। २. वही ४।१।४८-५८।
३. वाल्मीकिरामायण (बालकाण्ड) ४७।१६-१७।
४. दक्षिणकर्णाटकान् देशान् यदृच्छयोपगतः। (भागवत ५।७।८)
५. भरतार्णव, (गायकवाड़), पृ० २८७। ६. वही, पृ० २८५।
७. वही पृ० २८७।

भरत का पुत्र सिद्ध होता है। दूसरे सोमदत्त के पौत्र 'सुमति' का जो उल्लेख है वह वाल्मीकिरामायण तथा विष्णुपुराण दोनों में एक सा मिलता है। वह सुमति नाटचप्रयोक्ता सुमति नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे इन्हें नाटचप्रयोक्ता कहा जा सके। अब एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि नाटचशास्त्र में भरतपुत्रों की सूची में सुमति का उल्लेख नहीं है अतः उक्त बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि भरत ने जो सौ पुत्रों की सूची दी है उसमें उपर्युक्त भरत के पाँच पुत्रों में किसी का नाम नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह भरत आदिभरत रहा होगा, जिसने अपने पाँच पुत्रों के साथ नाटचसंग्रह किया था। उसी की परम्परा में बाद में कोई भरत हुआ होगा जिसने वर्तमान नाटचशास्त्र तैयार किया। दूसरी भरत के सौ पुत्र होने की बात भी विश्वसनीय नहीं है क्योंकि इन पुत्रों की सूची में कुछ नाम तो बहुत प्राचीन हैं जो भरत के बहुत पहले हो चुके हैं, कुछ विभिन्न कालों के मुनि हैं और कुछ कल्पित नाम हैं। यह वर्णन तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार भोजप्रबन्ध में ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक के कालिदास, बाण, भवभूति आदि समस्त कवियों को भोज के दरबार में लाकर बैठा दिया। उसी प्रकार नाटचशास्त्र में प्राचीन, नवीन सभी प्रकार के मुनियों, ऋषियों या आचार्यों को भरतपुत्रों में सम्मिलित कर दिया। कहाँ तो वरतन्तु के शिष्य कौत्स, कहाँ पाणिनि के अनुज पिंगल, कहाँ पुराण एवं वेदान्तसूत्र कर्त्ता वादरायण, कहाँ सांख्याचार्य पञ्चशिख, कहाँ न्यायसूत्रकर्त्ता गौतम और कहाँ शाण्डिल्य एवं माठर। क्या ये सब समकालिक भरतपुत्र थे ? यदि यह कहा जाय ये कौत्स, पिंगल, वादरायण, पंचशिख, गौतम आदि वरतन्तु शिष्य, कौत्स, छन्दःकार पिंगल, पुराणकर्ता वादरायण, सांख्याचार्य पंचशिख, न्यायसूत्रकार गौतम आदि से भिन्न भरत पुत्र थे, तो यह भी कहा जा सकता है कि ये भरत भी प्राचीन नाटचवेद रचयिता भरत से भिन्न थे। दूसरे पादुक, उपानह, भयानक, वीभतन, रौद्र, चाषस्वर, विद्युत् आदि कुछ विचित्र नाम आये हैं। अतः भरत के सौ पुत्रों को कल्पित ही कहा जा सकता है।

'सुमति' के भरतपुत्र होने में ऐतिहासिक साक्ष्य है, उन्हें भरतपुत्र होने से नकारा नहीं जा सकता। भरत ने उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के लिये नन्दि-केश्वर के पास भेजा होगा और नन्दिकेश्वर ने भी उन्हें स्नेहपूर्वक शिक्षा दी होगी। यह सब सम्भव है। ये भरत आदिभरत थे, जो नन्दिकेश्वर के पूर्ववर्त्ती समकालिक थे और उनके पुत्र 'सुमति' का नन्दिकेश्वर से शिक्षा ग्रहण करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अतः इस आधार पर भी नन्दिकेश्वर का भरत के पूर्ववर्तित्व होना सिद्ध होता है।

अभिनयदर्पण में दशावतारों के हस्तसंकेतों का वर्णन करते हुए उनके लक्षण एवं विनियोग दिये गये हैं किन्तु बुद्धावतार को छोड़ दिया गया है[1]। उनके स्थान पर बलराम का नाम जोड़ा गया है। अग्नि, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में बुद्ध का अवतार के रूप में उल्लेख है। इस प्रसंग में कुछ लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि अभिनयदर्पणकार बौद्धविरोधी रहे होंगे, इसलिए उन्होंने बुद्ध की अवतारों में गणना नहीं की होगी; किन्तु समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि उस समय बुद्ध की गणना अवतारों में ही नहीं हो पाई थी। नन्दिकेश्वर का दृष्टिकोण बुद्ध-विरोधी नहीं रहा होगा, क्योंकि यहाँ वे हस्तमुद्राओं का विवेचन कर रहे हैं। यदि बुद्ध या महावीर की अवतारों में गणना होने लगी होती तो वे अवश्य उनकी हस्तमुद्राओं का उल्लेख करते। इससे स्पष्ट है कि अभिनयदर्पण की रचना बुद्धावतार के पहले हो चुकी थी। बुद्ध का अवतार ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी माना जाता है। अतः नन्दिकेश्वर का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी रहा होगा।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'हड्डिडोमौ' और 'वागदी' नामक जातियों का उल्लेख है[२]। इन जातियों के नाम स्मृतियों एवं अन्य पूर्ववर्ती पुराणों में नहीं आये हैं। हाड़ी, डोम और बागदी जातियाँ बंगाल की बहुत प्रसिद्ध जातियाँ हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार म्लेच्छ से कुविन्दकन्या के संयोग से 'जोला' (जुलाहा) जाति की उत्पत्ति बताई गई है[३]। कुविन्द 'ताती' जाति ही है जो बुनाई एवं चुनाई का काम करती थी। अभिनयदर्पण तथा भरतार्णव में इन जातियों का उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पुराणों की रचना के पहले अभिनयदर्पण तथा भरतार्णव की रचना हो चुकी थी।

अभिनयदर्पण में जातीय हस्ताभिनय के संकेतों का वर्णन करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों के नाम गिनाकर "यदष्टादशजातीयानां कर्म" लिखकर चार वर्णों के अतिरिक्त अठारह जातियों के होने का उल्लेख किया है[४]। मनुस्मृति में एक स्थल पर पचास जातियाँ गिनाकर कहा गया है कि इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी जातियाँ होती है[५]। आगे चलकर मनु के द्वारा निर्दिष्ट जातियों की संख्या बासठ हो जाती हैं फिर भी 'इत्यादि' जोड़कर उन्हें असंख्य बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जातियों का इतना

१. अभिनयदर्पण पृ० २४०–२४१ २. ब्रह्मवैवर्तपुराण १०।१०५, ११८।
३. म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोलाजातिर्बभूव ह। (ब्रह्मवैवर्तपुराण १०।१२१)।
४. अभिनयदर्पण, २२६-२३० ५. मनुस्मृति ८।३६, १०।४०।

विस्तार नहीं हुआ था जितना मनुस्मृतिकाल में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना के पूर्व अभिनयदर्पण की रचना हो चुकी थी। इस आधार पर नन्दिकेश्वर का समय मनु के पहले निश्चित होता है।

नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र के साथ-साथ शैवदर्शन एवं तन्त्र का भी विद्वान् था। उसने माहेश्वर सूत्रों पर शैवदर्शन के अनुसार व्याख्या लिखी है। शैवदर्शन का उदय ईसवी सन् के शताब्दियों पूर्व हो चुका था। क्योंकि पतञ्जलि ई० पू० द्वितीय शताब्दी ने महाभाष्य में 'शिवभागवतों' की चर्चा की है। ईसापूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने 'दायोनीसस' की पूजा का जिस प्रकार वर्णन किया है उससे तत्कालीन शिव की पूजा के रिवाज का साक्ष्य मिलता है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के बहुत पहले विद्यमान था।

उपर्युक्त आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर यह मानना पड़ता है कि नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ ईसवी सन् के कई शताब्दियों पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे।

बाह्यसाक्ष्य—

आचार्य नन्दिकेश्वर का नामोल्लेख कर उनका निर्देश करने वाले संगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव है। उन्होंने केवल नन्दिकेश्वर के मत का उल्लेख ही नहीं किया है, वल्कि उन्हें एक संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लिखित किया है[2]। संगीतसुधाकर के रचयिता हरपाल का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है, उन्होंने अपने ग्रन्थ संगीतसुधाकर में नृत्य एवं करण के प्रकरणों में नन्दिकेश्वर के भरतार्णव से उद्धरण लिया है[3]। भावप्रकाशन के रचयिता शारदातनय के अनुसार नन्दिकेश्वर ने भरत को नाट्य की शिक्षा दी थी[4]। काव्यमीमांसा के रचयिता राजशेखर (दशम शताब्दी) ने काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर का रस के अधिष्ठाता के रूप में उल्लेख किया है[5]। नान्यदेव ने भरतभाष्य में नन्दिकेश्वर का सङ्गीतशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख करते हुए उनके मतों का भी उल्लेख किया है[6]। इससे ज्ञात होता है कि ये आचार्य नन्दिकेश्वर से पूर्ण प्रभावित थे। अतः स्पष्ट है कि दशम शताब्दी तक नन्दिकेश्वर की मान्यताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उनके ग्रन्थ प्रतिष्ठित हो चुके थे।

---

१. भारतीय धर्म एवं संस्कृति पृ० ७२।
२. संगीतरत्नाकर १।१६-१७।
३. संगीतसुधाकर (हरपाल) करण एवं नृत्यप्रकरण।
४. भावप्रकाशन (गायकवाड़ , पृ० २८५।
५. काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय।
६. भरतभाष्य (नान्यदेव), पृ१ २०२, २०४।

अभिनवगुप्त एवं कीर्त्तिधर –

नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त तथा नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्त्तिधर ने नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में 'पुनश्चित्र' यहाँ से लेकर अध्याय के अन्त तक का भाग ध्रुवा निरूपण नाट्यशास्त्र के अनेक संस्करणों में उपलब्ध नहीं है। अतएव अभिनवगुप्त महोदय ने उस पर टीका नहीं लिखी है, किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रथम सम्पादक ने इस भाग की कोई पारिभाषिक पद टीका लिखी है। अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्त्तिधर ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार 'चित्रपूर्वरङ्गविधि' का निरूपण किया है।[1] इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नन्दिन् के मत से रेचक अङ्गहार का उल्लेख किया है।[2] पिण्डीबन्ध नृत्य के अवसर पर उन्होंने नन्दिकेश्वर को मृदङ्ग[3] वादक के रूप में उल्लेख किया है। अभिनव ने पुरष्करवाद्य के प्रसंग में भी नन्दिकेश्वर के मत का उल्लेख किया है।[4] अभिनवगुप्त के अनुसार नन्दिकेश्वर नाट्य, नृत्य वाद्य एवं संगीत के आचार्य थे। नाट्यशास्त्र के निर्माण में उनका योगदान रहा है। उन्होंने भरत को नाट्य की शिक्षा दी थी, उन्होंने शिव के नर्तन के समय मृदङ्ग वाद्य के द्वारा संगत की थी, पुष्करवाद्य के वे विशेषज्ञ थे। इस आधार पर वे भरत के पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं।

अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ–

संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य मतङ्ग ने अपने बृहद्देशी ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर का मूर्च्छनाविषयक मत उद्धत किया है। तमिल भाषा के प्रमुख ग्रन्थ 'सिलप्पादि-

---

१. यत्तु कीर्त्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागमित्वेन दर्शिते तदस्याभिः साक्षान्न दृष्टम्। तत्प्रत्ययात्तु, लिख्यते संक्षेपत; ।..... .... इत्येवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निबद्धः।

(अभिनवभारती भाग ४ पृष्ठ १२०, १२२)

२. तथा च नन्दिमत उक्तम्—

रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत्॥

(वही भाग १ पृष्ठ १५६)

३. नन्दिकेश्वरस्य नियतस्थानं मृदङ्गः।

(अभिनवभारती भाग १ पृष्ठ १६५)

४. तथा च नन्दिमते—

न पुष्करविहीनं हि वाद्यवृन्दं विराजते।
तत्रैव हि श्रुते लोकः उन्मुखत्वं प्रपद्यते॥

करण' में मतङ्ग का उल्लेख हुआ है। 'सिलप्पादिकरण' की रचना चतुर्थ शताब्दी के लगभग मानी जाती है[1]। मतङ्ग इससे लगभग एक शताब्दी पूर्व रहे होगें। इससे स्पष्ट है कि मतङ्ग के समय नन्दिकेश्वर अभिनय एवं सङ्गीत के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे[2]। इस आधार पर नन्दिकेश्वर का समय उनसे एक शताब्दी पूर्व अर्थात् द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है।[3] वात्स्यायन ने कामसूत्र में नन्दिकेश्वर का कामसूत्रप्रणेता के रूप में उल्लेख किया है।[4] वात्स्यायन का समय प्रथम शताब्दी ईसवी तथा सूर्यनारायण व्यास के अनुसार ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर का कामसूत्र इससे पूर्व अस्तित्व में आ चुका था और उसे पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। इस आधार पर नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल ईसवी सन् के कई शताब्दी पूर्व निश्चित होता है।

किन्तु पुराणों[5] तथा महाभारत[6] रामायण[7] में नन्दिकेश्वर का उल्लेख होने से नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल की सीमा अधिक प्राचीनता तक पहुँच जाती है। महाभारत का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी और रामायण का समय ईसा पूर्व पंचम शताब्दी के लगभग माना जाता है अतः नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल इसके पूर्व षष्ठ शताब्दी के लगभग होगा।

आधुनिक विद्वानों का मत—

डा० मनमोहन घोष ने नन्दिकेश्वर का समय द्वितीय शताब्दी से पञ्चम शताब्दी के मध्य निर्धारित किया है।[8] डा० परांजपे नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल षष्ठ शताब्दी के कुछ पहले स्वीकार करते हैं।[9] श्री देवदत्तशास्त्री नन्दिकेश्वर

---

१. यथोक्तं नन्दिमते--

षोडशेष्वपि वर्णेषु भेदाः पञ्चदशोदिताः।
ताडने ग्रहसन्धाने मोक्षे मुखचतुष्टये॥

(अभिनवभारती पृष्ठ ४२०)

२. द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये॥

(बृहद्देशी पृ० ३२)

३. अभिनयदर्पण (घोष), भूमिका पृ० ६६ ४. कामसूत्र १११।८।

५. कूर्मपुराण (उत्तरार्द्ध) अध्याय ४३; लिङ्गपुराण, अध्याय ३७, ४२, ४३।

६. महाभारत १२।१४।२७५ ७. वाल्मीकिरामायण (उत्तरकांण) १६, ११, १५

८. अभिनयदर्पण की भूमिका, पृ० ६७-७२।

९. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६७।

का समय द्वितीय और तृतीय शताब्दी के मध्य मानते हैं।[1] रामकृष्ण कवि नन्दिकेश्वर का समय नाट्यशास्त्र की रचना के पहले का स्वीकार करते हैं। डा० कान्तिचन्द्र पांडेय[2] का मत है कि नन्दिकेश्वर स्वातन्त्र्यवादी शैवमतानुयायी आचार्य थे। उन्होंने माहेश्वर के सूत्रों के आधार पर 'नन्दिकेश्वरकाशिका' नामक शैवमत प्रतिपादक ग्रन्थ लिखा है और उन्हीं माहेश्वरसूत्रों के आधार पर संगीतशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी लिखा है। महर्षि पाणिनि ने भी उन्हीं माहेश्वर सूत्रों के आधार पर व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। इस विवरण से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर पाणिनि के समकालीन रहे हैं। क्योंकि दोनों के ग्रन्थ प्रणयन के आधार माहेश्वरसूत्र ही रहे हैं। पाणिनि का समय ईसा पूर्व षष्ठ शताब्दी माना जाता है अतः नन्दिकेश्वर समय भी षष्ठी शताब्दी ही रहा होगा।

उपर्युक्त आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह अनुमान सहज ही लगता है कि नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ ईसा के कई शताब्दियों पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे। जिसमें नाट्य, नृत्य, संगीत आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया था। इतना तो स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर नाट्य, नर्तन, ताल, संगीत, दर्शन एवं कामशास्त्र के आचार्य और शिव का अनुचर था। उसने नर्तन एवं नाटयकला में भरत को दीक्षित किया था[3] और शिव एवं पार्वती के रतिक्रीडा में निमग्न रहने पर उन्हें प्रसन्न करने की दृष्टि से गृहद्वार पर बैठकर कामसूत्र की रचना की थी।[4] वह सदैव शिव के समीप रहता था और शिव को प्रसन्न बनाये रखता था। अतः शिव ने उसे नृत्त की शिक्षा देकर अपने गणों में प्रमुख स्थान दिया था। नन्दिकेश्वरने इन्द्र की प्रार्थना पर चार हजार श्लोकों का भरतार्णव तैयार किया था, जिसकी शिक्षा 'सुमति' नामक शिष्य को दी थी। यह सुमति भरत का पुत्र तथा अभिनय एवं नृत्यकला में निष्णात था। नन्दिकेश्वरकाशिका में सनक, सनन्दन, सनातन, पाणिनि, व्याघ्रपात्, वशिष्ठ आदि ऋषियों के साथ नन्दिकेश्वर का उल्लेख है।[5] जो नन्दिकेश्वर की अतिप्राचीनता का स्पष्ट संकेत करता है।

इन आधारों पर यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र एवं कामसूत्र की रचना के पहले कामशास्त्र, नाट्य, नृत्य, संगीत एवं दर्शन के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तभी तो नाट्यशास्त्रकार तथा कामसूत्र के प्रणेता वात्स्यायन उनसे प्रभावित हुए होगें। क्योंकि नाट्य-

---

१. अभिनयदर्पण, पृ० ५४।
२. स्वतन्त्रकलाशास्त्र पृ० ५४३।
३. नाट्यशास्त्र चतुर्थअध्याय तथा अभिनय दर्पण २-६
४. कामसूत्र १।१।८
५. नन्दिकेश्यरकाशिका पृ० १।

शास्त्रकार ने उनकी बहुत सी मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है और उन्हीं को स्वीकार किया है जो लोक-जीवन एवं रंगमंच की दृष्टि से उपयोगी रही है। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् रामकृष्णकवि[1] तथा मनमोहनघोष[2] ने विस्तीर्ण मनन के पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी निर्धारित किया है अतः नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी के बाद मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार विचार, विमर्श एवं साक्ष्यों के आधार पर आचार्य नन्दिकेश्वर का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है।

●

---

१. भरतकोष (रामकृष्ण कवि) पृ० २।

२. नाट्यशास्त्र (घोष० भूमिका) पृ० ६१।६५।

द्वितीय अध्याय

नाट्य एवं संगीत की परम्परा और उसमें नन्दिकेश्वर का स्थान

नाट्यकला का उद्गम व विकास

नाटचशास्त्र के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी चिन्तकों ने नाटच के उद्गम पर विचार, विश्लेषण एवं चिन्तन किया है। फलतः अनेक सिद्धान्तों व मान्यताओं का प्रवर्त्तन हुआ, अनेक पक्ष प्रस्तुत किये गये और उनकी सम्भावनाओं की परीक्षा की गई. किन्तु अद्यावधि कोई निर्भ्रान्ति सिद्धान्त मान्य नहीं हो सका और न ऐसी सम्भावना ही दृष्टिगोचर होती है कि भविष्य में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित किया जा सकेगा। कारण यह है कि भारतीय मनीषियों में इतिहास को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति कभी नहीं रही है और नाटच की दिशा में तो इस उपेक्षा की अधिकता ही पाई जाती है। शिलालेखों में कुछ न कुछ इतिहास अवश्य सुरक्षित रहा है किन्तु नाटच की उत्पत्ति के विषय में शिलालेख भी मौन है। ऐसी स्थिति में चिन्तन, विवेचन एवं अनुमान प्रमाण पर ही आधारित रहना पड़ता है। इस सन्दर्भ में नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित वेद एवं धर्म-मूलक सिद्धान्तों के साथ साथ तत्सम्बन्धी अन्य मतों एवं वादों की भी समीक्षा कर निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

नाटच का उद्गम—

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रीय विषयों का उद्गम वेदों से माना जाता है और उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ा जाता है। सम्भव है कि दैवी शक्तियों के आशीर्वादों की परिकल्पना अथवा उसकी पवित्रता प्रमाणित करने की दृष्टि से उसका सम्बन्ध देवों से स्थापित किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई और महत्त्व प्रतीत नहीं होता। नाटचशास्त्र में उपलब्ध नाटचोद्गम का इतिहास सम्भवतः विश्व में प्राप्त नाटचकला के उद्गम का सर्वाधिक प्राचीन

विवरण हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेता युग के आरम्भ में जब लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं सुख-दुःखादि से अभिभूत हो गये थे, उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर कहा कि 'हम लोग एक ऐसा क्रीडनीयक (मनोरंजन) चाहते हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हो'। तब ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर और चारों वेदों का स्मरण कर यह संकल्प किया कि 'मै इतिहास सहित एक ऐसे 'नाटच' नामक पंचम वेद की रचना करूंगा, जो धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति कराने वाला हो, यश देने वाला हो उपदेश एवं ज्ञानसंग्रह से युक्त हो, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मों का पथप्रदर्शक हो, समस्त शास्त्रों के अर्थों से युक्त हो तथा सभी शिल्पों को प्रदर्शित करने वाला हो। यह विचार कर ऋग्वेद से पाठच, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्वेद से रसों को ग्रहण कर नाटचवेद की रचना की जो सभी वर्णो के लिए ज्ञेय था।

नाटच-रचना के अनन्तर ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा कि आप इसे देवताओं के द्वारा प्रयुक्त कराइये। तब इन्द्र ने कहा कि भगवन् देवता तो इस कार्य को करने में असमर्थ हैं अतः यह काम ऋषियों को दिया जाय। तब ब्रह्मा ने इन्द्र के अनुरोध पर भरतमुनि को नाटच की शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ प्रयोग करने का आदेश दिया। भरतमुनि ने ब्रह्मा के आदेश से अपने शतपुत्रों को नाटचकला में शिक्षित कर भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों पर आश्रित अभिनय किया। तब ब्रह्मा ने उनसे कैशिकी वृत्ति के भी संयोजन का आदेश दिया। इस पर भरतमुनि ने कहा कि कैशिकी वृत्ति का अभिनय स्त्रीपात्रों के बिना असम्भव है। तब ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि कर उन्हें कैशिकी के अभिनय का भार देकर भरत को सौंप दिया। उसके बाद ब्रह्मा की आज्ञा से भरत ने इन्द्रध्वज महोत्सव के शुभ अवसर पर 'दैत्य-दानव-नाशन' नामक अभिनय किया, जिसमें दानवों की पराजय की कथा निबद्ध थी। इस प्रयोग को देखकर दैत्य-दानव क्रुद्ध होकर अभिनय में विघ्न करने लगे। ब्रह्मा ने उन्हें समझाने की चेष्टा की, किन्तु जब वे शान्त न हुए तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाटचमण्डप की रचना का आदेश दिया और उन्होंने अत्यन्त सुन्दर सर्वलक्षण-सम्पन्न नाटचगृह की रचना की। तदनन्तर नाटचगृह की रक्षा के लिए देवगणों की नियुक्त की गई। ब्रह्मा ने तदुपरान्त दानवों से अनुरोध किया कि वे काम-क्रोधादि को छोड़ दें। तदनन्तर इस नाटचगृह में भरत ने 'अमृतमन्थन' नामक समवकार प्रस्तुत किया। इस अभिनय में ब्रह्मा ने स्वाति और नारद को वाद्य एवं संगीत में नियोजित किया। इस प्रयोग को देख कर देव-दानव सभी हर्षित हुए।

इसके पश्चात् ब्रह्मा ने भरत को नाटच-प्रयोग दिखाने के लिए आदेश दिया। तब भरत ने हिमालय पर्वत के एक रमणीय रजत शृङ्ग पर पूर्वरङ्ग विधानपूर्वक 'अमृतमन्थन' नामक समवकार तथा 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का का अभिनय शिव को दिखाया। शिव इस प्रयोग को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और भरत से कहा कि मैंने विभिन्न करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का आविर्भाव किया है। उसकी योजना आप पूर्वरंग में कीजिये। तदनन्तर शिव के आदेश से तण्डु ने पूर्वरंग की शोभा-वृद्धि के लिए ललित अङ्गहारों का विधान किया। इसी अवसर पर शिव के अनुरोध पर पार्वती ने 'लास्य' सुकुमार नृत्य का भी प्रदर्शन किया।[1] इस प्रकार नाटच में नृत्त, गान एवं भाण्डवाद्य की भी योजना की गई।

नाटचोत्पत्ति की कथा का विस्तार नाटचशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भी हुआ है। इस सन्दर्भ में वहाँ दो कथाएँ वर्णित हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरतपुत्रों को अपने अभिनय-कौशल पर अभिमान हो गया था अतः उन्होंने एक नाटचप्रदर्शन में मुनियों का अपमान कर दिया। इस पर ऋषियों ने उन्हें श्राप दे दिया कि नाटच के अभिनेता शूद्र हो जांय और समाज में उन्हें प्रतिष्ठा न मिले[2]। तब से नाटच अभिनेता समाज में अच्छी तरह से नहीं देखे जाते।

दूसरी कथा के अनुसार एक बार नहुष जब इन्द्र का पद पागये तो स्वर्ग में उन्होंने अप्सराओं से अभिनीत नाटच-प्रयोग को देखकर कहा कि यह नाटच-प्रयोग भूलोक में हमारे घर पर भी होना चाहिये। तब देवताओं ने नहुष को समझाया कि अप्सराएँ मानवलोक में अभिनय नहीं कर सकती और उन्हें सलाह दी कि यह कार्य आप भरत एवं उनके पुत्रों द्वारा लेजाकर करा सकते हैं। तदनन्तर नहुष के अनुरोध पर भरत ने अपने पुत्रों को नाटचप्रयोग के लिये भूतल पर भेजा। तब भरतपुत्र मर्त्यलोक में आकर नहुष के अन्तःपुर में नाटचप्रयोग प्रदर्शित किया। कुछ दिन यहाँ रहकर नाटचकला को भूलोक में प्रसारित किया और शाप के अन्त हो जाने पर स्वर्ग को लौट गये।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटचकला के उद्गम के कुछ दिन पश्चात् उसे गर्हित समझा जाने लगा था और समाज में अभिनेताओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था; क्योंकि गौतमधर्मसूत्र एवं मनुस्मृति में अभिनेताओं के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का विधान बताया गया है।[4]

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) प्रथम अध्याय। २. वही ३६।३८–४०।

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) अध्याय ३७।

४. गौतमधर्मसूत्र १५।८ तथा मनुस्मृति ८।६५,१०२।

अन्य नाटचशास्त्रीय ग्रन्थ—

अन्य नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में नाटचोत्पत्ति का विवरण किञ्चित् परिवर्तन के साथ नाट्यशास्त्र के अनुसार ही प्राप्त होता है। अभिनयदर्पण के अनुसार ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर नाटचशास्त्र का निर्माण कर भरत को अभिनय के लिये दिया। भरत ने गन्धर्व और अप्सराओं के साथ उस नाटचवेद को नाटच, नृत्त और नृत्य इन तीन रूपों में भगवान् शंकर के सामने प्रस्तुत किया। भरत द्वारा प्रयुक्त उस अभिनय में उद्धत प्रयोगों कों देखकर शिव ने अपने प्रमुखगण तण्डु के द्वारा भरत को शिक्षा दिलायी। तण्डु के द्वारा उपदिष्ट वह नाटच 'ताण्डव' कहलाया। बाद में पार्वती ने बाणासुर की कन्या उषा को 'लास्य' नामक नृत्य में दीक्षित किया और उषा ने ब्रजवासिनी गोपियों को 'लास्य' की शिक्षा दी। गोपियों द्वारा वह 'लास्य' सौराष्ट्र की वनिताओं में और सौराष्ट्र की वनिताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की युवतियों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार यह नाटचवेद समस्त भूमण्डल पर प्रतिष्ठित हो गया।[1]

भावप्रकाशन में नाटचोद्गम की कथा नाटचशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार नाटचवेद के आविष्कर्त्ता भगवान् शंकर है। समस्त चराचर जगत् की सृष्टि रचना के पश्चात् खिन्न ब्रह्मा विष्णु के पास जाते हैं। विष्णु उन्हें शंकर के पास भेज देते हैं। तब शंकर स्वरचित नाटचवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को देकर उन्हें आदेश देते हैं कि वे उस नाटचवेद को ब्रह्मा को सिखायें। तब नन्दिकेश्वर उस नाटचवेद का सांगोपांग उपदेश ब्रह्मा को देते हैं। तब ब्रह्मा भरतों को बुलाकर पृथ्वीलोक पर नाटचवेद के प्रयोग एवं विस्तार करने की आज्ञा प्रदान करते हैं[2]। इस प्रकार भावप्रकाशन के अनुसार नाटचवेद का सम्बन्ध किसी एक विशिष्ट भरत से न होकर अनेक भरतों से है और भूलोक पर नाटच को अवतरित करने का श्रेय नाटचशास्त्र के समान नहुष को नहीं, वल्कि मनु को है। मनु के आदेश से ही भरत ने नाटचवेद को भूलोक पर प्रसारित किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब भरत तथा अन्य नाटचशास्त्रीय आचार्य नाटच का उद्गम ब्रह्मा से मानते हैं तो शारदातनय को नाटच का उद्गम शिव से मानने का क्या कारण हो सकता है? तार्किक दृष्टि से विचार करने पर शिव के द्वारा नाटचोद्गम एक शाश्वत सत्य सिद्ध होता है। क्रमशः उद्धत एवं लास्य

---

१. अभिनयदर्पण, ७-८; २. भावप्रकाशन, पृ० २८४-२८५।

का सम्बन्ध शिव एवं पार्वती से रहा है[1]। नृत्य की योजना नाटच के लिए अनुपेक्षणीय है। नाटच, नृत्त और नृत्य के परस्पर श्रृङ्खलित रहते हैं। नाटच का पूर्वरूप शिव-पार्वती का ताण्डव-लास्य ही है। नाटच के उद्गम में शिव के नटराज रूप के उत्तरदायित्व एवं सहयोग की परिकल्पना जितनी समीचीन प्रतीत होती है उतनी लिङ्गरूप की नहीं। यद्यपि शिवलिंग-पूजा की पद्धति भी अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है[2]। अतः शिव का लिङ्गरूप भी नाटचोद्गम में सहयोगी रहा हो, यह असम्भव नहीं है[3]। वैसे शिव का कोई भी रूप हो चाहे वह लिङ्गरूप हो अथवा नटराजरूप हो, हैं तो दोनों शिव के ही रूप। वस्तुतः यदि सम्यग्दृष्टि से देखा जाय तो नाटच एवं नृत्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव से ही है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नाटच एवं नृत्य कला को चतुर्दिक् मुखरित करते हैं तभी तो इस नाटच की व्यापकता और भी आलोकित हो उठती है। अतः वैदिक एव लौकिक भावभूमि के परिप्रेक्ष्य में शिव को नाटचवेद का आविष्कर्त्ता मानना उचित ही प्रतीत होता है।

प्रायः सभी नाटचशास्त्रीय विद्वान् नाटचशास्त्र के सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि आखिर ये ब्रह्मा हैं कौन? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सृष्टि-रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाता है उसी प्रकार नाटचवेद की रचना करने वाले को भी ब्रह्मा कहा जाता रहा होगा, जिसने मूलरूप में नाटच, नृत्त एवं नृत्य की योजना कर नाटचवेद का प्रथम प्रादुर्भाव किया होगा और बाद में अनेक अंगोपांगो के समावेश के साथ उस नाटचवेद का पूरा विकास हो गया तथा उसमें स्थानीय एवं सामाजिक तत्त्व भी सम्मिलित होते गये[4]। सम्भवतः ये ब्रह्मा भरत ही रहे होगें और इसी आधार पर 'ब्रह्म-भरत' मत की कल्पना भी कर ली गई होगी।

वैदिक साहित्य से नाटच का उद्गम मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग रहे हैं। एक तो वे हैं, जो नाटच के उद्गम का मूलस्रोत वेदों को मानते हैं। दूसरे वर्ग में वे है जो वेदों में केवल नाटचतत्त्व का ही अवलोकन करते हैं। नन्दिकेश्वर

१. (क) भावप्रकाशन पृ० २९६-२९७।
   (ख) नाटचशास्त्र ४।२४६-२४७।

2. Primitive religion seeks with phallic symbolism. Modern Religion relations at the imagery and refines the symbol.
   (Religion and psychology. P. 15)

3. Contributions to the History of Hindu Drama.
   (M. M. Shash. P. 6)

४. भारतीय नाटचशास्त्र और रंगमंच पृ० ४२।

ने चारों संहिताओं को नाट्य का उद्गम स्रोत माना है। संवाद नाट्य की वह महत्त्वपूर्ण विधा है जो अभिनय की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करता है। ऋग्वेद में ही ऐसे कई संवाद सूक्त हैं जिनमें नाट्य-शैली का संवाद (कथोपकथन) उपलब्ध है। इस दृष्टि से पुरुरवा-उर्वशी-संवाद, यम-यमी-संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी-संवाद वृषाकपि-संवाद, अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद, सरमा-पणि-संवाद, इन्द्र-मरुत्-संवाद प्रमुख है[1]। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में और भी बहुत से सूक्त ऐसे हैं जिनमें संवादात्मक तत्त्व वर्तमान हैं और उनमें अभिनय-शैली की रूपरेखा खोजी जा सकती है। मैक्समूलर ने इन्द्र-मरुत् सूक्त के प्रसंग में अपना विचार प्रस्तुत किया है कि मरुत्सूक्त का अभिनय करने के लिए कतिपय ऋषि इन्द्र का प्रतिरूपण करते होगें और कतिपय विरोधी देवताओं का रूप धारण करते होगें तथा उसी वेश में उनका संवाद चलता होगा। प्रो० लेवी ने मैक्समूलर के तर्क का समर्थन करते हुए यहाँ तक कहा है कि ऋग्वेद में ऐसे प्रकरण आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय बालाएँ सुन्दर वेश-भूषा धारण कर नृत्य करती थीं तथा रसिकों (प्रेमियों) को आकर्षित करती थीं[2]। डा० हर्टल का विचार है कि वैदिक संवाद-सूक्त रहस्यात्मक अभिनय हैं क्योंकि ये सूक्त सदैव गाये जाते रहे हैं। एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न पात्रों द्वारा कहे हुए संवादों को गान करने में एक अस्पष्टता का भय रहता है कि कहीं श्रोता व्यक्ति विशेष का कथन दूसरे का न समझ लें। अतः विभिन्न पात्रों के कथन को विभिन्न ऋषि उनका रूप धारण कर गाया करते होगें[3]। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में अभिनयकला के जानकार थे जिनमें पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं को पृथ्वीलोक पर अनुकरण करने के लिए देवताओं एवं ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। यह नाट्यकला का प्रारम्भिक रूप था और यहीं से नाट्य-कला विकसित हुई।

ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों के अवसर पर जनता के मनोरंजन के लिए कुछ हलके फुलके अभिनय किये जाते रहे होंगे, जैसे सोमक्रयण का अभिनय। सोम-विक्रय के लिए कोई व्यक्ति आता है और यजमान उसका मोल करता है। जब सौदा पट जाता था तब उसे मार कर भगा दिया जाता था और यजमान यज्ञ में प्रवृत्त हो जाता था। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन वैदिक सूक्तों में अभिनयत्व नहीं है, केवल संवादमात्र है और अभिनयत्व के अभाव में संवाद कथोपकथन मात्र रह जाते हैं। कथोपकथन में जब तक आंगिक अभिनय का समावेश न हो और भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना कर दृश्यों को रस से ओत-

---

१. ऋग्वेद १०।९५, १०।१०, १०।८६, १।१७९, १०।१०८।

२. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ४, ३. वही पृ० ६, ८।

प्रोत न कर दिया जाय, तब तक उसे नाटच की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ऋग्वेद में इस प्रकार के संकेत कहीं नहीं मिलते जिनसे आंगिक अभिनय के समावेश का संकेत मिल सके और भावात्मक स्थिति की उद्भावना की गई हो। इन संवाद सूक्तों में प्रश्नोत्तर अथवा साधारण कथोपकथन है। अतः यह कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता कि इन संवाद सूक्तों से नाटच का उद्गम हुआ[1] और यह भी उचित प्रतीत नहीं होता कि सदाचारयुक्त वैदिक ऋषि यज्ञानुष्ठानों के पावन अवसरों पर मिथुन नृत्य करते रहे होंगे और यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इन सूक्तों का गायन होता रहा होगा, जबकि गायन के लिए सामबेद अलग ही था और उसके प्रस्तोताओं को उद्गाता कहा जाता था। किन्तु ओल्डेनवर्ग एवं पिशेल का कथन है कि वैदिक मन्त्रों में गद्य-पद्य का मिश्रण ही भारतीय नाटचकला के उद्गम के स्रोत के बीजरूप में देखे जा सकते हैं।

शैवसम्प्रदाय और नाटचोत्पत्ति—

नाटचशास्त्र में उपलब्ध वृत्तों से ज्ञात होता है कि 'ताण्डव' एवं 'लास्य' नृत्तों का सम्बन्ध क्रमशः शिव एवं पार्वती से रहा है।[2] कहा जाता है कि एक समय सन्ध्याकाल में भगवान् परमशिव हिमालय के रमणीय रजतश्रृङ्ग पर नृत्त कर रहे थे कि आनन्द-विभोर होकर पार्वती भी नाचने लगी। शिव का वह नृत्य 'ताण्डव' था और पार्वती का नृत्य 'लास्य'। उनके सभी अनुचरों ने उस नृत्य को सीखा। मालविकाग्निमित्र में कहा गया है कि अर्द्धनारीश्वर शिव ने उमा से विवाह करके अपने ही अंग में 'ताण्डव' और 'लास्य' को दो भागों में विभक्त कर दिया था।[3] शिव नाटच एवं नृत्य के उद्भव एवं विकास में 'नटराज' के रूप में विश्रुत रहे हैं। अतः उन्हें 'नटराजराज' कहा जाता है।[4] उनका यह 'नटराज' रूप ही नाटच के उद्गम का कारण प्रतीत होता है। शिव का 'नटराज' रूप ही सृष्टि की आनन्दात्मक प्रक्रिया का प्रतीक है, सृष्टिचक्र आनन्दरूप है, नाटच भी आनन्दरूप है और रसरूप है क्योंकि रससमुदाय ही नाटच होता है।[5] इस प्रकार नाटच के उद्गम में शिव का दायित्व एक शाश्वत सत्य है। शिव

---

१. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंज पृ० ४४।

२. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) २४६-२५.१।

३. रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा। (मालविकाग्निमित्रम १.४)

४. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥
(नन्दिकेश्वरकाशिका, पृ० ?)

५. अभिनवभारती भाग १ पृ०, २६०।

जन देवता हैं उन्होंने जन समाज के चित्तानुरंजन के लिए नाटच का आविष्कार किया था।

नृत्य-कला एवं नाटचोत्पत्ति—

ओल्डेनवर्ग के अनुसार नाटच के उद्गम का स्रोत धार्मिक नृत्य है उनका कहना है कि आंगिक अभिनय के साथ यह नृत्य पहले गीत से संयुक्त हुआ होगा और बाद में संवाद से।[1] क्योंकि नाटचशास्त्र के इतिहास में नाटच का सम्बन्ध नृत्य से रहा है। मैकडानल[2] का कथन है कि नृत्त और नृत्य से नाटच का उद्गम हुआ है। 'नृत्' धातु से नृत्त एवं नृत्य शब्द बनते हैं और 'नट्' धातु से नाटच एवं नाटक शब्द बनते हैं जो नृत्' धातु के विपरिणाम प्रतीत होते हैं। 'नृत्' धातु का अर्थ है 'गात्रविक्षेप' अर्थात् अङ्गसंचालन। पहले भाषा का उद्गम नहीं हुआ होगा तब अङ्ग-संचालन के द्वारा ही संकेत किये जाते रहे होंगे। गात्र-संचालन की इस क्रिया में लोगों को सौन्दर्य की अनुभूति हुई होगी और उसके द्वारा दर्शकों को मुग्ध करने की चेष्टा की जाने लगी होगी। वाद में जब उसमें गात्र-संचालन की क्रियाओं की गति का भी समावेश हो गया होगा तब उसे नृत्य कहा गया होगा और फिर जब उसमें रसाभिनय का समावेश हुआ होगा तब वह नाटच कहा जाने लगा। इस प्रकार ताल-लयाश्रित नृत्त की दूसरी अवस्था भावाश्रित नृत्य है और इन दोनों के मिश्रित रूप से 'नाटच' का उद्गम हुआ। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि पहले नर्तक को भरत कहतेरहे होंगे। बाद में जब नृत्य में संवादतत्त्व का समावेश हुआ होगा और नृत्य नाटच का रूप धारण कर लिया होगा तब 'भरत' शब्द नटों के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। अतः नृत्त एव नृत्य से नाट्य का उद्गम मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

नाटचोत्पत्ति एवं अन्य वाद—

पुत्तलिकानृत्यवाद—डा० पिशेल पुत्तलिका नृत्य से नाट्य का उद्गम मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्तलिका-नृत्य सबसे पहले भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान आदि देशों में पहुँचा। पुत्तलिकानृत्य के प्राचीनतम विवरण हमें संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। महाभारत में उत्तरा ने अर्जुन से पुत्तलिका (गुड़ियों) के लिए वस्त्र लाने को कहा था।[3] कथासरित्सागर (जिसका मूल आधार गुणाढ्य (तृतीय शताब्दी) की बृहत्कथा है) में एक कथा वर्णित है जिसके अनुसार मय नामक दानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी

१. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० १६।

२. संस्कृत लिटरेचर (मैकडानल) पृ० ३४७।

३. महाभारत, वनपर्व २।२६-३२।

सहेली कलिंगप्रभा को ऐसी पुत्तलियाँ भेंट की थी, जो बोल सकती थी। और नृत्य कर सकती थी और पानी या पुष्पमाला भी ला सकती थी।[1] राजशेखर के बालरामायण में कठपुतलियों का जो विवरण प्राप्त है तदनुसार सीता के सदृश बनाई गई पुतली से रावण भी धोखा खा जाता है। पुत्तली के मुख में एक तोता रखा हुआ था जो रावण के प्रश्नों का उत्तर देता था।[2] शंकर पाण्डुरङ्ग पण्डित के अनुसार उनके युग में कन्नड़ प्रदेश में इस प्रकार की रंगशालाएँ विद्यमान थी जहाँ कठपुतलियों का नृत्य दिखाया जाता था। ये पुतलियाँ कागज या काठ की बनी हुई होती थी जो खड़ी हो सकती थी, लेट सकती थी, दौड़ सकती थी, नाच या लड़ सकती थी। ये पुत्तलियां एक डोरे में बँधी रहती थी जिसे पकड़कर एक व्यक्ति नचाया करता था, जो सूत्रधार कहलाता था। डा० पिशेल ने भारतीय नाटक के सूत्रधार अभिधान को इस क्रम से जोड़ते हुए कहा है कि इन पुतलियों को नाचने के लिए सूत्रधार उनके डोरों को पीछे से पकड़े रहता था। इसलिए उसे सूत्रधार कहा जाने लगा होगा और इसी कारण बाद में नाटकों के प्रयोक्ता को भी सूत्रधार कहा जाने लगा होगा क्योंकि नाटक का सारा प्रयोग संचालन उसी के हाथ में रहता है। इसी कारण नाटक में प्रयुक्त स्थापक शब्द भी मंच पर पात्रों को लाकर व्यवस्थित करने के कारण स्थापक कहलाने लगा होगा। अतः नाट्यकला का उद्गम स्रोत पुत्तलिकानृत्य मानना उचित प्रतीत होता है।

किन्तु डा० पिशेल[3] के पुत्तलिका नृत्य के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए डा० हिडब्राण्ड[4] ने कहा कि सूत्रधार तथा स्थापक शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका नृत्य से जोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि सूत्रधार नाटक में कथावस्तु का संक्षेप में वर्णन करता है। दूसरे पुत्तलिकानृत्य में सूत्रधार शब्द का प्रयोग बाद का है जबकि नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग ईसवी सन् के शदियों पूर्व का है। अतः पुत्तलिकानृत्य को नाटचोद्गम का स्रोत नहीं माना जा सकता। ''पुत्तली'' शब्द अपने व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (पुत्तलिका, पुत्रिका, दुहितृका) से यह घोषित करता है कि पुत्तली शब्द का प्रयोग पहले बालक-बालिकाओं के खिलौने गुड़ियों के लिए होता रहा होगा और वहीं से पुत्तली नृत्य के रूप में परिणत हो गया होगा।

छायानाट्यवाद—

नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रो० ल्यूडर्स[5] ने एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है नाट्यकला का उद्गम छायानाट्य से हुआ है। क्योंकि प्राचीनकाल में

१. कथासरित्सागर-सन्दर्भ संस्कृत नाटक (कीथ) पृ ४४।
२. बालरामायण (राजशेखर अंक ५।
३. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ४४
४. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ४४
५. वही नाटक पृ० ४५

छायानाट्य के अभिनय का संकेत मिलता है। महाभाष्य में नाटकों के प्रसंग में सोमिकों का नाम आया है। ये मूक अभिनय का प्रदर्शन करते थे उसी से नाट्य का उद्गम हुआ है। उन्होंने महाभारत में उल्लिखित 'रूपजीवन्' शब्द तथा वाराहमिहिर का 'रूपजीवी' शब्द छायानाटक के अर्थ में प्रयुक्त माना है। किन्तु नाटयशास्त्रीय ग्रन्थों में छाया शैली के नाट्य का कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं होता। उत्तररामचरित में सीता-छाया के प्रवेश का विवरण है[1]। रत्नावली प्रबोध-चन्द्रोदय और दशकुमारचरित में ऐन्द्रजालिक की क्रियाओं का वर्णन छायानाट्य की ओर संकेत करता है किन्तु ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि उन्हें नाट्य के उद्गम का स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वीरपूजा एवं प्रेतात्मवाद—

प्रो० रिजवे का मत है कि नाट्य के उद्गम का मूल प्रेरक तत्त्व वीरपूजा है। वीरपुरुषों के प्रति आदर भाव प्रकट करने के लिए अभिनय किये जाते रहे हैं उन्हीं से नाट्य की उत्पत्ति हुई है। प्रो० रिजवे का कथन है कि प्राचीनकाल में मृतात्माओं (मृत वीरपुरुषों) के समान एवं शान्ति के लिए लोकनृत्य, गान आदि का अभिनय करते थे, नर्त्तक वीणा एवं वंशी की गत पर नाचते थे। रिजवे के अनुसार इसी से नाट्य का आरम्भ हुआ होगा[2]। किन्तु यह मत इसलिए युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि प्रारम्भ में संस्कृत नाटकों के अभिनय उत्सवों, पर्वों, त्योहारों तथा अन्य शुभावसरों पर किये जाते थे अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

लोकोत्सव एवं लोकनृत्य—

नाटच के उद्भव में लोक-परम्पराओं, लोकोत्सवों एवं लोकनृत्यों का कम दायित्व नहीं रहा है। लोक-परम्परा में रामलीला, कृष्णलीला, होलिकोत्सव, दुर्गापूजन महोत्सव आदि परम्पराएँ धर्म से अनुप्राणित रही हैं। इन्हीं से नाटच की प्रेरणा मिली होगी। प्रातःकाल सुनहरे वस्त्र पहनी हुई, इठला-इठला कर नर्त्तन करती हुई उषः का अभिनय, झूमती हुई मस्त हवाओं का नर्त्तन, फुदक-फुदककर चहकती हुई चिड़ियों का नृत्यसंगीत, कमलवन में इठलाते हुए भ्रमरों के मधुर गीत, केकाध्वनि के साथ मयूरों का नृत्य, प्रकृति-वधू के मनोहारी हाव-भावों को देखकर स्वभावतः ही मनोमयूर नाच उठता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से नाटच एवं नृत्य की उत्पत्ति हुई होगी और सर्वप्रथम उनका रूप लोकाभिनय एवं लोकनृत्य ही रहा होगा। क्रमशः संस्कृत एवं परिष्कृत होने के बाद उसे शास्त्रीय रूप मिला होगा। पातञ्जल महाभाष्य में उल्लिखित

---

१. उत्तररामचरित तृतीय अंक

२. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० १६

'कंसवध[1]' नाटक का मूल प्राकृतिक परिवर्तन ही प्रतीत होता है क्योंकि इस नाटक के अभिनय में कृष्ण के अनुयायी लाल कपड़े पहनते थे और कंस के अनुयायी काले कपड़े पहनते थे। लाल कपड़े वसन्त के प्रतीक माने जाते थे और काले कपड़े हेमन्त के। सम्भवतः वसन्त की विजय तथा हेमन्त की पराजय के प्रतीक रूप में यह अभिनय किया जाता था। इसी प्रकार होलिकोत्सव के मूल में विष्णु के द्वारा हिरण्यकशिपु के वध पर धर्म की विजय एवं अधर्म की पराजय का उल्लास प्रतीत होता है। यह लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता है। इन्द्रध्वजोत्सव भी इसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण लोकोत्सव था। सम्भवतः यह उत्सव शारदोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इन्द्रध्वज के द्वारा ही इन्द्र ने असुरों को जर्जर किया था[2]। इसी इन्द्रध्वज के समान ही योरोप में मई मास में एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता है जिसे "मेपोल नृत्य" कहते हैं। इस उत्सव में मई के प्रतीक रूप में एक बाँस गाड़ा जाता है जिसके चारो ओर युवती स्त्रियाँ सज-धजकर नाचती थी। यह एक लोकनृत्य के रूप में प्रचलित है। इसमें बाँस की कल्पना नाटयशास्त्रोक्त जर्जर के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है।

इस प्रकार नाटचकला के उद्गम के सम्बन्ध में विविध मत निर्दशित किये गये हैं। उन सभी मतों की समीक्षा के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में मानव की क्रीड़ा एवं अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने ही नाटचकला को जन्म दिया होगा जिसके मूल में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव अवश्य रहा होगा जिसका लेखा जोखा प्रस्तुत कर सकना आज के साधनों से परे है। जब बालक पैदा होता है उस समय से ही उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति सहज रूप में देखी जाती है, संकेतो पर वह हंसता है रोता है और अंगों को हिलाता-डुलाता है। शनैः शनैः जैसे जैसे उसमें परिवर्तन होता है, वैसे वैसे उसके स्वभाव में भी परिवर्त्तन होता जाता है। युवावस्था के प्रथम सोपान पर आरूढ होते ही उसमें उच्छृङ्खल परिवर्त्तन होता है, स्वभाव में उन्माद का प्रवेश होता है, शारीरिक क्रियाओं एवं अङ्गसंचालनादि में भी नवीन स्फूर्त्ति पैदा होती है और वह स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए उतावला हो जाता है। इस स्वच्छन्द क्रीडात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नृत्य एवं संगीत का जन्म हुआ होगा, क्योंकि यौवन के उन्माद में भावों को प्रकट करने के ये ही साधन रहे होंगे। प्रारम्भ में वह नृत्य मूक-नृत्य के रूप में रहा होगा और धीरे-धीरे वह भावाभिनय के रूप में परिणत हुआ होगा फिर उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति हुई होगी और फिर इससे पूर्ण

१. महाभाष्य (पतञ्जलि) ३।१।२६।

२. नाट्यशास्त्र १।७२-७३।

नाट्यपदवी पर पहुँचा होगा। इस प्रकार नृत्य, भाव एवं अभिनय के मिश्रित रूप से ही नाट्य का उद्गम हुआ, यह सभी को स्वीकार्य होगा।

ऐसा प्रतीत होतां है कि प्रारम्भ में जब भाषा का उदय नहीं हुआ था तब अङ्ग-सञ्चालन के द्वारा ही भावों को प्रकट किया जाता रहा होगा और जब उसमें गति या भाव का समावेश हो गया तब वह नृत्य कहलाया। इस प्रकार नृत्त और नृत्य ये ही भावों के अभिव्यक्त करने के साधन रहे हैं। बाद में जब भाषा का उदय हुआ तब उसमें संवाद (कथोपकथन) तथा संगीत का समावेश हो गया और तब भाषा के द्वारा भावों को अभिव्यक्त किया जाने लगा। किन्तु भाषा भावों को अभिव्यक्त करने का साधन बहुत समय बाद में बना होगा, क्योंकि भाषा को भावाभिव्यक्ति के लिए क्षमतापूर्ण होने में काफी समय लगा होगा।

किन्तु भारतीय इतिहास वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता है अतः हमारी सारी विद्याओं का उद्गम वेदों से माना जाता है और उनका सम्बन्ध देवताओं से जोड़ दिया जाता है। हम उस प्रवृत्ति एवं वैदिक मान्यता का आदर करते हैं और नाट्यकला के विकास एवं पूर्णता में उनका सहयोग भी अनुपेक्षणीय है। यदि हम वेदों को अपौरुषेय मानते हैं तो भले ही समस्त विद्याओं का स्रोत वेदों को मान लिया जाये किन्तु नाट्यकला का जन्म उसके बहुत पहले हो चुका था। जो लोकाभिनय अथवा लोकनृत्य के रूप में समाज में प्रचलित रहा है। नाट्योद्गम के सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये मतों में कोई भी मत ऐसा प्रतीत नहीं होता जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। उन्होंने अपने मतों के समर्थन में जो भी साधन प्रस्तुत किये हैं नाट्य का उद्गम उन सभी साधनों से पहले हुआ है।

वस्तुतः नाट्यकला का उद्गम सर्वप्रथम लोकाभिनय अथवा लोकनृत्यों के रूप में हुआ और उस पर प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव रहा होगा। ऋग्वेद में 'समन' नामक उत्सव का उल्लेख मिलता है जो एक मेला के रूप में प्रचलित था, जिसमें अनेक कलाविद् उपस्थित होते थे और अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते थे, स्त्रियाँ नृत्य भी करती थीं[1]। इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक काल के बहुत पहले से लोकोत्सव समाज में प्रचलित रहे हैं। अतः इन लोक-नृत्यों तथा लोकोत्सवों से नाट्य का उद्गम मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

---

१. ऋग्वेद २।१६।७, १।४८।८, ६।७५।३, ८।६६।२।

नाट्यकाल का विकास

संस्कृत वाङ्मय में नाट्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है। नाट्यकला के उद्गम का इतिहास मानव जीवन के इतिहास के साथ सम्बद्ध है। मानव जीवन की प्रभातवेला में नाट्यकला का उद्गम हुआ और जैसे-जैसे मानव जीवन में विकास हुआ वैसे-वैसे नाट्य क्षेत्र में भी विकास होता गया। प्रागैतिहासिक मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नामक स्थानों में जो उत्खनन हुआ है उनमें प्राप्त अवशेष तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति के परिचायक हैं। उनमें उपलब्ध मृत्तिका एवं कांस्य मूर्त्तियाँ तत्कालीन नाट्य एवं नृत्य कला का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। मोहनजोनड़ो में प्राप्त एक देवता की मूर्त्ति योगासन की मुद्रा में अंकित है जिसमें दोनों ओर सर्पों को अञ्जलि मुद्रा में स्तवन करते हुए दिखाया गया है। इसी प्रकार एक अन्य मूर्त्ति योगासन की मुद्रा में प्राप्त हुई है जिसमें तीन मुख तथा तीन नेत्रों का अंकन है और पशुओं से परिवेष्टित हैं[1]। विद्वानों के अनुसार यह पशुपति शिव की मूर्त्ति है। इसी प्रकार हड़प्पा में एक नृत्यरत पुरुष की खण्डित पाषाण-मूर्त्ति उपलब्ध हुई है। नर्त्तक का दक्षिण पाद भूमि पर स्थित है तथा वाम पाद नृत्यक्रिया में ऊपर उठाया गया है[2]। नृत्यकला के मर्मज्ञ विद्वान् इस मूर्त्ति को नटराज शिव का स्वरूप मानते हैं। मूर्त्ति के खण्डित होने से उसमें अंकित अभिनय के यथार्थ स्वरूप का परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु तत्कालीन अभिनय का परिचायक होने के कारण उसका महत्त्व है। मोहनजोदड़ो में एक कांस्य मूर्त्ति उपलब्ध हुई है जिसमें सुकोमल नारी का ललित अभिनय अंकित है। नर्त्तकी का शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में है। केश जूड़े में आवद्ध है और दोनों हाथों में बाहुओं तक चूड़ियाँ पहने हुए है। दक्षिण पाद एक स्थान पर स्थित और वामपाद पादाभिनय की स्थिति में और कुछ आगे बढ़ा हुआ है। दक्षिण हस्त कमर पर स्थित है और वाम हस्त नीचे की ओर लटका हुआ है। ऐसा लग रहा है कि मानो नर्तकी अभी थिरक उठेगी[3]। इन मूर्तियों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि उस समय अभिनय का पर्याप्त प्रचलन था और उसके साथ गीत एवं वाद्यों की संगत की जाती थी। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे तत्कालीन अभिनयकला की समृद्धि का पता चलता है। ऐसा अनुमान है कि धार्मिक तथा लौकिक समारोहों पर जनरञ्जनार्थ अभिनय और नृत्य किये जाते थे जो लोकाभिनय एवं लोकनृत्य के रूप में प्रचलित रहे होंगे।

---

१. हिन्दु सभ्यता (राधाकुमुद मुकर्जी) पृ० ३८।
२. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० १५।
३. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० १५।

वैदिकयुग में नाट्यकला–

वैदिक युग में नाट्यकला का विकसित एवं समृद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है। उस समय नृत्य एवं वाद्य का पर्याप्त प्रचलन था और उनके निर्वाहक कलाकार भी तीन प्रकार के होते थे—नर्तक, गायक और वादक। उस समय नृत्य, गीत एवं वाद्य का विशेष आयोजन होता था। गीत के साथ वादन का निरन्तर साहचर्य रहा है, और गीत एवं वाद्य के साथ नृत्य का प्रचुर अस्तित्व पाया जाता है। ऋग्वेद में नृत्यकलाकुशल तथा यौवनसम्पन्न नारी के समान उषा का आंगिक अभिनय मनोमुग्धकारी बताया है। उसकी स्वर्णिम आभा को देखकर वैदिक ऋषि को विभ्रम हो जाता है[1]। उस समय नृत्य एवं अन्य कलाओं का आयोजन खुले प्रांगण में होता था जिसमें नर-नारी दोनों भाग लेते थे। ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक एक सामाजिक उत्सव का पता चलता है। यह उत्सव मेला के रूप में आयोजित होता था। इसमें नर, नारी, कवि कलाकार, धनुर्धर, घुड़सवार, गणिकाएँ सभी कलाप्रदर्शन के लिए उपस्थित होती थीं। रात-रात भर नर-नारियों का सामूहिक नृत्य होता रहता था। अनेक प्रकार के लोकाभिनय एवं लोकनृत्य होते थे[2]। महाव्रत नामक सोमयाग में सामूहिक नृत्य का वर्णन है जिसमें तीन से छः स्त्रियाँ शिर पर जल भरी गगरी रखकर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती थीं[3]। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकाल में अनेक प्रकार के नृत्य एवं अभिनय प्रचलित रहे हैं। पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं को पृथ्वीलोक पर अनुकरण करने के लिए देवताओं एवं ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। यहीं से नाट्यकला विकसित हुई है।

यजुर्वेद नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें नाट्य के पात्रों एवं नेपथ्य की सामग्री का स्पष्ट उल्लेख है। यजुर्वेद में एक ऐसी रंगशाला का वर्णन मिलता है जिसे 'समा' कहा गया है। उसमें नृत्त के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को, हँसाने के लिए विदूषक (हँसोड़ों) को, प्रसाधन के लिए कलाकारों को तथा वीणावादक, दुन्दुभिवादक, वंशीवादक एवं तालधारी व्यक्तियों को नियुक्त किया गया था[4]। यजुर्वेद में नाट्य के पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि नाट्य विकास की उस सीमा पर था जब उसमें नृत्य, गीत और अनुकरण आ मिले थे और विदूषक का रूप कारि, रेम, वामन के रूप में पनप रहा था। व्यवसायी कलाकार लौकिक समारोहों पर

---

१. ऋग्वेद १।९२।४।

२. ·········प्राञ्चो जगाम नृतये हसाय। (ऋग्वेद १७।१८।३)

३. ऐतरेय आरण्यक १।१।

४. यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र ६, ८, १०, १५, १६, २०।

आमन्त्रित किये जाते थे। अथर्ववेद में दुन्दुभि कर्करी आदि वाद्यों तथा अनेक स्थलों पर गन्धर्वों का उल्लेख है। अथर्ववेद में बताया गया है कि गन्धर्वों का जीवन सोमपान तथा नृत्य, गीत, वाद्य के साथ हर्षोन्मत्त एवं स्वच्छन्द रूप से प्रवर्त्तित होता था[1]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाटचकला अत्यन्त समुन्नत अवस्था को प्राप्त थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाटचकला वैदिक सूक्तों एवं लोकजीवन की शाश्वत धारा के प्रभाव में निरन्तर समृद्ध होती गई। नट, नर्त्तक, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों का उसमें समावेश हो गया और लौकिक समारोहों एवं धार्मिक अवसरों पर उनका आयोजन होता था। भारतीय जनजीवन में वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई और सभी वर्ग के लोगों ने उसे सहर्ष अपनाया।

महाकाव्यकाल और नाटचकला—

रामायण युग में नाटचकला के अस्तित्व के असन्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। रामायण में शैलूष, नट, नर्त्तक, नायक आदि का उल्लेख अनेक प्रसंगों पर किया गया है[2]। उस समय नटों, नर्त्तकों तथा गायकों के अपने-अपने संघ हुआ करते थे जिन्हें सामूहिक प्रदर्शन के लिए अवकाश दिया जाता था[3]। रामायण में कहा गया है कि शासनहीन जनपद में नट, नर्त्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते[4]। उस समय नाटकों का अभिनय भी होता था। जब भरत ननिहाल में थे तो उनका दुःस्वप्न से दुखित मन के मनोरंजन के लिए नाटक का अभिनय किया गया था। कुछ नाटक ऐसे भी थे जिनमें भाषाओं का मिश्रण रहता था, उसे 'व्यामिश्र' कहते थे[5]। रामायण में उल्लिखित 'रङ्ग' शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय रंगमंच की कल्पना अंकुरित हो चुकी थी[6]। इस प्रकार रामायण के विभिन्न प्रसंगों से ज्ञात होता है कि उस समय सभी वर्गों में नाटचकला के प्रति अभिरुचि हो गई थी। लोकोत्सवों के अवसर पर नाटच एवं नृत्य का प्रदर्शन किया जाता था। यही नाटचकला आगे चलकर भरत नाटचकला के रूप में विकसित हुई।

महाभारत में तत्कालीन संस्कृति का सर्वाङ्गीण चित्र उपलब्ध होता है। उसमें नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार, किन्नर, वीणा, मृदंग, भेरी, पणव आदि शब्दों का निर्देश मिलता है[7]। तत्कालीन जन-जीवन में इनका गौरवपूर्ण स्थान

---

१. अथर्ववेद ७।१०९।२-५।

२. वाल्मीकिरामायण २।६।१४, १।१२।७, २।८३।५, २।६।७।१५।

३. नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्त्तकाः'। (वाल्मीकि रामायण २।६७।१५।

४. २।१।७।   ५. वही ६।४।४२।४३।

६. महाभारत १।२, १४ १६, २।१५।१३ द्रोणपर्व ७५।२·४।

७. महाभारत वनपर्व २।२९-३२।

था। राजकन्याओं और रानियों के लिए संगीत शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। अर्जुन को विराट की राजकन्या को संगीत की शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया गया था। महाभारत में 'रामायण' एवं 'कौबेररम्भाभिसार' नामक दो नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है[1]। महाभारत के हरिवंशपर्व के अनुसार ये दोनों नाटक प्रद्युम्न-विवाह के अवसर पर खेले गये थे[2]। हरिवंशपुराण में 'मुग्धाभिनय' नामक प्रहसन के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। इस अभिनय में चित्रलेखा नामक अप्सरा ने पार्वती का और शिवगणों के विश्वरूप का अभिनय किया था। इस अभिनय को देखकर शिव और पार्वती ने उनके कला-कौशल पर आश्चर्य प्रकट किया था। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल में नाटक अभिनीत होने लगे थे। अभिनयकला में पर्याप्त विकास हुआ था। उसमें हास्यपूर्ण प्रसंगों का भी समावेश हो गया था। यही कारण है कि उस समय नाट्य की लोकप्रियता अधिक बढ़ गयी थी।

व्याकरणशास्त्र और नाट्यकला—

पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत साहित्य की अनुपम कृति है। पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित दो नटसूत्रों का संकेत किया है[3]। इनमें जो शिलालि के द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे वे शैलालिन् और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित थे वे कृशाश्विन् कहलाते थे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय शैलालि तथा कृशाश्वि सम्प्रदाय के नटों की दो विभिन्न परम्पराएँ प्रवर्त्तित हुई थीं। इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि नटों को दीक्षित करने के लिए सूत्रग्रन्थों की रचना होने लगी थी और नाट्यकला को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उस समय नाट्य के सामूहिक कार्यक्रम नृत्य, गीत एवं वाद्य के साथ हुआ करते थे[4]। पाणिनि ने 'जाम्बवती-विजय' नामक एक नाटक भी लिखा था।

पतंजलि का महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का महनीय ग्रन्थ है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बालिबध' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है। उस समय इन दोनों नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत किया जाने लगा था। शोभनिक नट अपने को दो दलों में विभाजित कर लेते थे और अभिनय के सम्यक् निर्वाह के लिए पात्रोचित रंग से मुखों को रंग लेते थे। उनमें कंस के

---

१. हरिवंश २।९१।२६। २. वही २.२९-३२।

३. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः १४।३।११०। कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११।

४. अष्टाध्यायी ३।३।६८।

भक्त तो काले रंग का चेहरा बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के भक्त लाल रंग का चेहरा बनाकर अभिनय करते थे[१]।

महाभाष्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय नटों के साथ उनकी भार्यायें भी रंगमच पर अभिनय करती थीं[२]। पतञ्जलि ने शोभनिक एवं ग्रन्थिक दोनों के कार्यों को अलग-अलग निर्देश किया है। इनमें शोभनिक का कार्य नटों को दीक्षित करना था[३] और ग्रन्थिक का कार्य ग्रन्थ पठल की सहायता से लोगों के सन्मुख प्राचीन आख्यानों को प्रस्तुत करना था[४]। उस समय नाटचकला के पाठच, गान और अभिनय तीनों का समावेश था और उनको सार्वजनिक रङ्गमंच पर अभिनीत किया जाता था। इससे स्पष्ट है उस समय नाटचकला में पूर्ण विकास हो चुका था। अभिनय रंगमंच पर किया जाता था। अभिनेताओं को नाटचकला की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। पुरुषों की भूमिका पुरुषवर्ग तथा स्त्रियों की भूमिका स्त्रियाँ करती थी। नाटच में पाठच, गीत, अभिनय और रस का समावेश हो चुका था। नट लोग उचित वेश भूषा के साथ अभिनय करने लगे थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र और नाटचकला—

अर्थशास्त्र संस्कृत साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है। इसे मौर्ययुगीन भारत का विश्वकोष कहा जाता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में नट, नर्तक, गायक, कुशीलव, प्लवक, सौमिक, चारण और गणिकाओं को राज्याश्रय देने का उल्लेख है और आवश्यकता पड़ने पर गुप्तचर के रूप में उनका उपयोग किया जाता था[५]। इनमें कुछ कलाकार जनता के आश्रय से अपनी जीविका चलाते थे। अर्थशास्त्र में बताया गया है कि गणिका, दासी, अभिनेत्री तथा नटों आदि को नाटच, नृत्य, गीत, वाद्य, वैशिक आदि कलाओं में प्रशिक्षण के लिए शासन की ओर से संगीत-शालाओं, नाटचशालाओं तथा चित्रशालाओं का प्रबन्ध किया जाता था, जिसका संचालन सुयोग्य आचार्यों द्वारा होता था और इन्हें राज्य की ओर से योग्यता-

---

१. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंस घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति ।...... अतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते । केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेवभक्ताः । वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति । केचित् कालमुखा भवन्ति, केचिद् रक्तमुखाः ।
(महाभाष्य ३।१।२)

२. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति । नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति ते तं तव तवैवैत्याहुः ॥ (महाभाष्य १।४।२९ परभाष्य)

३. महाभाष्य २।१।६९ पृ० ४०३ ।

४. वही पृ० ३६ ।

५. अर्थशास्त्र (कौटल्य) १।१२।२१ ।

नुसार वेतन दिया जाता था[१]। इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय कला एवं कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त था और समाज में इन्हें आदर सम्मान प्राप्त था।

कामसूत्र एवं नाट्यकला—

वात्स्यायन कृत कामसूत्र कौटलीय अर्थशास्त्र के पश्चात् मानव के भौतिक जीवन पर प्रकाश डालने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह स्वयं कलाविषयक एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें चौसठ कलाओं का प्रतिपादन है किन्तु उनमें नाट्य नृत्य एवं गीत [कला प्रमुख है। वात्स्यायन के अनुसार प्रत्येक मास अथवा पक्ष में प्रायः सरस्वती मन्दिर में समाजोत्सव मनाया जाता है जिसमें कुशल नट नर्तक आदि कलाकारों द्वारा विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन होता था। कभी-कभी विशिष्ट अवसरों पर कुशीलव नाट्य का कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे। इस उत्सव में सम्मानीय कलाकारों के अतिरिक्त बाहर से भी नट, नटी, नर्तक, कुशीलव आदि कलाकार आमन्त्रित किये जाते थे। उन्हें भी अपनी कलाओं को प्रदर्शित करने का अवसर दिया जाता था और वे अपनी कला द्वारा दर्शकों को प्रसन्न एवं मन्त्र मुग्ध करने का प्रयत्न करते थे। दूसरे दिन उन्हें योग्य पुरस्कार दिया जाता था। उनमें योग्य कलाकारों को कुछ दिन और रुकने के लिए आग्रह किया जाता था[२]। इन समस्त कलाकारों के ठहरने, भोजन, स्वागत एवं पुरस्कार का दायित्व समस्त गण पर होता था। वात्स्यायन के अनुसार इस प्रकार के अनेक लोकोत्सव उस समय मनाये जाते थे जिनमें नृत्य, गीत, वाद्य, नाटक, हल्लीसक आदि का प्रबन्ध किया जाता था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उस समय नाट्य-कला समाज का अंग बन चुकी थी और समाज के सभी वर्गों एवं देश के सभी क्षेत्रों में उसका प्रचार-प्रसार हो चुका था।

बौद्धसाहित्य एवं नाट्यकला—

भारतीय कला के विकास में बौद्धों का विशेष योगदान रहा है। बौद्धयुग में नाट्य के लिए 'प्रेक्षा' शब्द प्रयुक्त होता था और नाट्य के दिग्दर्शक को 'नटाचार्य' कहा जाता था। नट रंगमंच पर विविध अभिनयों के द्वारा जनता का मनोरंजन करते थे। उस समय नाट्य को राज्याश्रय प्राप्त था। उन्हें राज्य की

---

१. गीत-वाद्य-पाठ्य-नृत्त—नाट्याक्षर-चित्र—वीणा-वेणु-मृदङ्ग............ वैशिककलाज्ञानानि गणिकादासीरंगोपजीविनश्च ग्राहयतो राज्यमण्डलादाजीवकं कुर्यात्। (अर्थशास्त्र २।२७ ३।१८)

२. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नित्यं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। (कामसूत्र १।४।१५-१६)

ओर से धन दिया जाता था और उन पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण रहता था। सामाजिक लोकोत्सवों पर नाटच एवं नृत्य का प्रदर्शन होता था। उसके लिए रंगमच बीचों बीच बनाया जाता था जिसके चारों ओर दीर्घिकाएँ होती थी, जिस पर दर्शक लोग बैठते थे[1]। रंगमंच पर नृत्य, नाटच, अभिनय, गीत, वाद्य, मल्लयुद्ध तथा पशु-पक्षियों के युद्ध के दृश्य दिखाये जाते थे[2]। ये प्रदर्शन इतने प्रभावकारी होते थे कि उन्हें देखने के लिए देव, नाग और गरुड़ भी आते थे[3]। बौद्धसाहित्य में एक ऐसे अभिनय का उल्लेख मिलता है जिसमें एक अभिनेता पाँच सौ नर्तकियों के साथ नृत्य एवं नाटचकला का प्रदर्शन कर नागरिकों को सम्मोहित किया करता था[4]। इस प्रकार बौद्धयुग में नाटचकला का पूर्ण प्रचलन था जिसका अभिनय लोकरंजन के लिए किया जाता था।

जैनसाहित्य एवं नाट्यकला—

जैन परम्परा के अनुसार आदिम नाटच और नृत्य महावीर स्वामी की जीवनी पर आधारित था। स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा समुचित भूमिका का अभिनय किया गया था। रायापसेणीय नामक ग्रन्थ में बत्तीस प्रकार के नाटचों का वर्णन है[5]। जिससे ज्ञात होता है कि उस समय नाटचकला अत्यन्त विकसित अवस्था में थी। 'नापाघम्मकहा' में एक कथा आई है कि मेघकुमार नामक एक धनी विवाह के पश्चात् नाटकों को देखने में समय व्यतीत करता था। इन नाटकों में स्त्रियों के द्वारा नृत्य, गीत एवं वाद्यवादन होता था। विवाह के अवसर पर मेघकुमार को आठ नर्तकियों एवं बत्तीस नटों वाली नाटच-मण्डली दहेज में दी गई थी[6]। इससे स्पष्ट है कि उस समय नाट्यकला अत्यन्त लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण विधा थी।

स्मृतिसाहित्य और नाट्यकला—

स्मृति साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्मृतिकाल में नाटचकला के व्यवसायियों को हेय की दृष्टि से देखा जाता था। मनु ने नाटच व्यवसायी कुशीलवों को प्रच्छन्न तस्कर कहा है। उनके अनुसार राजा को चाहिए कि ऐसे समाज कंटक व्यक्तियों को नगर से निर्वासित कर दें[7]। मनु का कहना है कि नाटच आदि का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति एवं स्त्रियां परद्रव्यापहरण में दक्ष

---

१. जातककथा ६।२७७।

२. वही० ३।६१, ३ ३३८, ६।२७७ तथा दीर्घनिकाय १।६।

३. वही० २।१३।

४. अट्ठकथा० पृ० ३६।

५. रायापसेणीय ३६।८४ भारतीय संगीत का इतिहास पृष्ठ १८१।

६. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० १८१।

७. स्मृति ९।२ ५-२२६

होती हैं। अतः गुप्तचरों के द्वारा उनपर निगरानी रखनी चाहिए[1]। मनु ने उनके लिए यह बताया कि वे लोग नगर के बाहर रहकर अपना जीविकार्जन करे और प्रतिमास एक दिन राजकर के रूप में राजसभा में उपस्थित हो[2]। याज्ञवल्क्य-स्मृति से ज्ञात होता है कि उस समय नट के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। वे लोग नीले, पीले, काले, सफेद आदि वर्णों से अपने शरीर को रंजित कर नानाविध रूपों को धारण करते थे[3]। इससे प्रतीत होता है कि उस समय नट, नर्तक, कुशीलव आदि स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर कला-प्रदर्शन के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। समाज में उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था।

पुराण-साहित्य और नाट्यकला—

संस्कृत वाङ्मय में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटचकला की दृष्टि से हरिवंशपुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण एवं भागवत-पुराण महत्त्वपूर्ण हैं। हरिवंशपुराण में नाटचकला सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। उस समय नाटकादि रूपक प्रकारों में नृत्य का अधिक प्रयोग होता था और नाटक को 'प्रेक्षा' नाम से अभिहित किया जाता था[4]। हरिवंशपुराण में 'रामायण' और 'गंगावतरण' नामक नाटकों के अभिनय होने का उल्लेख मिलता है[5]। नर और नारियाँ दोनों ही नाटकों में भूमिका का अभिनय करती थीं। नाटकों में संगीत का प्रमुख स्थान होने से अभिनेताओं को संगीतकला में कौशल प्राप्त करना आवश्यक था[6]। विष्णुपुराण में एक ऐसी रंगशाला का वर्णन है कि जिसमें प्रवेश करने के लिए द्वार बने हुए थे। बीच में रंगभूमि और उसके चारो ओर मंच बने हुए थे। वहाँ पर शासकवर्ग, अन्तःपुरिकाओं, वारवनिताओं, नागरिकों नन्द और गोपों के लिए अलग अलग मंच बने हुए थे[7]। यह रंगभूमि मल्लयुद्ध के लिए तैयार की गई थी। भागवत पुराण में वर्णित रासलीला नाटच-कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण दोनों में नाट्यकला का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। अग्निपुराण में अभिनय के चार प्रकार बताये गये हैं और उनमें आंगिक अभिनय का विस्तृत विवेचन किया गया है और नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं तथा नायक के सहायक विदूषक, पीठमर्द, विट

---

१. वही ९।२५६-२६१। २. वही १०।५०

३. यथाहि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति ४।१६२)

४. हरिवंश पुराण ९३।१९ ५. वही ९३।६ ८ २७

६. हरिवंश पुराण ९२।४८-५०, ६० तथा ९३।३२, ५८-६०

७. विष्णु पुराण ५।२०, २३-२८।

का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार नाट्यकला के विकास में पुराणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पुराणों में नाट्यकला सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन ही नहीं है। बल्कि उनका शास्त्रीय विवेचन भी किया गया है। नाट्य-परम्परा में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनमें अग्निपुराण का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

रासलीला, हल्लीस और छालिक्य—

भागवतपुराण की रासपंचध्यायी में रासलीला का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। रासलीला का आधार रासपंचाध्यायी ही है। रासलीला में श्रीकृष्ण जी गोपिकाओं के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं। लोकजीवन में अभिनयकला के प्रचार प्रसार की दृष्टि से रासलीला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रासलीला का शास्त्रीय विवेचन भागवत धर्म के ग्रन्थों में मिलता है। विद्वानों का विचार है कि रासलीला से ही नाट्यकला का प्राचीन रूप हल्लीस-नृत्य में देखने को मिलता है। रासनृत्य का ही दूसरा नाम 'हल्लीस' है। हल्लीस नृत्य के अधिष्ठाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने गोपियों और राधा के साथ इस नृत्य का प्रयोग किया था। नाट्यशास्त्र में हल्लीस नृत्य का विवेचन है। अभिनवगुप्त के अनुसार हल्लीस नृत्य उसे कहते हैं जो नृत्य मण्डलाकार रूप में आयोजित होता था, उसमें एक नायक होता था और राग, ताल एवं लयों का समावेश होता था।[1] शारदातनय ने बारह या सोलह नायिकाओं द्वारा अभिनीत हस्तबद्ध नृत्य को 'रासक' कहा है।[2] भगवान् श्रीकृष्ण ने मण्डलाकार हाथ बाँधे गोपिकाओं के मध्य में वेणुवादन करते हुए हल्लीस नृत्य का सृजन किया था। श्रीकृष्ण ने वेणुवादन में सामगान करते हुए गोपियों के साथ एक नृत्य किया था जिसे 'छालिक्य' नृत्य कहते हैं। हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय देवों एवं ऋषियों ने किया, बाद में भगवान् श्रीकृष्ण ने लोकहितार्थ भूलोक में प्रसारित किया।[3] कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में इस अभिनय को 'छलिक' नाम से अभिहित किया है।[4] विद्वानों का कहना है कि इस छालिक्य अभिनय से ही नाटचकला का उद्गम हुआ है।

नन्दिकेश्वर और नाट्यकला--

नन्दिकेश्वर का नाटचकला के विकास में पूर्ण योगदान रहा है। नन्दिकेश्वर के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा प्रोक्त नाट्य का अभिनय सर्वप्रथम भरत ने किया था, किन्तु यह नाट्य नृत्य-वाद्य से शून्य उद्धत प्रयोग था। भगवान् शिव ने

१. अभिनवभारती, भाषा १ पृ० १८१।
२. भावप्रकाशन, पृ० २६३-२६४।
३. हरिवंशपुराण २।८३-८४।
४. मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।

तण्डु के द्वारा भरत को ताण्डव की शिक्षा दिलाई और पार्वती ने लास्य का उपदेश दिया।[1] इस प्रकार नाट्य में ताण्डव और लास्य का समावेश हुआ। तदनन्तर पार्वती ने लास्य की शिक्षा बाणासुर की दुहिता उषा को दी। उषा ने बृज की गोपियों को, गोपियों ने सौराष्ट्र की ललनाओं को और सौराष्ट्र की ललनाओं ने भिन्न-भिन्न प्रदेश की युवतियों को दीक्षित किया। इस प्रकार यह नाट्यकला परम्परया समस्त भूमण्डल पर प्रतिष्ठित एवं विश्रुत हुई।[2] नन्दिकेश्वर नाट्यकला में अभिनय को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने नाट्य, नृत्त और नृत्य को अभिनय का अंग स्वीकार किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार नाट्य के नृत्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल ये छः साधन होते हैं और उनमें अभिनय की प्रधानता स्वीकार की है। वैसे उन्होंने सभी अंगों पर विचार किया है। उन्होंने ताण्डव और लास्य इन दोनों नृत्य प्रकारों को भी नाट्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है। ताण्डव और लास्य दोनों के नाट्य में समावेश होने पर ही नाट्य की पूर्णता मानी गई है।

नाट्यशास्त्र और नाट्यकला—

नाट्यकला के विकास में नाटयशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। प्राचीन भारतीय नाटचकला को प्रकाश में लाने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है। नाटयशास्त्र के अनुसार नाटचकला के प्रवक्ता ब्रह्मा हैं और भरत है उसके प्रयोक्ता। भरत के अनुसार नाटच का उद्देश्य केवल मनोरञ्जनमात्र ही नहीं था, वल्कि समाज के नैतिक स्तर की रक्षा एवं उसे समुन्नत करना भी था। इसी दृष्टि से उन्होंने नाट्यशास्त्र में केवल नाटक के लेखकों एवं अभिनेताओं के लिए ही गुण एवं नियम निर्धारित नहीं किये हैं वल्कि प्रेक्षकों के लिए भी एक स्तर स्थापित किया है। उनके अनुसार जब तक प्रेक्षक में ग्रहणशील बुद्धि और सद्गुण न हों तब तक यह रस का ग्रहण नहीं कर सकता। अतः प्रेक्षक को शास्त्र का ज्ञाता, षडङ्ग नाटचविद्या को जानने वाला, चार प्रकार के आतोद्य वाद्यों का विशेषज्ञ, सभी प्रकार के वेश-भूषा का मर्मज्ञ, समस्त कलाओं और शिल्पों में विचक्षण तथा अभिनयकला में मर्मज्ञ होना चाहिये[3]।

नाटचशास्त्र के अनुसार नृत्य, और वाद्य के तीनों नाटच के अङ्ग हैं। अतः उसमें नाटचविवेचन के साथ नृत्य, गीत और वाद्य पर भी विचार किया गया है। भरत नृत्य, गीत, वाद्य को स्वतन्त्र कला के रूप में स्वीकार नहीं करते वे उन्हें नाटच का उपकारक मानते हैं। उन्होंने ताण्डव और लास्य नृत्य प्रकारों को भी नाटच के अन्तर्गत माना जाता है। नाटचसर्वस्वदीपिकाकार ने भी

१. अभिनय दर्पण २-४। २. वही ५-७। ३. नाटचशास्त्र (गायकवाड) २७।५०-५४।

ताण्डव और लास्य को नाटच के अन्तर्गत स्वीकार किया है और उसके व्यवसायी को नट कहा है।[1] कालिदास ने भी नाटच शब्द का प्रयोग नृत्य तथा रूपक दोनों अर्थों में किया है। मालविका ने 'छलित' नामक नृत्य प्रकार को 'नाटच' नाम में अभिहित किया है।[2] भरत के अनुसार नट का कार्य ऐसे नाटच का प्रयोग करना है जो चतुर्विध आतोद्य वाद्यों से युक्त हो।[3] भरत का कहना है कि नट को नाट्यप्रयोग के लिए आतोद्य विधान और आतोद्य-प्रयोग में भी कुशल होना चाहिए।[4] भरत के अनुसार नाट्य एक वह कला है जिसमें गीत, वाद्य एवं नृत्य के साथ अन्य कलाओं का भी समावेश है। अतः उन्होंने नाटयोपकारक सभी तत्त्वों पर विचार किया है। नाट्यकला में पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से ही उन्होंने नाट्याभिनय में पूर्वरंगविधि तथा प्रेक्षागृह का विधान किया है जो व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। नाट्यकला में सजीवता लाने के लिए ही उन्होंने चित्राभिनय का विधान किया है। चित्राभिनय के अन्तर्गत अनेक हाथ पैर वाले या हाथी, घोड़े, बैल आदि के मुखवाले या अन्य विकार वाले अभिनय किये जाते हैं जिससे नाट्याभिनय में रञ्जकता बढ़ती है।

नाट्यकला का रूपकों के रूप में भी विकास हुआ है। नाट्यशास्त्र में इस सुदीर्घ परम्परा में अभिनीत होनेवाले रूपकों में रसोद्दीपक और मनोरंजक सभी प्रकार के रूपकों का वर्णन है। जिनमें शृङ्गार, वीर, करुण, रसप्रधान ऐतिहासिक रूपक 'नाटक' कहलाते थे। काल्पनिक प्रेमकथाओं से सम्बद्ध रूपक को 'प्रकरण' कहा जाता था। इसी प्रकार धूर्त्त एवं विटों के हास्यात्मक चरित वाले रूपक को 'भाण' स्त्रीपात्रों से रहित वीररस प्रधान एकांकी रूपक को 'व्यायोग' तीन अंकों वाले ऐतिहासिक रूपक को 'समवकार, भूत, प्रेत, राक्षस, यक्ष आदि की उपस्थापना करने वाले तथा भयानक दश्यों वाले रूपक को 'डिम' किसी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए संघर्षयुक्त चार अंकों वाले रूपक को 'ईहामृग' विनोद और शृङ्गारप्रधान एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होने वाले एकांकी रूपक को 'वीथी', सब को हंसाने वाले एकांकी रूपक को 'प्रहसन' तथा शोकग्रस्त स्त्रियों के करुण-क्रन्दन प्रधान एकांकी रूपक को 'उत्सृष्टिकांक' कहते हैं।

इसके अतिरिक्त उपरूपकों के रूप में भी नाटचकला का विकास हुआ है। उपरूपकों में "नाटिका" चार अंकों का स्त्रीपात्र प्रधान उपरूपक है। अभिनय-कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। भरत के नाटचशास्त्र में उपरूपकों का उल्लेख नहीं है। रूपक के एक प्रकार "नाटी" का उल्लेख है जो परवर्त्ती काल में 'नाटिका' के नाम से विख्यात हुई। नाटचशास्त्र के पश्चात् अग्निपुराण एवं

१. नाटचसर्वस्वदीपिका पृ० १०

२. मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।

३. नाट्यशास्त्र ३५।७८।

४. वही ३५।८४।

दशरूपक में उपरूपकों के रूप में नाटयकला का विकास देखा जाता है। उपरूपकों में 'प्रकरणिका', 'सट्टक' और 'त्रोटक' नाटिका की शैली के उपरूपक हैं। दस पुरुष और पाँच स्त्रियों के अभिनय से युक्त उपरूपक 'गोष्ठी' कहलाता था। 'हल्लीस', नाटयरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, श्रीगदित, विलासिका और भाणिका तथा गोष्ठी सहित ये दस उपरूपक एकांकी होते हैं। इनमें स्त्रीपात्रों की अधिकता पाई जाती है। ये प्रायः हास्य एवं शृङ्गार रस प्रधान हुआ करते थे। इनमें नृत्य, गीत एवं वाद्य की प्रधानता होती है। इनके अतिरिक्त नाटय नृत्य पर आश्रित दो अंकों का 'प्रस्थान' चार अंकों का 'शिल्पक' संग्रामादि वर्णनों से युक्त तीन या चार अंकों का 'संलापक' तथा हँसी मजाक से युक्त चार अंकों की 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक होते हैं।

प्राचीन काल में धार्मिक उत्सवों, त्योहारों एवं सम्मेलनों में सभी वर्गों में नृत्य गान हुआ करते थे। वैदिक साहित्य एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में नृत्यों की परम्परा विद्यमान थी। यह नृत्य-परम्परा नाट्य-परम्परा से पूर्ववर्तिनी है। नृत्य शब्द के मूल में 'नृत्' धातु है। नृत् धातु का अर्थ है गात्र-संचालन। पहले ताल एवं लय पर आश्रित गात्र-संचालन होता था जिसमें भावाभिव्यक्ति नहीं होती थी। इस प्रकार के अंग-संचालन को 'नृत्त' कहते थे[1]। किन्तु जब उसमें भावाभिनय का सन्निवेश हुआ तब उसे 'नृत्य' कहा जाने लगा[2]। नृत्य में जब रस, भाव, ताल, लय सभी का समावेश हुआ तब वह नाट्य कहलाया[3] जिसमें लोकवृत्त का सम्पूर्ण अभिनय किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले नृत्य-कला में थोड़ा सा अभिनय सन्निविष्ट कर उसे लोकरंजन के लिए उपयोगी बनाया गया और उनकी उपरूपक संज्ञा दी गई। ये उपरूपक या नृत्यरूपक कब अस्तित्व में आये कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना निश्चित है कि भरत के समय तक ये व्यवस्थित नहीं हो सके थे। अतः नाट्यशास्त्र में उनका विवेचन नहीं मिलता। इन उपरूपकों का प्रथम उल्लेख धनञ्जय के दशरूपकों में मिलता है। उन्होंने दशरूपकों के अतिरिक्त सात अन्य रूपकों का निर्देश कर उनमें भेद स्थापित किया कि दस भेद तो रसाश्रित होते हैं और शेष सात भेद भावाश्रित। उन सातों के नाम हैं—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य[4]। धनञ्जय ने इन्हें उपरूपक नहीं कहा है किन्तु आगे चलकर इनकी गणना उपरूपकों में होने लगी। अभिनवगुप्त ने आठ उपरूपकों का उल्लेख किया है जिनमें

१. नृत्तं तालल्याश्रयम् (दशरूपक) १।९;
२ अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् (वही)।
३. वही, पृ० ४;
४. वही, प्रथम प्रकाश, पृ० ५।

श्रीगदित और काव्य को छोड़कर शेष पांच धनञ्जय के और प्रेक्षणक, रासाक्रीड, हल्लीसक ये तीन और जोड़ दिये गये। आगे चलकर हेमचन्द्र ने दस, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने तेरह, शारदातनय ने बीस और विश्वनाथ ने अठारह उपरूपकों को स्वीकार किया है। इस प्रकार नाट्यकला उत्तरोत्तर विविध रूपकों में विकसित होती हुई विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अठारह उपरूपकों की स्थिति में पहुँच गई। विश्वनाथ के पूर्व अठारह उपरूपक नृत्यरूपक कहलाते थे, किसी किसी ने उन्हें उपरूपक नहीं कहा था। विश्वनाथ ने उन्हें उपरूपक की संज्ञा प्रदान की।

उपर्युक्त समस्त विवेचन को ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि नाटचकला का विकास नृत्त, नृत्य और संवाद के संयोग से हुआ है। यह विकास प्राग्वैदिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। प्राग्वैदिक काल में सिन्धु सभ्यता में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ज्ञात होता है कि उस समय नृत्यकला विकासावस्था में पहुँच चुकी थी। किन्तु पहले वह कला नृत्य के रूप में विकसित हुई और बाद में उसमें संवादात्मक तत्त्वों का समावेश हुआ। ओल्डनवर्ग के अनुसार गीतों का समन्वय पवित्र नृत्यों से हुआ, बाद में उसमें कथोपकथन भी मिल गया और साथ ही लोकप्रचलित नटों का भावप्रदर्शन का भी समन्वय हुआ[1]। ओल्डनवर्ग ने इस सिद्धान्त में नाटचकला के विकास की पूर्ण रूपरेखा आजाती है। भरत के नाटचयशास्त्र के रचना-काल तक नाटच-कला के विकास का एक व्यस्थित रूप निश्चित हो गया था क्योंकि नाटचशास्त्र में नाटच के सभी वर्गों पर विचार किया है। किन्तु नाटच का विकास रुका नहीं जारी रहा और उत्तरोत्तर बढ़ता गया। नाटचशास्त्र में स्वीकृत दश रूपक रंग-मंच पर विविध प्रकारों में अभिनीत होने से विविध अवस्थाओं में गुजरते हुए विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अठारह उपरूपकों में विकसित होती रही है। नाटचकला का सैद्धान्तिक विवेचन के साथ शास्त्रकारों ने प्रयोगात्मक व्यवस्था भी की है। फलस्वरूप उपर्युक्त सभी विधाओं के रूपकों का निर्माण होता रहा, उन्हें रंगमंच पर अभिनीत किया जाता रहा और तदनुकूल उनके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही। इस प्रकार नाटचकला की वह परम्परा आज-तक चली आ रही है।

●

---

१. संस्कृतनाटक (कीथ) पृ० १६।

संगीतकला का उद्गम व विकास

भारतीय परम्परा के अनुसार 'संगीत' शब्द से नृत्य, गीत और वाद्य तीनों का ग्रहण किया जाता है[1]। संगीत के अन्तर्गत यद्यपि नृत्य, गीत, वाद्य तीनों का समावेश है किन्तु उनमें गीत की प्रधानता रहती है। वाद्य का उसका उपकारक और नृत्य उपरञ्जक होता है। मानवीय जीवन का लक्ष्य है दुःख की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति। संगीतकला परमानन्द प्राप्ति का प्रमुख साधन है। क्योंकि संगीत के श्रवण से मानव-हृदय में स्थित राग-द्वेष आदि विकार और रजोगुण एवं तमोगुण दब जाते हैं और शुद्ध सत्त्व का उदय होता है। उस समय रागद्वेषादिविनिर्मुक्त मानव-हृदय स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है। वही अनिर्वचनीय आनन्द ब्रह्म है, रस है और वही गीत की आत्मा है। यदि कोई संगीतज्ञ संगीत के द्वारा उसकी सृष्टि नहीं कर सकता तो उसका संगीत निर्जीव कहा जायगा। तभी तो याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि जो इस आनन्द स्वरूप गीत का अभ्यास करते हैं वे तप आदि के कष्ट के अनुभव बिना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं[2]।

संगीत का उद्गम

दिव्योत्पत्तिवाद—

भारतीय परम्परा के अनुसार संगीतकला का उद्म स्वयम्भू ब्रह्मा से हुआ है। दत्तिल के अनुसार गन्धर्ववेद के प्रवक्ता ब्रह्मा हैं[3]। नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण के अनुसार नृत्य के आविष्कारक शिव हैं। सन्ध्या के समय शिव ने नृत्य करते हुए रेचकों एवं करणों के साथ अंगहारों की रचना की थी और उसमें तण्डु को दीक्षित किया था। फिर तण्डु के द्वारा भरत को शिक्षा दिलायी[4]। नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार शिव के डमरू से चौदह सूत्र उत्पन्न हुए हैं। उन्हीं से संगीतिक स्वरों की उत्पत्ति हुई है[5]। अभिनयदर्पण के अनुसार भगवती पार्वती ने लास्य का आविष्कार किया और बाणासुर की पुत्री को उसमें दीक्षित किया। उषा ने उस नृत्य को गोपियों को सिखाया, गोपियों ने सौराष्ट्र की वनिताओं को, सौराष्ट्र की स्त्रियों ने देश की विभिन्न ललनाओं को शिक्षित किया। इस प्रकार

---

१. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते। (संगीतरत्नाकर १।२१)

२. वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च विन्दति। (याज्ञवल्क्यस्मृति ४।११४)

३. गान्धर्वं नारदादिभ्यः प्रत्यगादौ स्वयम्भुवा। (दत्तिलम् २)

४. नाट्यशास्त्र ५।१७, १८ तथा अभिनयदर्पण ४।

५. नन्दिकेश्वरकाशिका पृ० १।

वह नृत्य समस्त भूमण्डल पर प्रचलित हुआ[1]। इस प्रकार नृत्यकला ताण्डव के आविष्कर्ता नटराज शिव तथा लास्य की प्रवर्त्तिका भगवती पार्वती हैं।

कुछ विद्वान् संगीत का उद्गम 'ओउम' से मानते हैं। उनका कहना है कि जब परमात्मा को 'एकोऽहं बहु स्याम' इस प्रकार का संकल्प होता है तो ब्रह्माण्ड में एक विचित्र प्रकार का कम्पन होता है। वह कम्पन ही संगीत की प्रथम किरण है और ब्रह्माण्ड को कम्पित करके जो स्वर निकला, वही 'प्रणवनाद' है। इसी प्रणव से ही समस्त ज्ञान एवं कलाएँ उत्पन्न हुई हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'ऋग् यजुः, साम से क्रमशः' 'अ उ म' इन तीन अक्षरों को लेकर 'ओउम्' शब्द बना है। इस 'ओउम्' शब्द में तीनों गुणों की सृजनात्मक तीन शक्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें 'अ' सृष्टयुत्पादक ब्रह्मा का 'उ' पालक विष्णु का तथा 'म्' संहारक महेश का प्रतीक है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन तीन स्वरों के विना 'ओउम्' का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसी 'ओउम्' से षड्ज आदि सात स्वरों का आविर्भाव हुआ। यह 'ओउम्' ही ब्रह्म है, अतः शब्द भी ब्रह्म है स्वर और व्यञ्जन भी ब्रह्म हैं; इसी में ताल, लय, स्वर सभी कुछ विद्यमान हैं। इस प्रकार 'ओउम्' शब्द संगीत के जन्म का आधार है[2]।

प्राकृतिक उपादान—

संगीत के विख्यात विद्वान् रिन्सोबोल्स ने अपनी पुस्तक 'संगीत के रेखा चित्रों' में लिखा है कि संगीत की उत्पत्ति 'जलध्वनि' से हुई। उनका कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम जब मानव को प्यास लगी तो वह अपनी प्यास बुझाने के लिए एक नदी के किनारे पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक चट्टान से जल की धाराएँ नीचे की ओर गिर रही है। उस रमणीय दृश्य को देखकर वह अपनी प्यास कुछ क्षणों के लिए भूल गया। उसने जल के गिरने से एक मधुर ध्वनि सुनी और उस मीठी ध्वनि को सुनने के लिए वह वहाँ प्रतिदिन आने लगा तथा उस जलध्वनि का अनुकरण भी करने लगा। फिर वह अपनी थकावट दूर करने के लिए उस जलध्वनि का प्रयोग करने लगा। यही जलध्वनि आगे चलकर संगीत के रूप में परिणत हुई[3]। इसी प्रकार वाद्य का उद्गम भी जलध्वनि से माना जाता है। नाटचशास्त्र के अनुसार मृदंगवाद्य की कल्पना पर गिरने वाले जलविन्दुओं के आघात शब्दों से हुई है[4]।

---

१. अभिनयदर्पण ४–७।

२. भारतीय साहित्य (संगीत परम्परा और भरतार्णव) वर्ष १४ पृ० ६१।

३. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ७। ४. नाट्यशास्त्र ३३।१०।

अरब के सुप्रसिद्ध इतिहासकार ओलासीनिज्म 'बुलबुल' से संगीत की उत्पत्ति मानते हैं। उनके अनुसार मानव ने संगीत को सर्वप्रथम बुलबुल से सीखा। सृष्टि के प्रारम्भ में जब मानव ने पृथ्वी पर पदार्पण किया तो वह एक पेड़ के नीचे विश्राम कर रहा था। उसी समय उसे एक पक्षी के कुछ मधुर स्वर सुनाई दिये जो उसे बहुत प्रिय लगे। इस प्रकार वह प्रतिदिन उस पक्षी के मधुर स्वर सुनने के लिए वहां आने लगा। धीरे-धीरे उसने उस पक्षी के मधुर स्वरों की नकल कर ली और उसके अभाव में उसी स्वर में वह अपना मनोरंजन भी कर लिया करता था। बाद में सुन्दर गाने के कारण ही उस चिड़िया का नाम बुलबुल रख दिया। सम्भवतः इसी कारण सुन्दर गाने वाले को भी 'बुलबुल' की उपाधि से विभूषित किया जाने लगा[१]। एक अन्य परम्परा के अनुसार सङ्गीत का उद्गम पशुपक्षियों की ध्वनियों से हुआ है[२]। तदनुसार आदिम मानव को पशुपक्षियों तथा प्रकृति की विभिन्न ध्वनियों को सुनकर तथा उसकी मधुरिमा को अनुभूत कर स्वयं उन ध्वनियों को गाने की प्रेरणा मिली होगी और उसकी मधुरिमा के वंशगत होकर उसी को बार-बार गुनगुनाने लगा होगा। इसी से सङ्गीत का उद्गम हुआ होगा, यह सम्भव है।

सङ्गीतकला की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा विचित्र है। विश्व के प्रसिद्ध सङ्गीतचार्यों के मत एवं विचारों के अध्ययन करने के पश्चात् भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचना बड़ा कठिन है, क्योंकि उनके बहुत से सिद्धान्त किम्वदन्तियों पर आधारित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सङ्गीत का उद्गम मानव के जन्म के साथ हुआ होगा। यह किन्हीं प्राकृतिक उपादानों से उद्भूत नहीं, बल्कि दिव्य हैं। प्लेटो का मत है कि सङ्गीत समस्त विद्वानों का मूलाधार है तथा ईश्वर के द्वारा इसका निर्माण विश्व के वर्तमान विसंवादी प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए हुआ है[३]। वस्तुतः सृष्टि की प्रारम्भिक बेला में जब मानव ने भूमि पर पदार्पण किया होगा, मानव जन्म के साथ सङ्गीत की उत्पत्ति हुई होगी। क्योंकि प्रारम्भ में मानव मनोगत भावों को प्रकाशित करने के लिए अव्यक्त नादों तथा अंग-

---

१. विश्व का सङ्गीत (ओलासीनिज्म) भारतीय साहित्य पृ० ६३।

२. षड्जं वदति मयूर ऋषभं चातको वदेत्।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्।
पुष्पसाधारणे काले कोकिल : पंचमो वदेत्।
प्रातःकाले तु सम्प्राप्ते दर्दुरो धैवतो वदेत्॥
सर्वदा च तथा देवि निषादं वदते गजः
(बृहद्देशी में कोहल के नाम से उद्धृत)

३. थ्योरी आफ अरब म्यूजिक पृ० ६३–६४।

संचालन की क्रियाओं का सहारा लिया होगा। किन्तु अव्यक्त रहने के कारण वे ध्वनियाँ वाक्यार्थ जैसे अर्थबोधन में बाधक रही होंगी। फलतः भाषा का आविष्कार हुआ होगा। मानव जब भाषा के द्वारा भावों को प्रकाशित करने में अग्रसर हुआ होगा तो प्रारम्भ में भावानुसार ध्वनियों का सहारा लिया होगा। उस समय वक्ता की ध्वनियों में भावानुसार उतार-चढ़ाव आये होंगे। ये ध्वनियाँ ही संगीत के स्वरों की जननी हैं और भाव-बोधन में सहायिका अंग-संचालन की स्वाभाविक मुद्राएँ ही नृत्य की जन्मदात्री हैं। मानव चेतना के विकास के साथ इसमें भी विकास होता रहा है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि भारतीय सङ्गीत का जन्म धर्म की इस पावन भूमि पर मानव जन्म के साथ हुआ है, उसमें विलासिता का किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं। अतः भारतीय सङ्गीत ईश्वर रूप है, शिव रूप है, सत्, चित् और आनन्द रूप है और इसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तीनों का रूप निहित है।

सङ्गीतकला का विकास—

भारतीय सङ्गीतकला का उद्गम सृष्टि के अरुणोदय काल में उस पुण्य-बेला में हुआ जब ब्रह्मा ने मानव का सृजन किया था। उसी समय लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने सङ्गीतकला की भी सर्जना कर दी। प्रकृति की गोद में अवतरित सङ्गीतकला में शनैः शनैः विकसित पल्लवित एवं पुष्पित हो अपने सौरभ से विश्व के प्राङ्गण में प्रसारित कर दिग्दिगन्तों को सुरभित किया है। जीवन के अरुणोदयकाल से लेकर अबतक सङ्गीतकला की अविच्छिन्न धारा अबाध गति से अनवरत प्रवाहित होती चली आरही है और उसकी गति में निरन्तर विकास होता रहा है। प्राग्वैदिक कालीन मोहोञ्जोदड़ों एवं हड़प्पा नामक स्थानों जो उत्खन हुआ है उसमें प्राप्त अवशेषों से तत्कालीन सङ्गीतकला की रूपरेखा का ज्ञान होता है। हड़प्पा में एक नृत्यरत पुरुष की खंडित मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें नर्त्तक का दायाँ पैर भूमि पर टिका हुआ है और बायाँ पैर नृत्यक्रिया में ऊपर उठाया गया है[1]। नृत्यकलाविशारद विद्वान् इसे नटराज शिव का स्वरूप मानते हैं। इसी प्रकार मोहोञ्जोदड़ों में एक कांस्य मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसमें सुकोमल नारी का ललित अभिनय अंकित हैं। नर्त्तकी का शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में है। केश जूड़े में बँधे हुए हैं और दोनों हाथों में पर्याप्त चूड़ियाँ अंकित हैं। दायाँ पैर एक स्थान पर टिका है और बायाँ पैर नृत्य की मुद्रा में आगे बढ़ा हुआ है। दायाँ हाथ कमर पर टिका हुआ है और बायाँ हाथ नीचे की ओर लटका हुआ है। ऐसा लगता है कि नर्त्तकी अभी थिरक उठेगी[2]। इनके अतिरिक्त हड़प्पा में प्राप्त एक चित्र व्याघ्र के सामने ढोल बजाते हुए एक

---

१. भारतीय सङ्गीत का इतिहास, पृ० १५। २. वही।

पुरुष अंकित है। इसी प्रकार दो अन्य मुद्राओं पर ढोल अंकित हैं जिसके मुख चर्म से आबद्ध है। इसी प्रकार ढोल की आकृति का एक वाद्य एक मृत्तिका की मूर्ति के गले में लटकता हुआ प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त झांझ और करताल जैसे वाद्य भी यहाँ उपलब्ध हुए हैं[१]। इन मूर्तियों एवं चित्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय सङ्गीत का पर्याप्त प्रचलन था तथा धार्मिक एवं लौकिक समारोहों पर गीत, नृत्य एवं वाद्यों द्वारा लोकरंजन किया जाता था। नृत्य के साथ गीत एवं वाद्यों की सङ्गत भी की जाती थी। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनके द्वारा तत्कालीन सङ्गीतकला की समृद्धि का ज्ञान होता है।

वैदिक युग में सङ्गीतकला –

वैदिक युग में सङ्गीतकला का विकास हो चुका था। वैदिक ऋषि स्तोत्रों का गान विविध प्रकार से करते थे। ऋग्वेद में गीत प्रकारों में गति, गाथा, गायत्र, और साम के नाम मिलते हैं। गाथा वह गीत प्रकार है जिनका गायन लौकिक एवं धार्मिक समारोहों पर किया जाता था[२]। ऋग्वेद में गीत के लिए 'गायत्र' शब्द भी प्राप्त होता है[३]। साम-गान का उल्लेख ऋग्वेद में अधिक पाया जाता है[४]। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकाल में सामगान का बहुत प्रचार था। धार्मिक एवं लौकिक समारोहों पर साम का गान होता था। ऋग्वेदकाल में गायन के साथ वादन का निरन्तर साहचर्य रहा है। ऋग्वेद में दुन्दुभि, वाण, वेणु, कर्करि, नाड़ी, अघाटि और वीणा आदि वाद्यों के नाम पाये जाते हैं[५]। इनमें दुन्दुभि और वाण का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आया है। 'वाण' एक एकतन्त्रीवाद्य है जिसकी ध्वनि की उपमा पर्जन्य—धारा से दी गई। 'कर्करि' एक वाद्यविशेष है। 'गर्गर' गर्गर ध्वनि करने वाला एक वाद्य है। 'आघाटि' परखी से निर्मित वाद्य है। 'नाड़ी' एक सुषिर वाद्य है जो फूंक कर बजाया जाता है। वीणा एक तन्त्रीवाद्य है। ऋग्वेदभाष्य में 'वीणा' के सम्बन्ध में निम्न आख्यायिका मिलती है किसी समय असुरों ने कण्व ऋषि को अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया था और उनकी आँखों को भी बन्द कर दिया था। असुरों ने कहा कि यदि उनमें ब्राह्मणत्व है तो विना नेत्रों के उषागमन की बात बतायें। तब

१. इण्यिन कल्चर खण्ड ४ संख्या २ पृ०, १५२ पर ऋग्वेद एण्ड मोहोञ्जोदड़ों शीर्षक लेख।

२. शतपथ ब्राह्मण १३।१.५.६ तथा १३।४ २.८।

३. ऋग्वेद १।१२।११।

४. वही ७।३३।४०, १०।३१।११।

५. वही १।२८।५, ९।५१।१, ७।९७।८, १।८५।१०, १।११८।७, २।४३।३ ८।६९।९, १०।१४६।२, १०।१३५।७।

अश्विनों ने अपने प्रातःकालीन वीणावादन से उन्हें उषःकाल की सूचना दे दी। तब असुरों ने उन्हें मुक्त कर दिया[1]। ऐतरेय आरण्यक में वीणा के दो प्रकार बताये हैं—दैवी और मानुषी[2]। ऋग्वेद में गीत एवं वाद्य के साथ नृत्यकला का भी बाहुल्य पाया जाता है। अरुणोदय कालिक धूमिल प्रकाश में विश्व में स्वर्णिम आभा बिखरने वाली रम्य उषा को देखकर वैदिक ऋषि को सुसज्जित नर्तकी का विभ्रम हो जाता है[3]। उस समय नृत्यकला का आयोजन खुले मैदान में होता था जिसमें नर-नारी दोनों सम्मिलित होते थे। ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक सामाजिक उत्सव में नर-नारी मिलकर रात रात भर नृत्य करते थे। महाव्रत नामक सोमयाग में दासियों का सामूहिक नृत्य होता था जिनमें तीन से छः स्त्रियाँ शिर पर गगरी रखकर वर्त्तुलाकर गति से नाचती थी[4]। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में अनेक प्रकार के सङ्गीत के कार्यक्रम होते थे। धार्मिक एवं लौकिक उत्सवों पर नृत्य, गीत, वाद्य तीनों का विशेष आयोजन होता था। यहीं से सङ्गीतकला का विकास हुआ।

यजुर्वेद में सङ्गीतकला के विकास का उत्कर्ष दिखाई देता है। यजुर्वेद के ब्राह्मणों तथा आरण्यकों से स्पष्ट है कि उस समय साम का गायन केवल सामगायकों तक ही सीमित न था बल्कि अन्यान्य वैदिक शाखाओं में भी प्रचलित था[5]। वैदिक संगीत का महत्त्वपूर्ण अंग 'स्तोम' स्तवन की एक विशिष्ट प्रणाली है[6]। ऋचाओं के विशिष्ट क्रम एवं आवृत्ति से 'स्तोम' का निर्माण होता है। आधुनिक संगीत में गायक गीत की एक ही पंक्ति को विभिन्न प्रकारों से गाकर गीत में नवीनता प्रदान करता है तथा नव-नव रागरूपों का निर्माण करता है। ठीक उसी प्रकार 'स्तोम' विभिन्न पर्यायों में कल्पित किया जा सकता था। अन्यथा एक ही ऋचा को अनेक बार आवृत्त कर गाने का कोई तुक ही नहीं था[7]। यजुर्वेद में विशिष्ट सामों का सम्बन्ध विशिष्ट ऋतुओं से निर्दिष्ट किया गया है जैसे रथन्तर साम का गान वसन्त ऋतु में, बृहत्साम का ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का वर्षा ऋतु में तथा शाक्वर एवं रैवत का हेमन्त ऋतु में गान विहित है। यजुर्वेद में दुन्दुभि, वीणा, तूणव, वाण, संख और तलव आदि वाद्यों का उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता में दुन्दुभि, तूणव और वीणा के सम्बन्ध में एक आख्यायिका उपलब्ध है

---

१. ऋषये चक्षुः व्युष्टाया उषसः प्रकाशकं वीणाशब्दं प्रत्यधत्तं कृतवन्तौ---कण्वाय चक्षुरिन्द्रियं प्रत्यधत्तं प्रत्यस्थापयतम् (सायणभाष्य, १।११८।८७)

२. ऐतरेय आरण्यक ३।२५।

३. अधिपेशांसि वपते नृतुरिवा। ऋग्वेद १।९२।४।

४. ऐतरेय आरण्यक १।१।

५. तैत्तिरीयब्राह्मण १।२।

६. स्तोमः स्तवनात् (निरुक्त ७।३।६)

७. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० २९।

कि एक बार वाग्देवी किसी कारणवश देवों से अप्रसन्न होकर वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गई थी तभी से वाणी दुन्दुभि, तूणव, वीणा आदि काष्ठनिर्मित वाद्यों से ध्वनित होती है[1]। तैत्तिरीय संहिता में बताया गया है कि 'वाण' नामक वाद्य में सौ तन्त्रियाँ होती थी[2]। यजुर्वेद के अनुसार 'वाण' का एक विधान तन्तुवाद्य था और 'वीणा' उसका छोटा रूप है। वीणा को यजुर्वेद में साक्षात् 'श्री' रूप बताया गया है। यजुर्वेद में गीत और वाद्य के साथ नृत्य भी वर्णित है। महाव्रत नामक सोमयाग में शिर पर कलश धारण करने वाली दासियों के मण्डलाकार नृत्य का आयोजन होता था। नृत्य एवं गीत के साथ वीणा आदि वाद्यों की संगत की जाती थी। उपर्युक्त सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि यजुर्वेद काल में संगीतकला का विकास हो चुका था। लौकिक एवं धार्मिक अवसरों पर नृत्य, गीत एवं वाद्यों का आयोजन होता था और संगीत को सुनकर लोग इतने आत्मविभोर हो जाते थे कि रात भर जागते रहते थे।

सामवेद—

संगीतकला के विकास की दृष्टि से सामवेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामवेद के कौथुम शाखा में चार प्रकार के गानग्रन्थ बताये गये हैं—ग्रामेगेयमान, आरण्यकगान, ऊहगान और ऊह्यगान। इनमें ग्रामेगेयमान और आरण्यकगान दोनों प्रकृतिगान हैं और इन्हें 'योनिगान' भी कहते हैं। ऊहगान और ऊह्यगान इन दोनों गान प्रकारों का आधार उपरिनिर्दिष्ट दोनों गान ग्रन्थ ग्रामेगेयगान तथा आरण्यकगान हैं[3]। वैदिक साहित्य में सामगान का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। साम के गानपक्ष के सम्यक् निर्वाह के लिए सामगीतों को विभिन्न विभागों में विभाजित किया गया था। वैदिक साहित्य में सामगान के पाँच प्रकार बनाये हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इन्हें 'भक्ति' भी कहते हैं।

१. **प्रस्ताव**—यह भाग 'हुम्' से प्रारम्भ होता है और इसका ऋत्विज 'प्रस्तोता' होता है। जैसे—हु ओग्वाइ'।

२. **उद्गीथ**—यह भाग 'ओम्' से प्रारम्भ किया जाता है और इसका ऋत्विज 'उद्गाता' होता है। जैसे—"ओम् आयाहि वीतये गुणानो हव्यदातये"।

३. **प्रतिहार**—यह दो विभागों को जोड़ने वाला होता है और इसका ऋत्विज 'प्रतिहर्त्ता' कहलाता है। जैसे—"नि होता सत्सि वर्हिषि ओम्"।

---

१. वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामद्यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभौ या तूणवे या वीणायाम्। (तैत्तिरीय संहिता ६।१।४)।

२. वाणः शततन्तुर्भवति (तैत्तिरीय संहिता ७।८।९)।

३. जैमिनीय संहिता पृ० १०।

४. उपद्रव—प्रतिहर्त्ता के द्वारा किये गये भाग का खण्डशः गान मुख्य उद्गाता पुनः करता है। इसका ऋत्विज 'उद्गाता' होता है। जैसे—"नि होता सत्सि व"।

५. निधन—प्रतिहार का शेषभाग जिसे 'ओम्' को जोड़कर विभिन्न विभाग के रूप में गाया जाता है उसे 'निधन' कहते हैं। इस भाग को प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता तीनों ऋत्विज मिलकर गान करते हैं। जैसे—"हिषि ओम।

वैदिक वाङ्मय में तीन प्रकार के स्वर स्वीकार किये गये हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वैदिक काल में मन्त्रों का गान इन्हीं तीन स्वरों में किया जाता था। इन तीन स्वरों से साम के सप्त स्वरों का विकास हुआ है। सामवेद के प्रातिशाख्य ग्रन्थों से स्पष्ट है कि साम में ऋग्वेद के समान तीन ही स्वरों का प्रयोग होता रहा है और उनका अभिधान उदात्त, अनुदात्त और स्वरित रहा। इन्हीं स्वरों के उच्चतर ध्वनियों के लिए उच्चैस्तर[1] (उदात्ततर) तथा सन्नतर[2] (अनुदात्ततर) अभिधानों का प्रयोग होता रहा है। इन्हीं से विकसित होकर साम के सप्त स्वरों का निम्न अभिधान पड़ा—कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार[3]। ये ही सामगान में प्रयुक्त सप्त स्वर हैं। गान्धर्व में इनका अभिधान व क्रम इस प्रकार है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। प्रातिशाख्य एवं शिक्षाग्रन्थों में इन्हीं सात स्वरों का विधान बताया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक स्वर मुख्यतः तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इन्हीं तीन स्वरों से साम के सात स्वर विकसित हुए हैं और साम के उन्हीं सात स्वरों को नामान्तर से गान्धर्ववेद में स्वीकार किया गया है। उक्त गान्धर्व स्वरों से ही लौकिक स्वरों का विकास हुआ है।

पाणिनि और संगीतकला—

पाणिनि की अष्टाध्यायी में संगीतकला का एक अस्पष्ट चित्र दृष्टिगोचर होता है। पाणिनि ने ललितकलाओं के लिए 'शिल्प' शब्द का प्रयोग किया है जो मुख्यतः कलाकौशल का बोधक प्रतीत होता है। उनके अनुसार शिल्प के दो विभाग हैं—चारु और कारु। चारु के अन्तर्गत संगीतादि ललितकलाओं का समावेश था। पाणिनि ने गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों को संगीत का अंग माना

---

१. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, ५९२;   २. वही, पृ० ५९३।

३. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य २३।१३।१४।

है। उन्होंने गीत के लिए 'गीति'[१] तथा 'गेय'[२] गान करने वाले के लिए गायक[३] स्त्रीगायिका के लिए गायिका[४] एवं गायनी शब्द का प्रयोग किया है। नृत्य करने वाले के लिए 'नर्त्तक'[५] तथा वादक के लिए वीणावादक, परिवादक[६], तूर्य[७] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वाद्यों के लिए दर्दुर, झर्झर, मड्डुक, पणव आदि[८] तथा इनके वादकों को झार्झरिक माड्डुकिक पाणविक आदि कहा गया है। हाथ से ताल देने वाले को 'पाणिघ' अथवा 'ताड़घ' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय संगीत का व्यापक प्रचार था और समाजोत्सवों पर इनका आयोजन होता था।

शिक्षा प्रातिशाख्य एवं संगीत—

वेद के षडङ्गो में शिक्षाग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षाग्रन्थों का मुख्य विषय वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान है। शिक्षा ग्रन्थों में संगीत सम्बन्धी सप्त स्वरों का सम्बन्ध उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों से बताया गया है। शिक्षा ग्रन्थों के अनुसार इन्हीं तीन स्वरों से षड्जादि सप्त स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है[९]। नारदीयशिक्षा के अनुसार स्वरों के अपने स्थान से उच्च तथा नीचे किये जाने पर अन्य स्वरों का उद्भव करते है[१०]। उनके अनुसार स्वरों का विकास एक दो तथा तीन स्वरों से क्रमशः होता रहता है। जैसे एक स्वर से युक्त गान 'आर्चिक' दो स्वरों से युक्त गान 'गाथिक' तथा तीन स्वरों से युक्त गान 'सामिक' कहा जाता है[११]। इन्हीं तीन स्वरों से कालान्तर में संगीत के सात स्वरों का विकास हुआ है। साम के ये सातों स्वर निम्नलिखित हैं—कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार[१२]। शिक्षाग्रन्थों में इन्हें क्रमशः षड्ज. ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद कहा गया है। इन्हीं स्वरों का न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी वेदों में गान किया जाता है। जैसे ऋग्वेद के अनुयायियों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्वर का प्रयोग पाया जाता है। कभी-कभी उच्च या कुष्टस्वर का भी प्रयोग किया जाता है। यजुर्वेद की

---

१. अष्टाध्यायी ३।३।९५; २. वही० ३।४।६८; ३. वही० ३।१।१४६।
४. वही० ३।१।१४७; ५. वही० ३।१।१४५; ६. वही० ३।२।१४६।
७. वही० २।४।२; ८. वही० ४।४।५६।

९. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभदैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमा।
(पाणिनीयशिक्षा १२।१२ तथा नारदीयशिक्षा १।८।८)

१०. उच्चनीचविशेषात् हि स्वरान्यत्वं प्रवर्त्तते। (नारदीय शिक्षा १।१।१)

११. वही० १।१।१-३; १२. तैत्तिरीप्रातिशाख्य २२।१३।१४।

तैत्तिरीय शाखा में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं मन्द्र इन चार स्वरों का प्रयोग किया जाता है। सामवेद की ताण्डि तथा वाजसनेयी शाखा में प्रथम तथा द्वितीय स्वर का प्रयोग होता है। प्रायः गान में पाँच या छः स्वरों तक ही प्रयोग होता रहा है केवल कौथुम शाखा में दो सामों का गान सात स्वरों में किया जाता था। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार संगीत के सप्त स्वरों का 'यम' अभिधान है। चाहे वे कुष्टादि सामिक स्वर हों अथवा षड्जादि लौकिक स्वर हों, दोनों के लिए 'यम' संज्ञा है। नारदीयशिक्षा के अनुसार स्वरमण्डल के अन्तर्गत सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएँ और उनचास तानें हैं। नारद के अनुसार गेय वाद्य और उपवादन इन तीनों का सम्मिलित रूप गान्धर्व है। नारद, याज्ञवल्क्य आदि ने गान्धर्व के षड्जादि सप्त स्वरों का प्राणियों की ध्वनि के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया है। तदनुसार मयूर की ध्वनि षड्ज है, गौ की ऋषभ, अजा की गान्धार, क्रौंच की मध्यम, कोकिल की पंचम, अश्व की धैवत तथा हाथी की निषाद है[1]। संगीत के मर्मज्ञ विद्वान् रे का कहना है कि इन्हीं पशु-पक्षियों की शब्द-ध्वनि से सात स्वरों की उत्पत्ति हुई है। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि शिक्षाशास्त्र में नारदीयशिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व है। इस शिक्षाग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य सामवेदीय स्वरोच्चारण का स्वरूप स्पष्ट करना है। इस शिक्षाग्रन्थ में ग्रन्थकार पूर्ण सफल दिखाई देते हैं। इस प्रकार संगीतकला के विकास में शिक्षाग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

महाकाव्यकाल और सङ्गीतकला—

संस्कृत वाङ्मय में वाल्मीकीय रामायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रामायण-काल में सङ्गीत के लिए 'गान्धर्व' अभिधान प्रचलित था, जिसके अन्तर्गत 'गीत' एवं 'वाद्य' दोनोंका समावेश था। रामायण में लव-कुश के सङ्गीतकला में मर्मज्ञ होने का संकेत मिलता है। रामचन्द्रजी के कहे जाने पर उन्होंने मार्गशैली में गान्धर्व का गान किया था[2] और राम के आदेश से ही उन्होंने स्वर, लय, पद, ताल, प्रमाण मूर्च्छना आदि अंगों से युक्त शास्त्रशुद्ध गान करके लोगों को चमत्कृत कर दिया था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सङ्गीत के मार्ग एवं देशी नामक भेद से लोग परिचित थे। रामायण में नृत्त, नृत्य एवं लास्य तीनों का उल्लेख प्राप्त

---

१. षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौंचो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधरणे काले पिको वक्ति च पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः॥
(नारदीयशिक्षा १।५।४-५)

२. ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधानसम्पदा।

होता है[१]। नृत्त में ताल एवं अंगविक्षेप पर जोर दिया जाता था और नृत्य में अंग प्रत्यंगों के संचालन द्वारा भावों का प्रदर्शन किया जाता था तथा 'लास्य' सुकुमार नृत्य का एक प्रकार था जिसमें गीत एवं वाद्य के साथ नृत्त एवं नृत्य दोनों का समावेश होता है[२]। नृत्य का प्रयोग धार्मिक एवं लौकिक दोनों अवसरों पर किया जाता था। वीणा उस समय का लोकप्रिय वाद्य रहा है। नर्त्तकियों के नृत्य करते समय विपञ्ची वीणा से संगत की जाती थी। आनद्धवाद्यों में दुन्दुभि भेरी, मृदंग, पणव, मुरज आदि का उल्लेख मिलता है[३]। रामायणकाल में साम और गान्धर्व में भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। साम का गान केवल यज्ञ के अवसरों पर उद्गाता द्वारा गाया जाता था और गान्धर्व लौकिक सङ्गीत था। गान्धर्व के अन्तर्गत स्थान, ताल, लय, प्रमाण, जाति तथा रस का समावेश था। उस समय उक्त दोनों गान प्रणालियों का प्रचलन था। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय सङ्गीतकला का विकास हो चुका था। सामाजिक लोकोत्सवों पर गीत, वाद्य, नृत्य आदि का आयोजन होता था। गान्धर्व का गान मार्ग और देशी दोनों शैलियों में किया जाता था। नृत्य के अन्तर्गत सुकुमार अंगहारों वाला लास्य का भी प्रदर्शन होता था जो गीत एवं वाद्य के साथ नारियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता था।

महाभारतकाल में सङ्गीतकला की वैदिक और लौकिक दोनों गान-प्रणालियों का व्यापक प्रचार दृष्टिगोचर होता है। यज्ञादि धार्मिक अवसरों पर सामगान किया जाता था। लौकिक सङ्गीत गान्धर्व नाम से व्यवहृत होती थी। इनके अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों का समावेश था। नारद गान्धर्व के प्रतिष्ठापक आचार्य थे[४]। गान्धर्व कला में निपुण गन्धर्व नृत्य, गीत, वाद्य आदि के द्वारा देवों का मनोरंजन करते थे[५]। गीत, वाद्य, नृत्य महाभारतकाल में लोक-जीवन के अंग थे[६]। नृत्य, गीत आदि का प्रयोग उत्सवों पर किया जाता था। गीत और नृत्य के साथ वाद्य का भी साहचर्य रहा है। महाभारत में वादन के अन्तर्गत ततवाद्य, विततवाद्य, घनवाद्य और सुषिरवाद्य इन चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया गया है। वीणा और वल्लकी ये दोनों स्वतन्त्र तन्त्रीवाद्य थे। उस समय तन्त्रीवाद्यों में वीणा सर्वाधिक लोकप्रिय थी। यज्ञादि उत्सवों पर भी गायन के साथ वीणावादन होता था। वीणा में सात

---

१. वाल्मीकिरामायण ४।५।१७, ५।१०।३६, २।२०।१०, ३।६३।४।
२. वही ३।६३।४। ३. ५।१०।३७–४५।
४. महाभारत शान्तिपर्व २१०।२१।
५. वही, सभापर्व ५।२४ तथा अश्वमेधपर्व ९४।१३।
६. वही आदिपर्व २०६।४, २०७।१४ सभापर्व ५।२४, ८।३६, शान्तिपर्व २९७।२९६।

तन्त्रियाँ होती थी। भेरी, मृदंग, पणव, दुन्दुभि, मुरज, पटह, आदि वाद्यों का प्रयोग प्रायः युद्ध के अवसरों पर उत्साहवर्धन के लिए किया जाता था। महाभारत में गीत और वाद्य के साथ ताल-विशेषज्ञ व्यक्तियों का भी उल्लेख है[1]। महाभारतकाल में नृत्य का महत्त्व कम नहीं था। यज्ञ में, देवता एवं राजा की स्तुति में, नृत्य-स्थानों में नृत्य होते थे। नृत्य में गायन-वादन और ताल तीनों का साहचर्य रहता था[2]। महाभारत में शिव के 'ताण्डव' नृत्य का भी उल्लेख हुआ है जिसे 'महानृत्य' कहा गया है। उस समय सङ्गीत का व्यापक प्रचार था। राजकुमारियों, अन्तःपुर की स्त्रियों के लिए सङ्गीत शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। मत्स्य राज्य में युवतियों की नृत्यशिक्षा के लिए विशाल नृत्यभवन का निर्माण किया गया था। षड्ज एवं मध्यम ग्राम के अतिरिक्त गान्धारग्राम का विशेष प्रचलन था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उस समय सङ्गीतकला को समाज में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। धार्मिक एवं लौकिक उत्सवों पर नृत्य, गीत, वाद्य आदि का आयोजन किया जाता था।

कौटलीय अर्थशास्त्र एवं सङ्गीतकला—

कौटलीय अर्थशास्त्र में सङ्गीत को एक कला माना गया है। कलाकारों में नर्तक, वादक, कुशीलव, चारण, गणिका आदि का समावेश होता था। इनमें से कुछ कलाकार जनता के आश्रय से अपनी जीविका चलाते थे और कुछ कलाकारों को राज्य से जीविकालाभ होता था। गणिका एवं नटों की जीविका पूर्णतः सङ्गीत पर आधारित थी। गणिका दासी एवं उनकी सन्तानों को गीत, नृत्य, नृत्त, वाद्य, नाट्य आदि कलाओं की शिक्षा देने के लिए राज्य की ओर से व्यवस्था थी जिसका संचालन सुयोग्य आचार्यों द्वारा होता था और राज्य शासन उनका व्यय वहन करता था। इस पाठ्य-क्रम में गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य आदि सभी कलाओं की शिक्षा की व्यवस्था थी[3]। कौटल्य के अनुसार गीत, वाद्य और नृत्य काममूलक व्यसनों में गिने जाते थे[4] और उनके कलाकारों गायक-वादकों को कुत्सित दृष्टि से देखा जाता था। कौटल्य के अर्थशास्त्र में वाद्यभाण्ड तूर्य, वीणा, वेणु, मृदंग, दुन्दुभि आदि वाद्यों का उल्लेख है[5]। कौटल्य के समय गायक,

---

१. महाभारत, सभापर्व ४।४४।　　　　२. वही ७।६१।१५।

३. 'गीतवाद्यनृत्यपाठ्यनृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंग वैशिककलाज्ञानानि गणिकादासीरंगोपजीवनीश्च ग्राह्यतो राजमण्डलादाजीवकं कुर्यात्। गणिकापुत्रान् रंगोपजीवनीश्च मुख्यान् निष्पादयेयुः सर्वतालावचराणांश्च।' (कौटलीय अर्थशास्त्र २।२७ तथा ३।१६, २।६६, ४।४, ५।३);　　　　४. वही पृ० ३२६–३८०।

५. वही १।१२, १।१९, १।३४, २।२७, २।३६, १३।३।

वादक आदि कलाकारों को अपने व्यवसाय के लिए स्वतन्त्रता थी किन्तु 'शासन' की ओर से उनपर कड़ी निगरानी रखी जाती थी ।

कामसूत्र और सङ्गीतकला—

वात्स्यायन रचित 'कामसूत्र' कला-विषयक एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें चौसठ कलाओं का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु उनमें संगीतकला का सर्वाधिक महत्त्व है। संगीत नागरिक जीवन का प्रमुख अंग था। वात्स्यायन के अनुसार गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकला, जलक्रीड़ा के अन्तर्गत उदकवाद्य का वादन, वीणा एवं डमरू का वादन आदि कलाएँ सभ्य नागर के लिए आवश्यक बताई गई है। वीणा उस समय का लोकप्रिय वाद्य था। नृत्य गीत और वाद्य के साथ भी होता था और एकाकी भी। संगीत की शिक्षा के लिए संगीतशालाएँ होती थी। जहां नागर की सन्तानें तथा गणिकाएँ गीत, वाद्य एवं नृत्य की शिक्षा ग्रहण करती थी। उस समय समाज एवं गोष्ठियों का प्रचलन था जिसमें सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। प्रत्येक पक्ष अथवा मास में सरस्वती मन्दिर में संगीत का सार्वजनिक आयोजन होता था। जिसमें बाहर के कलाकार भी बुलाये जाते थे। उसमें कुशल संगीतज्ञों एवं कुशीलवों द्वारा कला का प्रदर्शन होता था और उनमें योग्य कलाकारों का सम्मान भी किया जाता था[1]। वात्स्यायन के अनुसार ऐसे अनेक अवसरों पर नृत्य, गीत, वाद्य कलाओं का प्रदर्शन होता था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय समाज में संगीतकला का विशेष प्रचार था। समाज के सभी वर्ग के लोग संगीत के प्रेमी थे। यही कारण है कि सामूहिक योजनाओं के अतिरिक्त लोगों के घरों पर भी गोष्ठियाँ होती थी।

बौद्धसाहित्य एवं सङ्गीतकला—

बौद्धयुग सङ्गीतकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। उस समय सङ्गीतकला को राज्याश्रय प्राप्त था। गायक, वादक एवं नर्तकों की नियुक्ति राजसभा में की जाती थी। इसके अतिरिक्त विशिष्ट अवसरों पर राज्य की कुशल गणिकाओं को गायन, वादन तथा नर्तन के लिए आमन्त्रित किया जाता था[2]। सामाजिक समारोहों एवं लोकोत्सवों पर गीत, वाद्य एवं नृत्य का आयोजन होता था। उस समय स्वर, ग्राम एवं मूर्च्छना के साथ रागों का आलाप होता था। बौद्धसाहित्य में ततवाद्य, विततवाद्य, घनवाद्य और सुषिरवाद्य इन चतुर्विध वाद्यों

---

१. पक्षस्य मासस्य वा प्राज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नित्यं लभेरन। (कामसूत्र १।४।१५–१६)

२. जातक १।४३७।

का उल्लेख पाया जाता है। इनमें ततवाद्यों के अन्तर्गत वीणा, विपञ्ची, वल्लकी, महती, कच्छपी, नकुली, परिवादिनी तथा तुम्बवीणा का निर्देश है। वीणा इस समय का प्रमुख एवं लोकप्रिय वाद्य था। विततवाद्यों में मृदंग, पणव, भेरी, दुन्दुभि का विशेष प्रचलन था और घनवाद्यों में घंटा, झल्लरी, कांस्यताल प्रमुख थे। सुषिरवाद्यों में शंख, तूर्य, शृंग, कुराल का विशेष प्रचलन था। लोकोत्सवों पर नृत्य का प्रदर्शन किया जाता था। बौद्धसाहित्य में एक ऐसे नृत्य का उल्लेख है जिसमें 'तालपुर' नामक एक अभिनेता पांचसौ नर्त्तकियों के साथ नृत्यप्रदर्शन कर नागरिकों को मोहित करता था[१]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्धयुग में सङ्गीत-कला का विशेष प्रचार था और समय-समय जनरंजनार्थ उनका प्रदर्शन होता था।

जैनसाहित्य और सङ्गीतकला—

जैन साहित्य में सङ्गीतकला के गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों तत्त्वों का निर्देश मिलता है[२]। जैन सूत्रों में गीत एवं नृत्य के साथ, तत, वितत, धन, सुषिर इन चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है जिनमें कुछ नवीन वाद्यों का भी निर्देश प्राप्त होता है। ततवाद्य के अन्तर्गत वीणा, विपंची, वल्लरी, कच्छपी, भामरी, नकुल, तुणक, पानक, तुम्बवीणा[३], वितत के अन्तर्गत मृदंग, दुन्दुभि, झल्लरी, पटह, भेरी, पणव, मुरज, हुडुक, भंभा, नन्दि, मृदंग,[४] सुषिरवाद्य के अन्तर्गत शंख, वेणु, शृंग, पिरिपिरिया, तूण, इल्ल[५] तथा वनवाद्य के अन्तर्गन कांस्य, ताल, लत्तिय, गौहिय, किरकिरिया आदि[६] का उल्लेख मिलता है। उस समय सङ्गीत-कला को राज्याश्रय प्राप्त था। सङ्गीत के योग्य कलाकारों को राज्यसभा में नियुक्त किया जाता था। विभिन्न धार्मिक एवं लौकिक उत्सवों पर गीत-नृत्यादि का आयोजन होता था। आचारांगसूत्र में एक 'सखण्डि' नामक उत्सव का उल्लेख मिलता है जिसमें गणभोज के साथ नृत्य गान का भी आयोजन होता था[७]। इस उत्सव में मनचली स्त्रियाँ जैन साधुओं को बहका लेती थीं[८]। अतः उनके लिए नियम बना दिया गया था कि वे इस प्रकार के उत्सवों में सम्मिलित न हों[९]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय संगीत विलास का साधन रहा है। जैनग्रन्थ 'ठणांग सुत्त' मे स्वरों की उत्पत्ति, सप्तस्वरों का ध्वनि से सम्बन्ध, ग्राम, मूर्च्छनाएँ, गीत के गुण-दोष विषयों का विवेचन मिलता है। आठ गुणों से युक्त गान'गेय' होता है और इन गुणों से हीन गान सङ्गीतकला की विडम्बना है। इस

---

१. अट्ठ कथा पृ० ३६; २. आचारांगसूत्र २।११।१४। ३. वही० २।११।२।
४. वही २।११।१। ५. वही २।११।४। ६. वही ३।११।३।
७. वही २।१।४। ८. वही आचारांगसूक्ष २।१।३।२। ९. वही २।१।२।५,६।

प्रकार निष्कर्ष यह है कि सङ्गीत का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। उस समय सङ्गीतकला का विपुल प्रचार था और वह मनोरंजन का प्रमुख साधन था।

स्मृतिसाहित्य और सङ्गीतकला—

स्मृतिकाल में सङ्गीतकला का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस समय सामगान तथा लौकिक गान दोनों को जीवन का अभिन्न अङ्ग समझा जाता था। साम का अध्ययन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए भी उसका अध्ययन आवश्यक था। मनु के अनुसार सामवेद के अध्ययन से समस्त पातकों का विनाश होना बताया गया है[1]। मनुस्मृतिकाल में सङ्गीतकला के व्यवसायियों को हीन दृष्टि से देखा जाता था। मनु ने नाट्य व्यवसायी कुशीलवों को प्रच्छन्न तस्कर कहा है। मनु का कहना है कि सङ्गीतादि के व्यवसाय करने वाले व्यक्ति तथा गणिकाएँ परद्रव्यापहरण में दक्ष होती हैं अतः गुप्तचरों के द्वारा उन पर निगरानी रखनी चाहिए[2]। वेणु, कांस्य, मुरज आदि वाद्यों द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। मनु का आदेश है कि ऐसे लोग नगर के बाहर रहकर अपनी जीविका चलाये और राजकर के रूप में प्रतिमास एकदिन राज-सभा में उपस्थित होकर सेवा करें[3]। उपर्युक्त प्रसङ्ग से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकाल में सङ्गीत की दो परम्पराएँ थी—एक सामगान की और दूसरी लौकिक सङ्गीत की। सामगान आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन माना गया था और लौकिक सङ्गीत नृत्य, गीत, वाद्य आदि भौतिक सुख के साधन थे। नृत्य, गीत, आदि के लौकिक सङ्गीत का आयोजन लोकानुरंजन के लिए किया जाता था। सङ्गीतकला के विकास की दृष्टि से यह युग महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पुराणसाहित्य और सङ्गीतकला—

संस्कृत वाङ्मय में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणों के अन्तर्गत सङ्गीतकला के ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक दोनों पक्षों का समुचित विवरण प्राप्त होता है। सैद्धान्तिक पक्ष का विवरण विशेषतः अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में प्राप्त होता है। हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि उस समय सङ्गीत की वैदिक एवं लौकिक दो धाराएँ प्रचलित रही हैं। वैदिक धारा के अन्तर्गत सामगान का समावेश था और लौकिक धारा के अन्तर्गत गान्धर्व का समावेश था। उनमें सामगान का विकास यज्ञादि के अन्तर्गत उद्गाता द्वारा हुआ था और गान्धर्व का विकास लौकिक कलाकारों द्वारा लौकिक जीवन के अन्तर्गत हुआ था। गान्धर्व के अन्तर्गत गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश था।

---

१. मनुस्मृति १२।२६२–२६४।
२. मनुस्मृति १२।२६२–२४।
३. वही २५९–२६१
४. वही १०।५०।

पुराणकालीन सङ्गीत की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसका यज्ञों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यहाँ तक कि तानों के नाम भी यज्ञों के नाम पर दिये जाने लगे थे। पुराणों में तीन ग्रामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[1]। इनमें पन्द्रह गान्धार ग्रामिकाओं तथा उनचास तानों का यज्ञों में नामों के साथ उल्लेख है। पुराणों में तानों का समावेश मूर्च्छनाओं के अन्तर्गत हैं जबकि मूर्च्छनाओं के अन्तर्गत सप्तस्वर आते हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार सप्तस्वरों में धैवत का अन्तिम स्थान है और निषाद को उसके पूर्व रख दिया गया है किन्तु विष्णुपुराण में पूर्ववत् निषाद को ही अन्त में रखा गया है[2]। हरिवंशपुराण में छालिक्य गान का उल्लेख है जिसका आविष्कार भगवान् कृष्ण ने किया था। यह छालिक्य गान विविध ग्रामरागों के अन्तर्गत विविध स्थान तथा मूर्च्छनाओं के साथ गाया जाता था। हरिवंश के अनुसार श्रीकृष्ण जी एक विशिष्ट गीतशैली एवं नृत्य-प्रणाली के प्रवर्तक थे। उसमें नर-नारियों का मण्डलाकार सामूहिक नृत्य होता था जिसे 'रास' कहते थे और आज भी यह नृत्य लोकनृत्य के रूप में प्रचलित हैं। यह कृष्ण-परम्परा की परम देन हैं[4]। इस प्रकार ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने छालिक्य के साथ 'हल्लीसक' नृत्य का निर्देश किया है। हल्लीसक वह नृत्य प्रकार है जिसमें युवतियाँ मण्डलाकार रूप में खड़ी होकर गायन एवं नर्तन करती हैं तथा गायन क्रम के अनुसार नर्तन के अन्तर्गत नानाविध नई-नई आकृतियों को रचा जाता था[5]। इसे ही राजनृत्य भी कहते हैं। उस समय नृत्य के अन्तर्गत उद्धत और ललित (लास्य) दोनों प्रकार विद्यमान थे। समय-समय पर उत्सवों में स्त्री-पुरुषों का सामूहिक रास नृत्य होता था जिसमें गीत, वाद्य के द्वारा संगत होती थी। पुराणकाल में तत, धन, सुषिर एवं अनवद्ध इन चारों प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था[6]। वाद्यों के लिए सामान्यतः 'तूर्य' अभिधान प्रयुक्त होता था। तूर्यों का प्रयोग नाटय, क्रीडा, युद्ध तथा लौकिक समारोहों पर किया जाता था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणकाल में सङ्गीतकला का पूर्ण विकास हो चुका था। साम और गान्धर्व दोनों प्रकार के सङ्गीत प्रचलित थे। उस समय गान्धर्व के व्यवसायियों को हेय की दृष्टि से देखा जाता था। साम-

---

१. वायुपुराण २।२४–३६, मार्कण्डेयपुराण २३–५६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१८।

२. वायुपुराण ११।२४–३५, ३७।

३. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व ७५–७७, ८३–८५।

४. हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन (अग्रवाल) पृ० ३३।

५. सरस्वती भवन स्टडीज, भाग १० पृ० ८०।

६. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय १९।

गान का उत्तमश्रेणी के सङ्गीत में समावेश था। सङ्गीत का प्रयोग धार्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के उत्सवों में होता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय सङ्गीतशास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था।

नन्दिकेश्वर और सङ्गीतकला—

सङ्गीतकला के विकास में नन्दिकेश्वर का विशेष योगदान रहा है। नन्दिकेश्वर की दो रचनाएँ प्रकाशित हैं—अभिनयदर्पण और भरतार्णव। ये दोनों ग्रन्थ अपूर्ण हैं। इनके एक ग्रन्थ 'नन्दिकेश्वरसंहिता' के अस्तित्व का पता चलता है जो आज अनुपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' मिलता है। यदि इनके ग्रन्थ पूर्ण मिलते तो सङ्गीतकला के सर्वांगीण विकास की दिशा का पता चलता। जो ग्रन्थ उपलब्ध है उनके अनुसार सङ्गीतकला के विकास का आभास मिलता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार सङ्गीत के अन्तर्गत गीत वाद्य, नृत्य एवं ताल का समावेश हुँ। उन्होंने नृत्त और नृत्य को अभिनय का अंग स्वीकार कर अभिनय के अन्तर्गत विवेचित किया है। नन्दिकेश्वर ने मुख्यतः तीन स्वरों का प्रतिपादन किया है किन्तु श्रुति व्यवस्था के आधार पर सात स्वरों का प्रतिपादन किया है। नन्दिकेश्वर के स्वर के दो भेद किये हैं—शुद्धस्वर और विकृतस्वर। उनके मतानुसार श्रुतियों पर आधारित स्वर शुद्ध हैं। नन्दिकेश्वर ने षड्ज एवं मध्यम दो ही ग्रामों का उल्लेख किया है। गान्धार ग्राम का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है[1]। नन्दिकेश्वर ने तान भेद से षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ स्वीकार की हैं। मतंग के अनुसार नन्दिकेश्वर द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद के उद्भावक हैं[2]। नन्दिकेश्वर के मतानुसार ताल के छः अंग हैं—द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, काकपद और विराम[3]। उन्होंने सङ्गीत के गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों विधाओं के लिए ताल का महत्त्व स्वीकार किया है। नन्दिकेश्वर ने नाट्य के दो प्रकार बताये हैं—शुद्धनाट्य एवं देशीनाट्य। इनमें 'शुद्ध-नाट्य' में सात प्रकार के ताण्डव सम्मिलित है[4] और 'देशीनाट्य' में पाँच प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं[5]। जिनमें प्रत्येक ताण्डव, गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलश ये पाँच लास्य बताये गये हैं। इस प्रकार शुद्ध एवं देशी नाट्य को 'ताण्डव' तथा पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलश इन पाँच रूपों को 'लास्य' कहा गया है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर सङ्गीतकला के प्रमुख तत्त्व गीत, ताल, नृत्त, नृत्य आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण—पृ० ३१।

२. बृहद्देशी (मतंग) पृ० ३२।

३. भरतार्णव ७।४३०–४३४;

४. वही १३।७०९–७१०।

५. वही १३।७२१–७२२।

नाटचशास्त्र और संगीतकला—

नाटचशास्त्र के अनुसार गीत, वाद्य और नृत्य तीनों नाटच के अंग हैं। अतः इनमें नाटच के साथ गीत, वाद्य और नृत्य पर भी विचार किया गया है। भरत गीत, वाद्य और नृत्य को स्वतन्त्र कला के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे उन्हें नाटच का उपकारक तत्त्व मानते हैं। नाटचशास्त्र के अठ्ठाइसवें अध्याय से चौंतीसवें अध्याय तक संगीतकला का विवेचन है। भरत के अनुसार सङ्गीत के बिना नाटच नीरस होता है।[१] अतः उन्होंने संगीत की महत्त्वपूर्ण विधाओं पर भी विचार किया है। नाटचशास्त्र के अनुसार संगीत के स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।[२] नाद का प्रथम श्रवण श्रुति कहलाती है। श्रुतियों के योग से स्वरों के चार भेद होते हैं--वादी, संवादी अनुवादी और विवादी।[३] स्वरों के संयोग को 'ग्राम' कहते हैं। भरत ने केवल दो ग्रामों का ही उल्लेख किया है षड्ज और मध्यम। 'गान्धार' नामक तृतीय ग्राम उन्हें स्वीकार नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय 'गान्धार' ग्राम स्वर्गस्थ होने के कारण व्यवहार में लुप्त हो गया हो। षड्ज और मध्यम इन दोनों ग्रामों की कुल बाइस श्रुतियाँ हैं। भरत के अनुसार षड्ज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ एवं मध्यम ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ कुल चौदह मूर्च्छनाएँ होती है।[४] दोनों ग्रामों की षाडव ताने उनचास और औड़व तानें ३५ मिलाकर कुल चौरासी ताने होती हैं।[५] नाटचशास्त्र में कुल अठारह जातियों का उल्लेख है। इनका विभाजन उस समय षड्ज और मध्यम इन दो ग्रामों में किया जाता था। भरत के अनुसार गानक्रिया के चार वर्ण होते हैं--आरोही अवरोही स्थायी और संचारी। संगीत के उपयोगी तैंतीस अलंकार होते हैं[६]। वर्ण, पद और लय के साथ की गई गानक्रिया को 'गीति' कहते है। ये गीतियां चार होती हैं--मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला[७]। वर्ण, अलंकार, यति, लय, उपपाणि इन अङ्गों के पारस्परिक नियत (ध्रुवा) सम्बन्ध के कारण इन्हें 'ध्रुवा' कहते हैं[८]। भरत के अनुसार स्वर, वर्ण, स्थान, लय आदि अङ्गों के साथ 'ध्रुवा' का गान नाट्य को सफल बना देता है[९]। मोटे तौर पर 'ध्रुवा' पांच प्रकार की होती हैं—

---

१. एवमेनं विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति। (नाट्यशास्त्र ३२।४५०)

२. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पंचमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वराः॥ (नाटचशास्त्र २८।१९)

३. वादी चैवाथ संवादी अनुवादी विवाद्यपि, (वही २८।२०)।

४. नाट्यशास्त्र २८।२७-३१।

५. तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः (वही २८।३२)।
६. वही २९।१९–२१।

७. वही २९।७७;
८. वही ३२।७।
९. वही ३२।४५६-४५७।

प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और आन्तरी ।[१] पात्रों के प्रवेश के समय गायी जाने वाली ध्रुवा 'प्रावेशिकी' अङ्कसमाप्ति पर पात्रों के बाहर जाने के समय गायी जाने वाली ध्रुवा नैष्क्रामिकी, क्रम का उल्लघंन करके द्रुत लय में नृत्य के साथ गायी जाने वाली ध्रुवा 'आक्षेपिकी' मनः प्रसादन करने वाली ध्रुवा 'प्रासादिकी' और नाटचप्रयोग में उत्पन्न दोष दूर करने के लिए गायी जाने वाली ध्रुवा 'आन्तरी' होती है। ये पाँचों ध्रुवागान रस, भाव, ऋतु, काल, देश आदि के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। नाटचकला में भाव एवं रस को समृद्ध बनाने के लिए इनका प्रयोग होता है।

नाटचशास्त्र में वाद्यवृन्द के लिए 'कुतुप' अभिधान का प्रयोग हुआ है। नाटचशास्त्र में चार प्रकार के वाद्य उल्लिखित हैं—ततवाद्य, सुषिरवाद्य, धनवाद्य और अवनद्धवाद्य ।[२] ततवाद्यों में वीणा और विपंची का विशेष महत्त्व था। इनमें सात तार वाले ततवाद्य को वीणा और नौ तार वाले को विपंची कहा गया है। सुषिरवाद्यों में वंशी, बांसुरी आदि प्रमुख वाद्य माने गये हैं। उस समय वंशी वांस की बनाई जाती थी। धातुनिर्मित वंशी का प्रचलन नहीं था। घनवाद्यों में झांझ आदि थे। अवनद्ध वाद्य के अन्तर्गत मृदंग, पणव, दर्दुर, भेरी, पटह, दुन्दुभि, डिंडिम आदि चर्मावृत वाद्यों का समावेश था। भरत ने अवनद्ध वाद्यों के लिए 'पुष्कर' शब्द का प्रयोग किया है। इसे 'पुष्कर' वाद्य क्यों कहा जाता था? इस सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती है कि एक समय स्वाति मुनि कमल के पत्तों पर पानी की बूँदों का गिरना देख रहे थे। उसकी गम्भीर ध्वनियों को सुनने से मढे हुए वाद्यों के निर्माण की कल्पना हुई और विश्वकर्मा के द्वारा पुष्कर वाद्यों का निर्माण करवाया ।[३] अवनद्ध वाद्य को भाण्डवाद्य भी कहते हैं। इन सभी वाद्यों के वादन की विधियाँ नाटचशास्त्र में वर्णित हैं। अभिनय और नाटचप्रयोग के अवसरों पर इनका सम्मिलित वादन होता था। गीत और वाद्य के साथ ताल-वादन की भी परम्परा रही है। यज्ञादि में गाये जाने वाले गाथा आदि तथा लौकिक गानों में ताल का प्रयोग होता था। नाट्यशास्त्र में एक सौ आठ तालों का निर्देश है।

प्राचीन भारत में नाटच, नृत्य और नृत्त तीनों कलाओं का प्रचार रहा है। नाटचशास्त्र में नृत्यकला का विस्तृत वर्णन हुआ है वहाँ नृत्य के दो प्रकार बताये गये हैं—ताण्डव और लास्य। इनमें ताण्डव का सम्बन्ध शिव से तथा लास्य का सम्बन्ध पार्वती से माना जाता है। शिव और पार्वती दोनों का क्रमशः ताण्डव और लास्य की उद्भावना में योगदान रहा है। नृत्य के अन्तर्गत स्थान, चारी, करण,

५. वही; ६. नाटचशास्त्र २८।१-१५, १. वही ३३।५।, ११।

रेचक एवं अंगहारों का समावेश था। ये नृत्य के अङ्ग थे। ताण्डव नृत्य करणों, रेचकों एवं अंगहारों के साथ किया जाता था और लास्य (कोमल नृत्य) मृदंग, पटह, भेरी आदि वाद्यों के संगत के साथ किया जाता था[१]। नाटचशास्त्र में लास्य के दस अंग बताये गयेहैं[२]। नाटचशास्त्र में 'पिण्डीबन्ध' नामक नृत्यों का भी विवेचन हुआ है। पिण्डीबन्ध एक सामूहिक नृत्य है जिसका प्रदर्शन नाटच के पूर्वरंग में किया जाता था। इस नृत्य में नाना प्रकार के वाद्यों की संगति की जाती थी। नृत्य के साथ गायन और वादन भी होता था। इस प्रकार संगीतकला के विकास में नाटचशास्त्र का विशेष योगदान रहा है।

भास, शूद्रक, कालिदास और संगीतकला—

भास, शूद्रक और कालिदास और इनकी रचनाओं का संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये संगीतकला के व्यावहारिक एवं शास्त्रीय दोनों पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालते हैं। उनकी रचनाओं में संगीत के लिए पूर्व प्रचलित 'गान्धर्व' अभिधान मिलता है[३]। इसके अतिरिक्त संगीतविषयक अन्य भी उल्लेख पाये जाते हैं जिनके आधार पर तत्कालीन संगीतकला की विकासावस्था का आभास मिलता है। उस समय गान्धर्व की प्रतिष्ठा उपवेद के रूप में हो चुकी थी। नारदीयशिक्षा में गान्धर्व के दस गुण बतलाये गये हैं—रक्त, पूर्ण, अलंकृत प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्षण, सम, सुकुमार और मधुर[४]। शूद्रक ने भी गान्धर्व के गुणों का उल्लेख किया है[५]। उस समय गायन के लिए 'गीत' शब्द प्रचलित था[६]। गायन के दो रूप थे—शास्त्रीय और लौकिक। लौकिक गायन स्त्रियों में विशेष रूप से प्रचलित था। लौकिक गायन स्वाभाविक होता था। कालिदास ने उल्केख किया है कि नदी स्नान करते समय स्त्रियां मधुर गीत गाती थीं और गीत के ताल पर पानी में थपकियाँ देती थीं[७]। शास्त्रीय गायन में ताल, लय, राग, गीति, वर्ण, मूर्च्छना, आलाप, छन्दोवद्धता सात शुद्ध स्वर एवं विकृत स्वरों का प्रयोग आदि प्रमुख तत्त्व थे[८]। शूद्रक के अनुसार गायन में स्वरों का विविध रीति से गायन होना चाहिये और गायन तन्त्रीवाद्यों एवं मधुर स्वरों में मिला होना चाहिए। गायन में मूर्च्छना तथा राग के अनुकूल सप्तक का प्रयोग होना चाहिए[९]।

---

१. नाट्यशास्त्र ४।२४७ २४८। २. वही १९।१८७ १९२।
३. प्रतिज्ञायौगन्धरायण अंक २, मृच्छकटिक अंक ३।
४. नारदीयशिक्षा १।३।१; ५. चारुदत्तम् ३।३;
६. प्रतिभानाटक १।४ मृच्छकटिकम् ३।१०४,१०६, ५।१८४।
७. रघुवंश १६।६४।
८. रघुवंश ९।३५, १५।६३, ६५ तथा विक्रमोर्वशीय १।३ एवं मालविकाग्निमित्र २।४।
९. मृच्छकटिक ३।५।

गीतों में वाद्यों की संगत की जाती थी। वाद्यों में ततवाद्य, अवनद्धवाद्य, सुषिरवाद्य और घनवाद्य चारों प्रचलित थे। वीणा उस समय का महत्त्वपूर्ण वाद्य था। स्वप्नवासदत्ता में घोषवती वीणा का उल्लेख है जिसमें नव तार होते थे और वीणा को गोद में रखकर वादन किया जाता था[१]। वीणा स्त्रियों का प्रिय वाद्य था। वीणातन्त्रियों का वादन 'सारणा' कहलाता था[२]। मेघदूत की नायिका यक्षपत्नी वीणावादन के सहारे विरह दिवस व्यतीत करती है। वह वीणा को गोद में रखकर विरह गीत गाने के लिए उत्सुक है कि नेत्रजल से उसकी तन्त्रियाँ गीली हो जाती हैं जिससे स्वर ठीक से नहीं निकल रहे हैं अतः उसे बार-बार 'सारणा' करनी पड़ रही है[३]। अनवद्धवद्यों में मृदंग, मर्दल, पटह, ढक्का, पणव, भेरी, डिंडिम तथा पुष्कर वाद्य का विशेष उल्लेख मिलता है[४]। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के भवन के सामूहिक सङ्गीत का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'कुछ युवतियाँ गीत गारही थीं और कुछ को नृत्य एवं नाटच की शिक्षा दी जा रही थी[५], कुछ कांस्य ताल बजा रही थी, एक वंशी बजा रही थी तो दूसरी वीणावादन कर रही थी। घनवाद्यों में करताल प्रमुख था और सुषिर वाद्यों में वंशी का वादन होता था। शंख का वादन माङ्गलिक अवसरों पर होता था। उस समय नृत्यकला चरमोत्कर्ष पर थी। सामूहिक नृत्यों में हल्लीसक का उल्लेख मिलता है। भास ने कालिया नाग के फणों पर किये गये हल्लीसक नृत्य का अतिसुन्दर वर्णन किया है। श्रीकृष्ण एक पैर कालिया के मूर्धा पर रखे हुए हैं और दूसरा पैर फुंकारने वाले कालिया के विभिन्न फणों को तीव्रगति से मर्दन करने में तत्पर हैं और एक भुजा उत्तोलित ध्वजा के समान विविध दिशाओं में चालित हो रही है[६]। नृत्य में वाद्यों से संगत की जाती थी किन्तु कुछ नृत्यों में संगत नहीं होती थी। नृत्यकला का अभिनय के साथ विशेष सम्बन्ध था। इसीलिए कालिदास दोनों को एक कला के रूप में उल्लेख किया है[७]। भगवान् शंकर ने अर्धनारीश्वर रूप को ताण्डव और लास्य दो भागों में विभक्त कर दिया था[८]। ताण्डव नृत्य उद्धत नृत्य था और लास्य सुकुमार। लौकिक नृत्य दो प्रकार के थे—छलित और पचाङ्गाभिनेय। उस समय सङ्गीत शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था।

---

१. स्वप्नवासदत्ता ५।१, अंक ६ तथा ६।१।
२. मृच्छकटिक अंक ४ पृ० १३।
३. मेघदूत उत्तरार्द्ध।
४. प्रतिज्ञायौगन्धरायण ३।४६, १०।३६८ ३८८ मृच्छकटिक ६।२३८, मेघदूत २।६ रघुवंश १६।६४ मालविकाग्निमित्र १।२१।
५. मृच्छकटिक अंक ४ पृ० १३०।
६. बालचरित ४।६।
७. प्रतिज्ञायौगन्धरायण ३।५५ मृच्छकटिक ४।१६० मालविकाग्निमित्र १।४।
८. रुद्रेणेदमुभाव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा। (मालविकाग्निमित्र १।४)

राज्य द्वारा संचालित शिक्षा संस्थायें होती थीं जिनमें सुयोग्य आचार्यों द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध था। सङ्गीतशास्त्रों में नियमित कक्षाएँ लगती थीं। राजकन्या तथा अन्तःपुर की स्त्रियों के शिक्षा के लिए राजभवन में सङ्गीतशालाएँ हुआ करती थीं जिसमें नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य आदि कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। मृच्छकटिक का सूत्रधार अपनी शून्य सङ्गीतशाला को देखकर दुःखी होता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रसङ्गों से ज्ञात होता है कि उस समय सङ्गीतकला समुन्नत अवस्था पर थी। उस समय सङ्गीत के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष समान रूप से विकसित हो चुके थे। इस प्रकार संगीतकला के विकास की दृष्टि से वह युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

मतंगकृत बृहद्देशी तथा सङ्गीतकला—

मतंग का 'बृहद्देशी' नामक ग्रन्थ संगीतशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ खण्डित रूप में प्राप्त है किन्तु जितना प्राप्त है उससे तत्कालीन संगीतकला के विकास का आभास मिलता है। बृहद्देशी में रागाध्याय स्वराध्याय एवं प्रबन्धाध्याय ही मिलतते हैं, नृत्याध्याय और वाद्याध्याय प्राप्त नहीं है। उन्होंने भरत के मत का अनुकरण किया है किन्तु उनकी कुछ नवीन मान्यताएँ भी हैं। भरत ने सप्तस्वरमूर्च्छनाओं को स्वीकार किया है किन्तु मतंग सप्तस्वरमूर्च्छना के साथ नन्दिकेश्वर के मतानुसार 'दादशस्वरमूर्च्छनावाद' को भी स्वीकार करते हैं[1]। भरत ने मूर्च्छना की सिद्धि 'स्थानप्राप्ति' बताया है किन्तुमतंग ने स्थानप्राप्ति के साथ जाति,राग आदि की सिद्धि भी मानी है। राग की सिद्धि एक 'स्थान'के सात स्वरों से सम्भव नहीं है अतः मूर्च्छना का विस्तार बारह स्वरों से मानना चाहिए। उनका कहना है कि यद्यपि आचार्यों ने सप्तस्वरमूर्च्छनाओं का ही प्रतिपादन किया है तथापि तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना का प्रयोग द्वादश स्वरों के द्वारा ही किया गया है[2]। भरत ने जातियों के साथ किसी मूर्च्छना का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है। मतंग ने सर्वप्रथम जातियों के साथ मूर्च्छनाओं का सम्बन्ध जोड़ा है किन्तु मतंग ने मूर्च्छनाओं का धैवतादि निषादादि सांकेतिक नामों से निर्देश किया है। मतंग ने ग्राम और देशी दो प्रकार के रागों का निर्देश किया है और ग्राम रागों का सम्बन्ध मार्ग संगीत से जोड़ा है। नान्यदेव ने मतंग

१. सा च मूर्च्छना द्विविधा सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति। (बृहद्देशी पृ० २२)

२. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—

'द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये॥'

यद्यप्याचार्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः। (बृहद्देशी पृ० २२)

को चित्रावादक बताया है[1]। चित्रा पर सात तार होते थे जिन पर सातों स्वरों की अभिव्यक्ति होती थी। रामकृष्णकवि ने 'मतंग' को 'किन्नरी' वीणा का आविष्कारक बताया है। मतंग के पूर्व वीणा पर सारिकाएँ नहीं होती थीं। मतंग ने सर्वप्रथम वीणा पर सारिकाओं की योजना की है[2]। मतंग की किन्नरी पर चौदह से अठारह तक पर्दे होते थे। चौदह पर्दे वाली किन्नरी पर सम्पूर्ण मन्द्र सप्तक सम्पूर्ण मध्य सप्तक एवं तार सप्तक के एक स्वर की प्राप्ति होती थी[3]। आजकल जिन पर पर्दे विद्यमान हैं वे सभी तन्त्रीवाद्य किन्नरी के विकसित रूप हैं। भारतीय संगीत को मतंग की महती देन है। इस प्रकार संगीतकला के विकास में मतंग का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

अभिनवगुप्त और सङ्गीतकला—

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक व्याख्या लिखी है। नाटचशास्त्र में वीणा, चित्रा, विपंची, कच्छपी और घोषवती नामक तन्त्रीवाद्यों का उल्लेख है। तन्त्रीवाद्यों में वीणा मुख्य वाद्य है। अभिनवगुप्त ने वीणा और विपंची का अन्तर बताते हुए लिखा है कि विपंची की तन्त्रियाँ अपूर्ण होती हैं, वह कोण से बजाई जाती है और तीनों सप्तकों की अभिव्यक्ति नहीं होती। वीणा में इक्कीस तार होते हैं और उनमें तीनों सप्तकों की अभिव्यक्ति होती है[4]। अभिनव ने भरत के वीणा का नाम 'मत्तकोकिला' कहा है। मत्तकोकिला में इक्कीस तार होते हैं। प्रथम सात तारों पर मन्द्र सप्तक, उसके आगे के सात तारों पर मध्य सप्तक और अन्तिम सात तारों पर तार सप्तक मिले रहते हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार चित्रा में सात तार और विपंची में नौ तार होते हैं। चित्रा उंगलियों से बजाई जाती है और विपंची कोण से[5]। ये केवल शास्त्रीयसिद्धान्त के प्रतिपादक ही नहीं थे, बल्कि स्वयं उच्चकोटि के गायक एवं वादक भी थे। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त का भी संगीतकला के विकास में पूर्ण योगदान रहा है।

---

१. मतंगो वादकस्तस्याश्चैत्रिको नाम नापरः। (भरतभाष्य नान्यदेव)
भारतीय साहित्य पृ० ६७।

२. संगीतचिन्तामणि, पृ० ३४–३५।

३. विपंची अपूर्णतन्त्रीका कोणवादनीया वीणात्वेकविंशतितन्त्रीका।
(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ३)

४. सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा विपंची तु भवेन्नव।
कोणवाद्या विपंची स्याच्चित्रा चांगुलिवादना॥ (नाटचशास्त्र २९।११८)

शाङ्र्गदेव तथा सङ्गीतकला—

संगीत शास्त्र के इतिहास में शाङ्र्गदेव कृत संगीतरत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शाङ्र्गदेव ने अपने पूर्ववर्त्ती संगीत सम्बन्धी अनेक असंगत मतों का खंडन कर प्राचीन आचार्यों के मतों की स्थापना करने का प्रयास किया है। भरत के पश्चात् मतंग के समय तक श्रुतियों को स्वर का कारण माने जाने लगा था। आचार्य शाङ्र्गदेव ने मतंग का अनुसरण किया है उन्होंने हनुमन्मतानुसार अठारह श्रुतियों एवं ईरानियों के चौबीस श्रुतियों का खंडन कर श्रुतियों की संख्या बाइस निर्धारित की है। शाङ्र्गदेव ने मतंग के मतानुसार जातियों की मूर्च्छना का निर्देश किया है। शाङ्र्गदेव ने अपने ग्रन्थ 'संगीतरत्नाकर' में तब तक के विद्यमान संगीत के रूपों एवं गान की व्याख्या प्रस्तुत की है। यही कारण है कि उनका ग्रन्थ संगीतशास्त्र में अत्यन्त समादरणीय है।

भारतीय साहित्य में संगीतकला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीनकाल से ही संगीतकला का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। प्रारम्भ में प्राग्वैदिक युग और वैदिकयुग पर जब हम दृष्टिक्षेप करते है तो ज्ञात होता है कि उस युग में संगीतकला को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। किन्तु उस समय का संगीत धार्मिक संगीत था और साम-गान की धारा के रूप में प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि सामगान की उत्पत्ति प्राग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी, वैदिककाल तक पहुँचते-पहुँचते तो उसमें पर्याप्त विकास हो चुका था। साम केवल साम-गान तक ही सीमित न रहा बल्कि गाथा, नाराशंसी आदि धाराओं के रूप में भी विकसित हो गया था। इस प्रकार देखा जाता है कि वैदिक काल में ही संगीत की दो धाराएँ प्रवाहित हो चुकी थीं। एक यज्ञादि धार्मिक अवसरों पर जिनका गान होता था और दूसरा विवाहादि सामाजिक उत्सवों पर जिनका गान किया जाता था। आगे चलकर वैदिककाल के पश्चात् एक अन्य धारा प्रवाहित हुई जो 'गान्धर्व' के नाम से प्रथित हुई। महाकाव्य काल में गान्धर्व को 'मार्ग' का स्वरूप प्राप्त हुआ जो 'देशी' से सर्वथा पृथक् था। उस समय साम-गान का प्रभाव कम हो गया था और गान्धर्व मार्ग धारा का बेग प्रबल हो गया था। यहाँ तक कि सभी वर्ग के लोग इस पावन धारा में अवगाहन कर आनन्दानुभव करने लगे थे। बाद में इसे वेद की सी प्रतिष्ठा मिली और 'गान्धर्ववेद' कहा जाने लगा। उसी समय श्रुति, स्वर, ग्राम, राग, मूर्छना, करण आदि के रूप में शास्त्रीय चिन्तन का भी श्रीगणेश हुआ और संगीत विषयों पर लक्षण ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इसका प्रथम संकेत पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राप्त शिलालि एवं 'कृशाश्व' नामक नटसूत्रकारों से मिलता है। लौकिक संगीत के प्रभाव में आते ही साम का प्रभाव कम हो गया। कौटिल्य और वात्स्यायन (कामसूत्र) ने

संगीत को राजनैतिक उपयोगिता दिखाने के लिए गणिकाओं से सम्बद्ध कर दिया और उसे समाज में हेय की दृष्टि से देखा जाने लगा। किन्तु आचार्य नन्दिकेश्वर एवं भरत ने संगीत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्त्तन किया। उसका सम्बन्ध देवताओ से जोड़ कर उसे पुनः प्रतिष्ठित किया। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित संगीत की वह परम्परा इतनी सुदृढ़ हुई कि वह उत्तरोत्तर विकसित होती हुई प्राणवती बनी रही। मतंग के युग में इसमें पर्याप्त विकास हुआ। मतंग ने नन्दि-भरतोक्त संगीत को 'मार्ग' के अन्तर्गत रखा और अन्य को 'देशी' के नाम से अभिहित किया। नन्दिभरत के पश्चात् 'राग' और 'प्रबन्ध' को छोड़कर इस कला के अन्य शास्त्रीय पक्ष में कोई विकास नहीं देखा जाता। केवल संख्या की दृष्टि से भेद प्रभेदों का विकास अवश्य हुआ है। 'जाति' गायन ही 'राग' के रूप में विकसित हुआ। ग्रामरागों की निश्चित संख्या और देशी रागों की अनिश्चित किन्तु विपुल संख्या में विकास हुआ। ताल, तत, अनवद्ध, सुषिर एवं धन वाद्य तथा नृत्यकला के रूप में पर्याप्त विकास हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीतकला का धार्मिक सामाजिक, लौकिक एवं शास्त्रीय सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और इसमें उत्तरोत्तर विकास होता रहा और जन-जीवन में ऐसा घुल मिल गया कि वह जन-रंजन का प्रमुख साधन बन गया जिसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

●

| तृतीय अध्याय

•

नाट्य एवं संगीत परम्परा के आचार्य और नन्दिकेश्वर

नन्दिकेश्वर के पूर्ववर्त्ती आचार्य—

नाटचशास्त्रीय एवं संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर के पूर्व नाटच एवं संगीत के आचार्यों की एक परम्परा रही है। नन्दिकेश्वर ने स्वयं अपने ग्रन्थों में अनेक नाटचाचार्यों एवं संगीतशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। नाटचोत्पत्ति के प्रसंग में ब्रह्मा[1], शिव[2], पार्वती[3] तथा भरत[4], ताण्डव एवं शृङ्गनाटच के प्रसंग में शिव[5], नानार्थहस्तप्रकरण में पार्वती[6], पुष्पाञ्जलिविसर्जनविधि में सदाशिव[7], हस्ताभिनय के सम्बन्ध में बृहस्पति[8], सप्तलास्य के प्रकरण में याज्ञवल्क्य[9] नाटचोत्पत्ति तथा पुष्पाञ्जलिविधि में नारद[10] तथा तुम्बुरु[11], तथा अनेक स्थलों पर सुमति[12] का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इन आचार्यों के नामोल्लेख से इतना तो स्पष्ट है कि ये आचार्य नन्दिकेश्वर के पूर्व हुए हैं या उनके समकालीन रहे हैं। यहाँ इन आचार्यों के विषय में ज्ञात सामग्री के आधार पर संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिससे आचार्य परम्परा का परिचय प्राप्त हो सके।

---

१. अभिनयदर्पण श्लोक सं० २;
२. वही, श्लोक सं० २।
३. अभिनयदर्पण, श्लोक सं० ३;
४. अभिनयदर्पण, श्लोक सं० २।
५. भरतार्णव, श्लोक सं० २;
६. वही, श्लोक सं० २५८४, ६३६।
७. वही, श्लोक सं० ९६२;
८. वही, श्लोक सं० १३७।
९. वही श्लोक सं० ७०६।
१०. अभिनयदर्पण श्लोक ११ तथा भरतार्णव श्लोक सं० ९५५।
११. भरतार्णव श्लोक सं० ९५५।
१२. वही, श्लोक ४२९, ५८४, सं० ६६४।

ब्रह्मा:—

नाट्यवेद के आविष्कर्ता तथा संगीतशास्त्र के प्रवर्त्तक स्वयम्भू ब्रह्मा हैं। नाट्यशास्त्र एवं अभिनयदर्पण में उन्हें नाट्यवेद का रचयिता कहा गया है।[१] अभिनवगुप्त ब्रह्ममत-प्रतिपादक नाट्यशास्त्रविषयक एक ग्रन्थ का निर्देश करते हैं जिससे कुछ अंश नाट्यशास्त्र में संगृहीत है।[२] इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मा का नाट्यशास्त्रविषयक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा जिससे कुछ अंशों को नाट्यशास्त्र में संग्रह किया गया था। दत्तिल ने ब्रह्मा को गान्धर्व का प्रवक्ता कहा है।[३] ब्रह्मा ने नारद को गीत, स्वाति को वाद्य और भरत को नाट्यवेद की शिक्षा देकर उन्हें नाट्यकर्म में नियोजित किया था। शारदातनय के अनुसार वे भरत के शिक्षक रहे हैं। उनकी वीणा का नाम 'ब्रह्मवीणा' था। उसे 'आदिवीणा' तथा 'घोषवती' भी कहते हैं। यह एकतन्त्री वीणा थी। एकतन्त्री वीणा में एकतार होता है जिसमें समस्त श्रुतियाँ, ग्राम एवं मूर्च्छनाएँ उपस्थित रहती है।[४] इसे ही समस्त वीणाओं की जननी कहा जाता है।

शिव एवं सदाशिव:—

'नन्दिकेश्वरकाशिका' के अनुसार भगवान् शंकर के डमरू से चौदह सूत्र निकले हैं।[५] ये माहेश्वरसूत्र कहे जाते हैं। इनमें निर्दिष्ट स्वर ही संगीत स्वरों के आधार हैं और ये ही सूत्र समस्त वाङ्मय के आधार कहे जाते हैं। नृत्यकला का आविर्भाव परमशिव के प्रसन्नता भरे नृत्यों द्वारा हुआ है। शिव ही सबसे बड़े प्रथम नृत्यकार हैं। उनका नृत्य पूर्ण एवं सोद्देश्य है। उन्होंने अंगहारों की रचना करके तण्डु को सिखाया था। शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता भगवान् शिव हैं। उन्होंने नाट्यवेद की शिक्षा तण्डु को दी थी। इनके मत का प्रतिपादक 'औमापतम्' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसमें स्वर, मूर्च्छना, जाति, प्रबन्ध, राग आदि का विवरण मिलता है किन्तु ये भरत सम्प्रदाय से भिन्न हैं। सम्भव है इस ग्रन्थ की रचना शिवमत की रक्षा के लिए परवर्त्ती किसी आचार्य ने की हो। अनुश्रुति के आधार पर पांच पांच रागों के जनक भगवान् शंकर माने जाते हैं। इनकी वीणा का नाम अनालम्बी है। सदा मंगलकारी होने के कारण

---

१. नाट्यशास्त्र (चौखम्भा) १।१६-१८ तथा अभिनयदर्पण, ८।

२. अभिनवभारती (गायकवाड़) पृ० ९; ३. दत्तिलम्, २।

४. श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छानस्तास्ताः नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीवीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम्॥ (भरतभाष्य—नान्यदेव)

५. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥
नन्दिकेश्वरकाशिका, १

इन्हें 'सदाशिव' एवं 'परमशिव' भी कहते हैं। शारदातनय[1] और धनंजय[2] ने नाट्याचार्य के रूप में इनका उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने भी सदाशिव के मत का उल्लेख किया है।[3] इससे ज्ञात होता कि इनका नाट्यशास्त्र का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। इनको 'नटराजराज' भी कहते हैं।

पार्वतीः—

अभिनयदर्पण के अनुसार भगवती पार्वती ने 'लास्य' का आविष्कार किया था। उन्होंने 'लास्य' की शिक्षा बाणासुर की पुत्री उषा को दी थी। नाट्यशास्त्र के अनुसार पार्वती ने 'लास्य' नृत्य का सृजन किया था। लास्य नृत्य का सम्बन्ध पार्वती के सुकुमार भावभंगिमाओं से है। सुकुमार नृत्य को 'लास्य' कहते हैं। नन्दिकेश्वर के भरतार्णव में पार्वती के ग्रन्थ का नाम 'भरतार्थचन्द्रिका' बताया गया है।[4] इस ग्रन्थ में हस्तमुद्राओं का विस्तार से विवेचन किया गया है जिसका संक्षिप्त विवरण भरतार्णव में प्रतिपादित है। भरतार्णव में लास्य नृत्य का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

याज्ञवल्क्यः -

संस्कृत वाङ्मय में याज्ञवल्क्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। याज्ञवल्क्य वैदिककालीन ऋषि हैं। इन्होंने शुक्लयजुर्वेद का सम्पादन किया था। उपनिषदों में भी इनकी चर्चा है किन्तु वहाँ वे अध्यात्मवेत्ता के रूप में चर्चित हैं। याज्ञवल्क्य का एक स्मृतिग्रन्थ भी है जिसका नाम याज्ञवल्क्यस्मृति है किन्तु वैदिक याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। यजुर्वेद से सम्बन्धित 'याज्ञवल्क्यशिक्षा' शिक्षाशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें वैदिक स्वरों के विवेचन के साथ संगीत सम्बन्धी स्वरों का भी विवेचन हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार संगीत के सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। याज्ञवल्क्यशिक्षा में गान्धर्ववेदोक्त सात स्वरों का सम्बन्ध उदात्त, अनुदात्त और स्वरित से बताया गया है[5]। याज्ञवल्क्य ने सातों स्वरों के समीकरण के सम्बन्ध में बताया गया है कि निषाद, गान्धार का साम्य उदात्त से; ऋषभ, धैवत का साम्य अनुदात्त से और षड्ज, मध्यम, पंचम का साम्य स्वरित से है[6]। उदात्त

१. भावप्रकाशन, पृ० १५२; २. दशरूपक ४।३७–३८।

३. अभिनवभारती (गायकवाड़), पृ० ९।

४. भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजन्यदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रा सुमते बहुधास्ति तत्र संक्षिप्तम्॥ (भरतार्णव १०।६३६)

५. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेया उदात्तादयो स्वराः॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा १।६)

६. उच्चौ निषादगान्धारौ नीचौ ऋषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिताः ज्ञेयाः षड्जमध्यमपंचमाः॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा १।८)

अनुदात्त, स्वरित का अर्थ उच्चतारता, मन्द्रतारता और मध्यतारता होता है। सामगान इन्हीं के द्वारा होता है। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में याज्ञवल्क्य का उल्लेख नाट्यविशेषज्ञ के रूप में किया है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य नाट्यकला एवं नृत्यकला के भी विद्वान् थे। उन्होंने नाट्यकला तथा संगीतकला पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा किन्तु आज वह अनुपलब्ध है।

बृहस्पतिः—

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग का निरूपण किया है।[२] किन्तु बृहस्पति का नाट्यशास्त्र विषयक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। नाट्यशास्त्र में भी बृहस्पति के मत का उल्लेख है। कौटल्य[३] और वात्स्यायन[४] ने उन्हें अर्थशास्त्र का प्रणेता बताया है। वात्स्यायन के अनुसार ब्रह्मा ने मानवजाति की समुन्नति के उद्देश्य से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए एक लाख श्लोकों में प्रवचन किया था। उनमें अर्थशास्त्रविषयक भाग को अलग करके बृहस्पति ने 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' की रचना की थी। कौटिल्य ने बृहस्पति के इस अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है किन्तु मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। बृहस्पति के नाम का एक 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' प्रकाशित हुआ है किन्तु वह बृहस्पतिकृत प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहस्पति ने नाट्यशास्त्र का कोई ग्रन्थ लिखा होगा किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामगान करने वालों की परम्परा का उल्लेख है। उस परम्परा में बृहस्पति का स्थान मुख्य है। बृहस्पति अंगिरा ऋषि के पुत्र थे। शुक्राचार्य से उनकी स्पर्धा थी। बृहस्पति देवगुरु थे और शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे। एक बार असुरों और देवों में संगीत की प्रतियोगिता हुई। उसमें देवता हार गये। तब देवों ने दीर्घनिःश्वासयुक्त ध्वनि में गायन किया तो असुर हो गये।[५] बृहस्पति ने इसी प्रकार 'स्वर-साधन' किया था। स्वर-साधन के लिए प्राणतत्त्व की महती आवश्यकता है। जब गायक का श्वासोच्छ्वास की विद्या में पूर्ण नियमन होता है तभी वह स्वरों को दीर्घ श्वास में गा सकता है। बृहस्पति को स्वर-साधना थी। तभी वे श्रेष्ठ साम-गायक माने जाते हैं। अभिनयभूषण में बृहस्पति का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख है। शाङ्‌र्गदेव ने षड्ज नामक राग का देवता 'बृहस्पति' बताया है। इससे स्पष्ट

---

१. आचार्याः बहवः सन्ति भरतार्थविचक्षणाः।
तेषु नाट्यविशेषज्ञो याज्ञवल्क्यो महामुनिः॥ (भरतार्णव १३।७०६)

२. भरतार्णव ४।१३७
'इति हस्तविनियोगे बृहस्पतिमतं समाप्तम्' (भरतार्णव) पृ० ९१।

३. कौटलीय अर्थशास्त्र प्रथम अध्याय।

४. कामसूत्र वात्स्यायन १।२।७।

५. वही

६. छान्दोग्योपनिषद् ३।२।२६।

प्रतीत होता है कि बृहस्पति संगीत के भी आचार्य थे। सम्भव है उनका संगीत विषय पर कोई ग्रन्थ भी रहा हो, जो कालकवलित हो गया हो।

नारद—

नारद ब्रह्मा के शिष्य एवं संगीतशास्त्र के प्रतिपादक हैं। नन्दिकेश्वर एवं भरत ने नारद का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया है। नाटचशास्त्र के अनुसार भरत ने नारद निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर 'गान्धर्व' का प्रतिपादन किया है[1]। दत्तिल के अनुसार पृथ्वी पर 'गान्धर्व' का प्रचार करने का श्रेय नारद को है[2]। नाटचशास्त्र के अनुसार नारद ने ऋचा, गाथा, पाणिका आदि गीतों एवं वीणा आदि वाद्यों का निरूपण गान्धर्व के अन्तर्गत किया है। नारद के दो ग्रन्थ हैं– 'पंचमसारसंहिता' और 'नारदीयशिक्षा'। पंचमसारसंहिता में रागों के ध्यान भी वर्णित हैं। नारद के अनुसार ग्रामरागों का प्रयोग लोक में न होकर स्तुतियों या यज्ञों में करना चाहिए। ये निर्गीत (बहिर्गीत) के आविष्कारक कहे जाते हैं। नारद की वीणा का नाम 'महती' है। इनकी वीणा में इक्कीस तार थे, जिनमें तीनो सप्तक मिले रहते थे और तीनो ग्राम तथा इक्कीस मूर्च्छनाएँ इस पर स्पष्ट होती थी[3]। नारद को गान्धार ग्राम का उपदेष्टा कहा जाता है। 'संगीतमकरन्द' नारद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। किन्तु यह नारद की रचना नहीं है बल्कि नारदमतानुयायी किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है।

तुम्बुरु—

नाटचशास्त्र के अनुसार तुम्बुरु नारद के समकालिक आचार्य हैं। वाल्मीकिरामायण में तुम्बुरु का उल्लेख अप्सराओं के गानशिक्षक के रूप में हुआ है[4]। शाङ्र्गदेव ने इन्हें अवनद्ध वाद्य के आचार्य के रूप में उल्लेख किया है[5]। अभिनवगुप्त के अनुसार तुम्बुरु का नाटचविषयक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है। क्योंकि उन्होंने अभिनवभारती में तुम्बुरु का मत उद्धृत किया है[6]। नान्यदेव ने तीन ग्रामो की विभिन्न तानों के लिए तुम्बुरु को प्रमाणभूत माना है[7]। शुभंकर ने संगीतदामोदर में तुम्बुरु के 'तुम्बुरुनाटक' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है[8]। तुम्बुरु की

---

१. गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन। (नाटचशास्त्र ३२।१, ३४।२।)

२. दत्तिलम्, पृ० २। ३. भारतभाष्य (नान्यदेव)।

४. वाल्मीकिरामायण २।९।१८। ५. संगीतरत्नाकर ६।१९।

६. तुम्बुरुणेदमुक्तम्—
अंगहाराभिधानात्तु करणैः रेचकान्विदुः।
इहाप्येतन्मुनेर्मतमिति लक्ष्यते (अभिनवभारती, प्रथय भाग पृ० १६५)

७. भारतभाष्य नान्यदेव पृ० १५। ८. संगीतदामोदर—शुभंकर।

वीणा का नाम 'कलावती' है (**तुम्बुरोस्तु कलावती**[1])। प्राचीन साहित्य के अनुसार तुम्बुरु की वीणा में भरतोक्त 'विपंची' के समान नौ तार थे। तुम्बुरु की गणना स्वरद्रष्टाओं में की जाती है। इन्हें ही 'धैवत' तथा 'निषाद' नामक स्वरों का दर्शन हुआ था[2], किन्तु इनका सम्प्रदाय भरतसम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है। इनके मतानुसार मूर्च्छना का तात्पर्य श्रुति का मार्दव लिया गया है[3]। इतना तो स्पष्ट है कि तुम्बुरु नारद के समकालिक रहे हैं क्योंकि नारद के साथ तुम्बुरु का नामोल्लेख भी मिलता है और अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने उन्हें प्रामाण्य रूप में उद्धृत किया है। पुराणों में तुम्बुरु को नारद से श्रेष्ठ बताया गया है।

स्वाति—

नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने स्वाति को नाट्यप्रयोग में वाद्य-वादन के लिए नियुक्त किया था। ये संगीतशास्त्र के एक प्रामाणिक आचार्य हैं। भरत ने आतोद्य वाद्यों के वादन-विधि प्रतिपादन के अवसर पर स्वाति के मत का अनुसरण किया है[4]। ये अनेक अनवद्ध वाद्यों के आविष्कारक हैं। इन्होंने पुष्कर कमल के पत्तो पर वर्षा की बूँदों के गिरने से उत्पन्न मधुर ध्वनि का अनुकरण करके अनेक प्रकार के पुष्कर वाद्यों का आविष्कार किया है। इन्होंने विश्वकर्मा की सहायता से दुन्दुभि मृदंग आदि आतोद्य वाद्यों की रचना की थी[5]। स्वाति विपंची वीणा के वादक कहे जाते हैं। विपंची में नौ तार होते हैं जिस पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, अन्तरगन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और काकली का गायन होता है[6]। इससे स्पष्ट है कि स्वाति गान्धर्व के आचार्य एवं पुष्कर (आतोद्य) वाद्यों के आविष्कर्ता थे। इन्होंने एक नये सांगीतिक वाद्य की रचना कर संगीतकला के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

शिलालिन् एवं कृशाश्व—

नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर के पूर्ववर्ती नाट्य एवं संगीत विषयक ग्रन्थ तथा उनके प्रणेता आचार्यों की परम्परा रही है। इनमें 'शिलालिन् एवं कृशाश्व' नामक नटसूत्रों के निर्माता

---

१. अभिधानचिन्तमणि देवकांड २८९—संगीतसमयसारोद्धार ४।८।

२. धैवतश्च निषादश्च गीतौ तुम्बुरुणा स्वरौ। (बृहद्देशी स्वरनिर्णय श्लोक ८३)

३. श्रुतिमार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः (हरपाल) (भारतीय साहित्य पृ० ६५)

४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) अध्याय ३४।   ५. वही ३४।२–९।

६. विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वराः सप्त तथा परा।
काकल्यान्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावित्यभानि च ॥ भरतभाष्य—(नान्यदेव)

दो आचार्यों का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है[1]। ब्रेबर, कोनो तथा कीथ प्रभृति विद्वानों के अनुसार ये नटसूत्र नृत्य एवं अभिनय कला के प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहे होंगे[2]। सम्भव है नाटचशास्त्र की कारिकाओं के आधार पर ये नटसूत्र रहे हों और नाटचशास्त्र के निर्माण हो जाने पर इनका नाटचशास्त्र में अन्तर्भाव हो गया हो। पाणिनि के समय 'शिलालि' से सम्बद्ध एक वैदिक शाखा थी जिसके अनुयायी 'शैलाल' कहे जाते थे[3]। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थक्य दिखलाने के लिए ही पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का संकेत किया होगा जिन्होंने वैदिक परम्परा के समान प्रतिष्ठा प्राप्त की थी[4]। पाणिनि के अनुसार शिलालि शब्द से 'णिनि' (इन्) तथा कृशाश्व शब्द से 'इन्' प्रत्यय होकर शैलालिन् तथा कृशाश्विन् शब्द बनते हैं। इनमें जो शिलालि के द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे, वे 'शैलालिन्' और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित थे वे 'कृशाश्विन्' कहलाते थे[5]। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय शैलालिन् एवं कृशाश्विन् सम्प्रदाय के नटों की दो विभिन्न परम्पराएँ प्रवर्त्तित हो चुकी थी। नाटचशास्त्रीय गन्थों का निर्माण होने लगा था और 'शिलालिन्' एवं 'कृशाश्व' ये दोनो नटसूत्रकार नाटचाचार्य के रूप में विश्रुत हो चुके थे।

आदिभरतः—

भारतीय नाटच-परम्परा में आदिभरत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटचवेद का निर्माण कर ब्रह्मा ने भरत को प्रयोग के लिए निर्देश दिया। भरत ने अपने शिष्यों (पुत्रों अर्थात् पुत्रतुल्य शिष्यों) को नाटचवेद की शिक्षा दी। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचशास्त्र का प्रथम प्रणयन सदाशिव, ब्रह्मा अन्त में भरत ने की थी। बाद में भरत ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। ये भरत भरतों में आदि (प्रथम) थे। इसलिये आदिभरत या वृद्धभरत कहलाए। शारदातनय के अनुसार नाटचवेद पर दो ग्रन्थ लिखे गये थे—एक बारह हजार श्लोकों में जिसे 'द्वादशसाहस्रीसंहिता' कहते हैं और दूसरा छः हजार श्लोकों का, जिसे 'षट्साहस्रीसंहिता' कहा गया है। शारदातनय के अनुसार 'द्वादशासहस्री संहिता' की

---

१. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। ४।३।११०।
   कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११।
२. संस्कृत नाटक (कीथ) पृ० ३०९।
३. आपस्तम्ब एण्ड बह्वृच ब्राह्मण (कीथ जे० आर० एस० १९१५ पृ० ४९८)
४. भिक्षुनटसूत्रयोः छन्दस्त्वम्। (काशिकावृत्ति)
५. कृशाश्वेन प्रोक्तमधीते कृशाश्विनो नटाः। (काशिकावृत्ति)

रचना गद्य में आदिभरत या वृद्धभरत ने की थी[१]। शारदातनय ने वृद्धभरत के नाम से कुछ गद्यांश भी उद्धृत किया है। रामकृष्ण कवि का कहना है कि वृद्धभरत ने बारह हजार श्लोकों में एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका कुछ अंश अब प्राप्य है[२]। अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने 'भरत' और 'आदिभरत' दोनों को उद्धृत किया है। यह ध्यातव्य है कि राघवभट्ट ने भरत का उद्धरण देते समय अध्यायों का उल्लेख किया है और आदिभरत से उद्धृत करते समय अध्याओं का निर्देश नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राघवभट्ट के समय दोनों के ग्रन्थ अलग-अलग विद्यमान थे। उनमें आदिभरत का ग्रन्थ गद्यात्मक रहा होगा अतः उन्होंने अध्यायों का उल्लेख नहीं किया है[३]। नाटचशास्त्र में कुछ प्राचीन परम्पराप्राप्त श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उन्हें आनुवंश्य श्लोक कहते हैं। अभिनवगुप्त ने उन आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत श्लोक माना है[४]। ये श्लोक आदिभरत के ही रहे होंगे जो परम्परया भरत को प्राप्त हुए होंगे और भरत ने उन्हें नाटचशास्त्र में सम्मिलित कर लिया होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिभरत भरत से भिन्न थे। इसके बाद भरतों की एक परम्परा चली जिस परम्परा में अनेक भरत हुए। जिन्होंने नाटचशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे। उन भरतों से पार्थक्य स्थापित करने की दृष्टि से इनका नाम आदिभरत या वृद्धभरत कहा जाने लगा, क्योंकि भरतों में ये ही प्रथम भरत थे। बाद में उन सभी भरतों के ग्रन्थों से सामग्री लेकर एक संग्रह तैयार किया गया जो 'नाटचशास्त्र' कहलाया। चूंकि इसमें सभी भरतों के मतों का संग्रह है अतः यह किसी एक भरत के नाम से सम्बद्ध न होकर सामान्य भरत के नाम से 'भरतनाटचशास्त्र'[५] कहा जाने लगा किन्तु परवर्तीकाल में वह भरत एक व्यक्ति का वाचक होकर भरत रचित नाटचशास्त्र कहलाने लगा।

आदिभरत या वृद्धभरत द्वारा रचित नाटचवेद 'आदिभरत' के नाम से प्रसिद्ध रहा। भाण्डारकर प्राच्यविद्या मन्दिर में संग्रहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की

---

१. एवं नाटचवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥ (भावप्रकाशन पृ० ३६)

२. जर्नल् शाफ आन्ध्र हिस्टोरिल रिसर्च सोसोइटी, भाग ३ पृ० २६।

३. अभिज्ञानशाकुन्तल पर राघवभट्ट की टीका (निर्णयसागर) पृ० ७।

४. अत्रेति भाष्ये, अनुवंशे भवौ = शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः।
(अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३९०)

५. भरतानां नाटचशास्त्रमिति भारतनाटचशात्रम् अर्थात् भरतों का नाटचशास्त्र

सूची में 'नाटचसर्वस्वदीपिका' नामक एक कृति मिली है[1] जिसे 'आदिभरत' पर टीका बताया गया है। आदिभरत शिव-पार्वती के संलाप रूप में लिखा हुआ है। इस प्रकार आदिभरत या वृद्धभरत ही प्रथम नाटचशास्त्रकार हैं और वर्तमान नाटचशास्त्र प्रणेता कहे जाने वाले भरत उनसे भिन्न एवं परवर्ती हैं।

नन्दिकेश्वर के समकालिक परवर्ती आचार्य

कश्यप या काश्यप—

काव्यादर्श की टीका हृदयंगमा में काश्यप को अलंकारशास्त्र का प्रणेता बताया गया है[2]। अग्निपुराणकार ने कश्यप का छन्दःशास्त्रकार के रूप में उल्लेख किया है[3]। अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र-रचयिता एवं संगीतज्ञ के रूप में उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकर में शाङ्र्गदेव ने काश्यप का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्य के रूप में किया है[4]। नान्यदेव ने भारतभाष्य में कश्यप का प्राचीन मत भी उद्धृत किया है[5]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कश्यप के नाम से पचहत्तर श्लोकों को उद्धृत किया है[6]। अभिनवगुप्त ने कश्यप के आधार पर राग और रस में मतैक्य स्थापित किया है। उनका कहना है कि भरत ने इन्हीं के आधार पर रागों का निरूपण किया है[7]। अभिनव के अनुसार नाटच-शास्त्र का रागविनियोग विषयक मत कश्यप के सिद्धान्त पर आधारित है। मतंग ने बृहद्देशी में कश्यप के अनुसार ग्रामराग, अंश, न्यास, अल्पत्व, बहुत्व आदि दश

१. भाण्डारकर प्राच्यविद्या, मन्दिर। (भाग ७ पृ० ४५३)

२. पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य।

(काव्यादर्श हृदयंगमा १।२)

३. अग्निपुराण ३३६।२२।

४. संगीतरत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय। ५. भारतभाष्य (नान्यदेव)।

६. 'अत्र टीकाकारः शंकते योऽयं जात्यंशकानां विनियोग उक्तः स कश्यपमुनिमतादिभि-विरुध्यते। ....अत्राहुः। काश्यपाद्यैस्तावन्मालवकैशिकानां तत्तच्चित्तवृत्या जीवनौचित्यं दृष्ट्वा विनियोगः उक्तः।'

पचहत्तर श्लोकों को उद्धृत करने के पश्चात् अन्तिम पंक्ति में लिखा है 'इत्येष कश्यपाद्युक्तो विनियोगो निरूपितः। (अभिनवभारती अध्याय २९ पृष्ठ ३८४)

७. गदतो मे इत्यनादरे षष्ठी, येन मद्वचनमात्रमेवात्र न केवलं प्रमाणम्, यावत् कश्यप-मुनिप्रभृतिभिरपि यन्निरूपितं तदपीति शिवम्।'

(अभिनवभारती खण्ड ४ पृ० ६६)

लक्षणों का निर्देश किया है[1]। कश्यप के ग्रामराग के दस लक्षणों को भरत ने जाति का विशिष्ट बताया है। अभिनव ने कश्यप को 'कौशिक' राग का उद्भावक बताया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कश्यपमुनि एक प्राचीन आचार्य थे और वे भरत के पूर्ववर्त्ती रहे हैं। उन्होंने काव्यशास्त्र, नाटचशास्त्र तथा संगीतविषयक ग्रन्थ की रचना की थी। रागों के सम्बन्ध में उनके मौलिक विचार हैं।

विशाखिल—

नाटचशास्त्र के वाद्य-वादन विधि के निरूपण के प्रसङ्गों से ज्ञात होता है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं। अभिनवगुप्त इसी विचार से सहमत दिखाई देते हैं। अभिनवगुप्त के 'धातूंश्चैव निबोधत', में प्रयुक्त 'एव' शब्द का यह तात्पर्य बताते हैं कि चतुष्प्रहरण अंगुलिविभाग, दो वृत्तियाँ समालेखा एवं चित्रलेखा इत्यादि विशाखिलाचार्य के द्वारा कथित बहुत सी बातों का उल्लेख नहीं कहा गया है[3]। शाङ्गंदेव ने विशाखिल की गणना कोहल, कश्यप आदि आचार्यों में की है[4]। नान्यदेव ने तीनों ग्रामों की तानों के निरूपण के प्रसङ्ग में विशाखिल का आधार लिया है। नान्यदेव का कथन है कि विशाखिल तीनों ग्रामों की तानों का ऐसा विवेचन किया है कि जो भरत के नाटचशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। भरत ने ताल और सुषिरवाद्यों के अंगुलिस्थापन के सम्बन्ध में विशाखिल का मत उद्धृत किया है। भरत के अनुसार विशाखिल के मत में वंश पर आरोहावरोह शारीर वीणा के अनुसार किया जाना जाहिए[5]। अभिनवगुप्त के अनुसार भी भरत ने विशाखिल की बहुत सी मान्यताओं को स्वीकार किया है। भरत ने लास्यागों के विवेचन में विशाखिल के मत का अनुसरण किया है[6]। विशाखिल ने स्वर, पद, ताल के समवाय को गान्धर्व कहा है[7]। तदनुसार

---

१. कचिदंशः कचिन्न्यासः षाडवौड़विते क्वचित्।
अल्पत्वं च बहुत्वं च ग्रहोपन्याससंयुतम्॥
मन्द्रतारौ तथा ज्ञात्वा योजनीयं मनीषिभि।
ग्रामरागाः प्रयोक्तव्या विधिवद् दशरूपके॥ (बृहद्देशी पृ० १०३ १०४)

२. अभिनवभारती भाग ४ पृ० ९४। ३. वही।

४. संगीतरत्नाकर, प्रथम अध्याय।

५. भारतभाष्य (नान्यदेव) सन्दर्भ-भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४९६।

६. विशाखिलादिलक्षितं सर्वमेव लास्यगानं स्वीकृतमुपलक्षितं च।
(अभिनवभारती भाग ४, पृ० २७०)

७. तथा च विशाखिलाचार्याः स्वरपदतालसमवाये गान्धर्वमिति।
(अभिनवभारती (गायकवाड़) भाग ४ पृष्ठ ७)

भरत ने भी स्वर, ताल और पद समवाय को गान्धर्व कहा है[1]। इस प्रकार स्पष्ट है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्ती संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। उन्होंने संगीत के विविध तत्त्वों पर विचार किया था। उनके ग्रन्थ का पता नान्यदेव तथा अभिनवगुप्त को था, किन्तु आज वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

कोहल—

नाट्य एवं संगीत परम्परा में कोहल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कोहल एक भरत थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेताओं में पाँच भरतों का उल्लेख है उनमें 'कोहल भरत' का भी नाम है (**भरतनाट्यनास्त्रम् भरतानां वृद्धभरत-कोहल-भरत-नन्दिभरत-वत्तिलभरतादीनां नाट्यशास्त्रम्**)। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल, वात्स्य और शाण्डिल्य और धूर्त्तिल इन चार आचार्यों का एक साथ उल्लेख है[2]। भरत ने स्वयं उन्हें नाट्याचार्य के रूप सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र के शेष विचारों का कथन कोहल करेंगे[3]। रसार्णवसुधाकर में कोहल का भरत और दत्तिल के साथ नाट्यशास्त्रकार के रूप में उल्लेख पाया जाता है। दामोदरगुप्त ने कोहल का उल्लेख आदर पूर्वक किया है[4]। संगीत-रत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने संगीताचार्या के रूप में कई बार निर्देश दिया है[5]। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में शारदातनय ने भावप्रकाशन में हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कोहल का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। राजशेखर ने नाट्यप्रयोक्ता के रूप में कोहल का निर्देश किया है। पार्श्वदेव ने संगीत समय सार में कोहल के दत्तिल का सङ्गीतशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख किया है[6]। इससे स्पष्ट है कि कोहल शास्त्रप्रयोक्ता एवं संगीत, नृत्य और नाट्य के आचार्य रहे होंगे और इन शास्त्रों पर उन्होंने ग्रन्थ रचना की होगी।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्य के रस, भाव, अभिनय आदि ग्यारह अंग बताये हैं। अभिनव के अनुसार ये ग्यारह अंग भरत के मत से नहीं, बल्कि कोहल

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) २८।११।

२. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्त्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्द्धनम्॥

३. शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहल : कथयिष्यति। नाट्यशास्त्र (काव्यमाला) ३६।३५।

४. संगीतरत्नाकर (शार्ंगदेव) प्रथम अध्याय।

५. अभिनवभारती भाग २ पृ० ५५, १३०, १४२, १४४, १४६, १५१।

६. नाट्यदर्पण (गायकवाड़) पृ० २३ तथा भावप्रकाशन (गायकवाड़) पृ० २०४, २१०, २३६, २४५, २५१।

के मत से प्रदर्शित किये गये हैं।[१] इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर अभिनवगुप्त भरत के मत से कोहल के मत की भिन्नता दिखलाते हुए कोहलाचार्य का उल्लेख किया है और कोहलाचार्य के कई श्लोकों को भी अभिनवभारती में उद्धृत किया है। जैसे ताण्डव नृत्य के सम्बन्धी में 'तदुक्तं कोहलेन'[२] 'लिखकर दो श्लोक पुनः 'यथोक्तं कोहलेन'[३] लिखकर एक श्लोक कोहल के नाम से उद्धृत किया है। अभिनव के अनुसार कोहल ने भरतोक्त असंयुत हस्तों के अतिरिक्त अन्य भेद भी निर्दिष्ट किये हैं।[४] शून्य, भास्वर, विद्युत आदि हस्तक्रियाएँ कोहल के नवीन आविष्कार हैं।[५] कोहल के अनुसार प्रयोग में लाई जाने वाली भाषाओं के आधार पर रूपक के अनेक भेद हो सकते हैं। भरत का भी यही अभिमत है क्योंकि उन्होंने सैन्धव भाषा के आधार पर 'सैन्धवक' नामक रूपक भी माना है।[६] अभिनव ने चित्राभिनय के सम्बन्ध में कोहल की प्रामाणिकता का उल्लेख करते हुए तीस श्लोक उद्धृत किये हैं।[७] कोहल ने ध्रुवा गीत के साथ 'सुभद्रा' नामक ताल के प्रयोग का विधान बताया है।[८] कोहल के अनुसार 'जम्भटिका' नामक लय का प्रयोग 'कुकुभ' नामक राग के साथ किया जाना चाहिए।[९] इसी प्रकार उल्लासना, मालववेसरिका, मालवकैशिक आदि रागों के साथ प्रयुक्त होने वाले लय का निर्देश किया है।[१०] मतंग ने श्रुति, जाति, मूर्च्छना आदि के प्रसंग में कोहल का मत उद्धृत किया है।[११] कोहल ने स्वरों की संख्या अनन्त बताई है। उनके अनुसार जाति, भाषा आदि के संयोग से स्वर अनन्त बन जाते हैं।[१२]

---

१. 'अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशांगत्वमुच्यते। न तु भरते।
(अभिनवभारती भाग १ पृ० २६४)

२. अभिनवभारती, भाग १ पृ० १८०। ३. वही पृ० १८२।

४. 'नाप्येत एव कोहलादिभिरन्येषां दर्शनात्। (अभिनवभारती, भाग २ पृ० ५५)

५. शून्य-भास्वर-विद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोऽपि हस्तः संगतो भवति'। (अभिनवभारती भाग २ पृ० २६)

६. तेन दशरूपकस्य यद् भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्ग-निरूपणे स्वीकृतमेव।' (अभिनवभारती भाग २ पृ० ७२)

७. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २८९:२९१।

८. सुभद्राभिधानं ध्रुवातालमाहुः कोहलाद्याः' (अभिनवभारती भाग २ पृ० १४२)

९. 'ककुभेन प्रयोक्तव्या जम्भटी लयकोविदैः (वही) पृ० १४६

१०. वही पृ० १५६;

११. बृहद्देशी पृ० ५, १२, ३२, २९, ९५।

१२. जातिभाषादिसंयोगादनन्तः कीर्त्तितः स्वरः। (बृहद्देशी पृ० १२)

इनके अनुसार जाति, राग, भाषा आदि की सिद्धि के लिए मूर्च्छना का क्रम लक्ष्यानुसारी होना चाहिए।[1] कोहल के नाम से 'कोहलमतम्' नामक एक छोटा सा ग्रन्थ मिलता है किन्तु यह अपूर्ण प्रतीत होता है। इण्डिया आफिस संग्रहालय लन्दन में ताल-पत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ 'कोहलीयम्' प्राप्त है जो कोहल प्रणीत प्रतीत होता है। मद्रास के पुस्तकालय में कोहल का 'कोहलरहस्य' नामक एक खण्डित ग्रन्थ प्राप्त है किन्तु ये सभी ग्रन्थ अपूर्ण हैं। इस प्रकार नाटचशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के आचार्यों में कोहल का विशिष्ट स्थान है। अभिनय नृत्त, नृत्य, राग, ताल एवं लय के सम्बन्ध में कोहल के मौलिक विचार हैं।

वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्त्तिलः—

नाटचशास्त्र के अन्तिम अध्याय में वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल और इन तीनों आचार्यों का उल्लेख कोहल के साथ हुआ है।[2] इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों आचार्य भरत के पूर्ववर्त्ती एवं कोहल के समकालिक हैं। अभिनवगुप्त या अन्य किसी आचार्य ने उनका उल्लेख नहीं किया है। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना की होगी।

भरतः—

नाटचवेद के आविष्कर्त्ता ब्रह्मा ने भरत को नाटचवेद की शिक्षा दी थी। भरत ने नाटचवेद की शिक्षा ग्रहण कर उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया। भरत के शिष्य लगभग सौ थे क्योंकि नाटचशास्त्र में लिखित भरतपुत्रों की गणना करने पर संख्या एक सौ पाँच है। ये शिष्य पुत्रवत् प्रिय थे अतः इन्हें भरतपुत्र भी कहा जाता था। ये भरतों में आदि तथा सबसे बड़े थे अतः इन्हें वृद्धभरत तथा आदिभरत कहा जाता था। इनके बाद भरतों की एक परम्परा चली। यह परम्परा अभिनय का कार्य करती थी। बाद में वह 'भरत' जाति के रूप में परिणत हो गई और अभिनय एवं नृत्य का कार्य करने वाले भरत कहलाने लगे। सभी भरत नाटचकला के विद्वान् थे। इनमें से बहुतों ने नाटच-कलापर ग्रन्थ भी लिखे थे। ये भरत नाटचकला के अतिरिक्त अन्यकलाओं में भी पारंगत थे। नाटचशास्त्र के साक्ष्य के आधार पर भी ज्ञात होता है कि उसके पहले भरतों की एक परम्परा रही है। आनुवंश्य, श्लोक एवं आर्याओं से इस बात का समर्थन होता है। शारदातनय के भावप्रकाशन से भी इस बात का समर्थन मिलता है कि नाटच-

---

१. योजनीयो बुधैर्नित्यं क्रमो लक्ष्यानुसारतः।
संस्थाप्य मूर्च्छना जातिरागभाषादिसिद्धये॥ वही पृ० ३२।

२. कोहलादिभिरेव नु वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः। नाटचशास्त्र (गायकवाड़ ५७।२४)

शास्त्र के पहले बृद्धभरत ने गद्य में अलग नाटचशास्त्र की रचना की थी।[१] इसी परम्परा के किसी भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती आदिभरत, बृद्धभरत, नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत आदि भरतों की रचनाओं से सार निकाल कर नाटच-संग्रह तैयार किया था जो 'नाटचशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[२] बाद में यह नाटचशास्त्र भरत के नाम से विख्यात हो गया। इस ग्रन्थ में काव्य, नाटच, संगीत, नृत्य, नृत्त आदि विविध ललित कलाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसीलिए इसे ललित कलाओं का कोश कहा जाता है। भरत ने पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के मतों की समीक्षा कर और उनसे संग्रह कर नाटचकला को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। जो परवर्त्ती आचार्यों के लिए मार्गदर्शक रहा। इस प्रकार उपर्युक्त यिवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा के शिष्य बृद्धभरत या आदिभरत अलग व्यक्ति थे जिन्होंने नाटचवेद की 'द्वादशसाहस्री संहिता' तैयार की थी। दूसरे भरतकुल में एक अन्य भरत हुए जो बृद्धभरत से अलग थे। इन्होंने 'षट्साहस्रीसंहिता' की रचना की। शारदातनय के अनुसार प्रथम ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप ही यह वर्तमान नाटचशास्त्र है। वर्तमान नाट्यशास्त्र में बृद्धभरत, कोहल भरत, नन्दिभरत आदि आचार्यों के ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं इससे यह एक संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है।

दत्तिलः—

नाट्यकला एवं संगीतशास्त्र के आचार्यों में दत्तिल का नाम अन्यतम है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भरतपुत्रों में इनका उल्लेख है। शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर में भरत, कोहल आदि नाट्याचार्यों के साथ दत्तिल का उल्लेख भरतपुत्रों के रूप में हुआ है।[३] कुट्टनीमत में दत्तिल का उल्लेख भरत और विशाखिल के साथ हुआ है।[४] शाङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में दत्तिल का उल्लेख कोहल, कश्यप एवं विशाखिल के साथ प्राचीन आचार्यों में किया है।[५] संगीत समयसार में उनका तालशास्त्र के प्रवक्ता के रूप में उल्लेख है।[६] अभिनवगुप्त ने ध्रुवा गीति के सम्बन्ध में दत्तिल का उल्लेख किया है और ताल के सम्बन्ध में

---

१. तथा भरतबृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्। (भावप्रकाशन पृ० ३६)

२. भरतनाटचशास्त्रम् भरतानां बृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरतादीनाम् नाट्यशास्त्रम्।

३. दत्तिलश्च मतंगश्च ये चान्ये तत्तूमदवाः। (रसार्णवसुधाकर पृ० ८)

४. कुट्टिनीमतम् (दामोदर) श्लोक १२२-१२३

५. संगीतरत्नाकर (शार्ंगदेव) प्रथम अध्याय।

६. संगीतसमयसार, ६।२।

उनका उद्धरण भी उद्धृत किया है।[१] नान्यदेव ने भरतभाष्य में दत्तिल के उल्लेख के साथ उनका उद्धरण भी उद्धृत किया है।[२] कामसूत्र में वात्स्यायन ने दत्तक का उल्लेख किया है।[३] किन्तु दत्तक के दत्तिल होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है ये दत्तक ही दत्तिल नाम से प्रसिद्ध हो गये हों। प्रो० रामकृष्णकवि के अनुसार प्रथम शताब्दी के किसी शिलालेख पर दत्तिल का नाम पाया जाता है।[४] रामकृष्ण कवि का कहना है कि दत्तिल के ग्रन्थ का नाम 'गान्धर्ववेदसार' है और ये ध्रुवा एवं ताल के विशेषज्ञ संगीताचार्य थे[५]। इनकी एक कृति 'दत्तिलम्' नाम की उपलब्ध है। उसके अनुसार दत्तिल ने गान्धर्व का संक्षिप्तीकरण पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर किया है[६]। भरत के नाटयशास्त्र में दत्तिल का दो बार नाम आया है। प्रथम भरत के पुत्रों में; द्वितीय अध्याय के अन्त में भरत-परम्परा के आचार्यों में[७]। किन्तु दत्तिल के ग्रन्थ में भरत का एक बार भी नाम नहीं आया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें भरत का पूर्ववर्त्ती मानते हैं। भारतीय परम्परा में गुरु का नाम लेने का निषेध था[८]। सम्भव है इसी दृष्टि से दत्तिल ने भरत का नाम न लेकर 'गुरु' 'आचार्य' तथा 'आप्त' शब्दों द्वारा उनका उल्लेख किया है जैसाकि निम्न सन्दर्भ से स्पष्ट होता है।

(क) धैवत्यां गुरुभिः प्रोक्तावंशावृषभधैवतौ (दत्तिलम् ६६)

(ख) धैवतयाश्च तथैवांशौ विज्ञेयौ धैवतर्षभौ (नाटयशास्त्रम् २८।७७)

(क) पंचस्वराः षट्स्वराश्च मूर्च्छना याः प्रकीर्त्तिताः।
तानाश्चतुरशीतिस्तु ता एवाप्तैरुदाहृता ।। (दत्तिलम्, ३०)

(ख) 'तत्र मूर्छनाश्रितास्तानाश्चतुरशीतिः। तत्रैकोन्नपंचाशत् षट्स्वरा पंचत्रिंशत् पंचस्वराः' (नाटयशास्त्र-गायकवाड़, पृ० २७)।

---

१. अभिनवभारती भाढ १ पृ० २०३ भाग ४ पृ० २३१, २३७, २४६, २४७, २५५, २५६, २५९, २६०, २८४, २८५

२. भरतभाष्य (नान्यदेव)

३. काकसूत्र (वात्स्यायन) १।१।११, ६।२।५५, ६।३।४४।

४. 'क्रै० प० १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासनेऽस्य नाम दृश्यते।
(भरतकोष भारतीयसंगीत पृ० ४७१)

५. जर्नल् आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३ पृ० २४।

६. दत्तिलम् २४२।

७. नाटयशास्त्र, अध्याय १ तथा ३६।

८. आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।।
(सिद्धान्तकौमुदी कृदन्तकृत्यप्रकरणम्)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत दत्तिल के गुरु थे क्योंकि भरत पुत्रों में दत्तिल का नाम आया है। ये भरत पुत्र नहीं बल्कि भरत शिष्य हैं। अतः भरत शिष्यों में दत्तिल भी हैं। दूसरे प्राचीन ग्रन्थों में नाटयशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र चौरासी तानों का उल्लेख नहीं है। अतः दत्तिल ने भरत के आधार पर ही चौरासी तानों का उल्लेख किया है और भरत के नाम न लिखकर 'आप्त' शब्द लिख दिया होगा। अतः गान्धर्व के संक्षेपकर्ता दत्तिल भरत के शिष्य सिद्ध होते हैं।

नखकुट्ट तथा अश्वकुट्ट—

नखकुट्ट और अश्मकुट्ट ये दोनों भरत के समकालीन नाटचशात्र के प्राचीन आचार्य हैं। नाटयशास्त्र के भरतशिष्यों (भरतपुत्रों) में इनका नाम आया है[1]। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नखकुट्ट का उद्धरण दिया है[2]। सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षणरत्नकोष' में अश्मकुट्ट का चार बार और नखकुट्ट का दो बार उल्लेख किया है[3]। इससे ज्ञात होता है कि इन दोनों का कोई प्राचीन नाटशास्त्र का ग्रन्थ रहा होगा जिससे उनके मतों का विश्वनाथ व सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

वादरायण और शातकर्णी—

नाटचशास्त्र में भरतशिष्यों की सूची में वादरायण[4] और शातकर्णी[5] का उल्लेख किया गया है। सागरनन्दी नाटकलक्षरत्नकोष में वादरायण का तीन बार उल्लेख हुआ है[6]। अनर्धराघव की टीका में शातकर्णी का उल्लेख मिलता है[7]। सागरनन्दी ने नाटकलणरत्नकोष में शातकर्णी का उल्लेख किया है[8]। इससे ज्ञात होता है कि ये नाटचशात्र के स्वतन्त्र लेखक रहे होंगे। किन्तु उनके ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं।

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १।३३।

२. साहित्यदर्पण (चौखम्बा) पृ० ३९२।

३. नाटकलक्षणरत्नकोश पृ० १०, ४५, २६२, २६७, ३०६।

४. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १।३२।

५. वही १२८।

६. नाटकलक्षणरत्नकोष पृ० १०९, २६२, ३०६।

७. अनर्धराघव पृ० ७।

८. नाटकलक्षणरत्नकोष पृ० ११०।

आञ्जनेय और याष्टिक

आञ्जनेय हनुमन्मत के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। शार्ङ्गदेव आदि आचार्यों ने हनुमन्मत का उल्लेख किया है। आञ्जनेय ने मार्गी और देशी संगीत के इन दोनों प्रकारों में से देशी संगीत पर विचार किया है। संगीतसुधा के रचयिता रघुनाथ के अनुसार एक बार आञ्जनेय भ्रमण करते हुए कदलीवन पहुँचे। वहाँ याष्टिक मुनि दक्ष आदि शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे। दक्ष आदि शिष्यों ने याष्टिक मुनि से पूछा कि सात शुद्ध और द्वादश विकृत स्वरों में एक स्वर की अधिक से अधिक चार श्रुतियाँ होती हैं। किन्तु देशी रागों में पाँच, छः, सात श्रुतियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार शास्त्र से विरोध है। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया कि न तो शास्त्रविरोध रहा और रागप्राप्ति भी हो गई। याष्टिक मुनि द्वारा कथित उक्त गायन-शैली एवं शिष्यों की गायन शैली को ध्यान में रखकर आञ्जनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की[1]। उनकी उक्त रचना 'आञ्जनेयसंहिता' है। इसे 'हनुमन्संहिता' भी कहते हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। आञ्जनेयसंहिता में शास्त्रीय और क्रियात्मक दोनों प्रकार के संगीत का विवेचन है। हनुमन्मत के अनुसार जिन रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति का नियम नहीं होता और जिन पर विभिन्न स्थानों की प्रादेशिक छाया होती है उसे 'देशी-राग' कहते हैं[2]। हनुमन्मत के अनुसार सात शुद्धस्वर और पाँच विकृत स्वर तीन सप्तकों के भेद से छत्तीस होते हैं और इन छत्तीस स्वरों के द्वारा छः राग और सात रागिनियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त तीन ग्रामों और इक्कीस मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया गया है।

तमिलभाषा में 'पञ्चभारतम्' नामक एक रचना मिलती है जो नारद से सम्बन्धित बतायी जाती है। भरत से सम्बन्धित पाँच नाम हैं—आदिभरत, हनुमद्भरत, मतंगभरत, अर्जुनभरत और नन्दिभरत। ये सभी नाटच एवं संगीत के आचार्य थे और नाटच एवं संगीत पर ग्रन्थों की रचना की थी। इसमें 'हनुमद्भरत' वही होंगे जिनका नाम आञ्जनेय है और जिन्होंने हनुमन्मत का प्रवर्त्तन किया है। शारदातनय के भावप्रकाशन में पाँच भरतों में हनुमद्भरत का निर्देश प्राप्त होता है। इस आधार पर आञ्जनेय एक भरत थे जिन्होंने स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, राग, रागिनियों एवं तानों पर विचार किया है।

---

१. संगीतसुधा (रघुनाथ)

२. येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहि।
नानादेशगतिच्छाया देशीरागस्तु ते स्मृताः ।। (आञ्जनेयसंहिता)

याष्टिक मुनि दक्ष के गुरु थे। उन्होंने देशी रागों के भाषा, विभाषा एवं अन्तर्भाषा नामक तीन भेद किये हैं। मतंग ने याष्टिक के मतानुसार भाषा का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'याष्टिक-संहिता' है, किन्तु यह अनुपलब्ध है।

विश्वावसु और अर्जुन

विश्वावसु संगीत के प्रमुख आचार्य थे। ये वीणावादन में अत्यन्त प्रवीण थे। विश्वावसु की वीणा का नाम 'बृहती' था (**विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती**) विश्वावसु गन्धर्व थे। वे वीणा पर गान्धर्व-गान गाया करते थे। मतंग ने विश्वावसु का उल्लेख बृहद्देशी में आचार्य के रूप में किया है। विश्वावसु के प्रमुख शिष्य अर्जुन थे। अर्जुन एक भरत थे। भरत के सम्बद्ध पाँच नाम उपलब्ध होते हैं—आदिभरत, हनुमद्भरत, नन्दिभरत, अर्जुनभरत और मतंग-भरत। इनमें अर्जुनभरत का उल्लेख है। शारदातनय के 'पञ्चभारतीयम्' नामक ग्रन्थ में आदिभरत आदि पाँच भरतों के सिद्धान्तों का सम्पादन हुआ होगा। ये पाँचों भरत के शिष्य रहे होंगे इसीलिए वाद्यशास्त्र के विकास में इनका योगदान स्मरणीय है।

अग्निपुराण—

अग्निपुराण में काव्यालङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत नाटच का भी विवेचन किया गया है। अग्निपुराण में नाटच के सत्ताइस भेदों का निरूपण किया गया है। नाटचशास्त्र में दस रूपकों का विवेचन है किन्तु अग्निपुराण में सत्ताइस प्रकार के रूपक गिनाये गये हैं। परवर्त्ती आचार्यों ने इनमें से आदि के दस भेदों को रूपक तथा शेष सत्तरह भेदों को उपरूपक की संज्ञा दी है। अग्निपुराण में नाटच को धर्म, अर्थ और काम का साधन बताया है (**त्रिवर्गसाधनं नाटचम्**)। अग्निपुराण में पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्गों का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् छः नाटकीय गुणों का उल्लेख किया है। इतिवृत्त की योजना, वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति, गोपनीय का गोपन, प्रकाशनीय का प्रकाशन और अलौकिक अर्थ (वस्तु) का कथन ये छः नाटकीय गुण हैं। अग्निपुराण के अनुसार जिसके द्वारा नाटच के विविध अर्थों के सामाजिकों के समक्ष ले जाकर रसस्वादन कराया जाता है उसे अभिनय कहते हैं। अग्निपुराण में अभिनय के चार प्रकार बताये हैं—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इनमें आङ्गिक अभिनय के छः अङ्ग, छः प्रत्यङ्ग बताये गये हैं। इन चतुर्विध अभिनयों के द्वारा सामाजिकों के हृदय में रस का सञ्चार किया जाता है।

अग्निपुराण में रस के विषय में मौलिक विचारधारा प्रतिपादित है। अग्नि-पुराणकार ने दार्शनिक धरातल पर रस-चिन्तन की एक नवीन दिशा प्रदान

की है जो परवर्त्ती रस-विवेचन का आधार है। अग्निपुराण के अनुसार अक्षर, अज, अद्वितीय, ज्योतिर्मय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। इसी सहज आनन्दरूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस कहते हैं। अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित माना है। रसहीन भाव और भावहीन रस की कल्पना नहीं की जासकती। ये एक दूसरे के उपकारक है। अग्निपुराण के अनुसार रस के भावों की अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण का नाटयशास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है।

कात्यायन-राहुल—

अभिनवगुप्त ने कात्यायन के मत का उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि कात्यायन नाटचशास्त्र एवं छन्दःशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। सागरनन्दी भी 'भूषण' के अन्तर्गत कात्यायन के मत को उद्धृत किया है जिससे प्रतीत होता है कि कात्यायन नाटचशास्त्र के आचार्य थे। ये आचार्य कात्यायन वैयाकरण कात्यायन से भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार अभिनवगुप्त एवं सागरनन्दी ने आचार्य राहुल के कुछ उद्धरण उद्धृत किये हैं। संगीतरत्नाकर राहुल नामक आचार्य का उल्लेख दिया है। 'राहल' और राहुल एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उन्होंने 'भरतवार्त्तिकम्' नाम से नाटचशास्त्र की व्याख्या लिखी है। इस प्रकार राहुल नाटच और नृत्य के आचार्य रहे हैं। स्त्रियों के अलंकार के सम्बन्ध में उनका भरत से मतभेद है। जिसका निर्देश अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में किया है।

मातृगुप्त—

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में वीणावादन के पुष्प नामक भेद के विवेचन के प्रसङ्ग में मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है। ये भरत के परवर्त्ती नाटचाचार्य हैं। शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटचरूप के विवेचन के प्रसङ्ग में मातृगुप्त का मत उद्धत किया है। इनके अतिरिक्त शाङ्र्गदेव संगीतरत्नाकर में नाटचाङ्गों के निरूपण के प्रसङ्ग में मातृगुप्त के विचारों को स्वीकार किया है। अभिज्ञानशकुन्तलम् के व्याख्याकार राघवभट्ट ने मातृगुत के बहुत से उद्धरण उद्धृत किये हैं। सुन्दरमिश्र ने 'नाटचप्रदीप' में मातृगुप्त का नाटचशास्त्र के व्याख्याता के रूप में उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने नाटच-शास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा जिसमें भरत के मतों की मीमांसा की हो।

वार्त्तिककार हर्ष—

अभिनवभारती के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त के पूर्व ही हर्ष ने नाट्यशास्त्र पर वार्त्तिक लिखा था। वार्त्तिक लिखने के कारण ही वे वार्त्तिककार के रूप में विख्यात हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नाट्य-नृत्य एवं वाद्य के सम्बन्ध में इनका अनेक बार उल्लेख किया है। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष में हर्ष का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। हर्ष मातृगुप्त के समकालीन रहे हैं। शारदातनय ने त्रोटकलक्षण निरूपण के प्रसङ्ग में हर्ष का मत प्रस्तुत किया है। डॉ० शंकरन के मतानुसार वार्त्तिककार हर्ष और हर्षवर्द्धन एक ही व्यक्ति है। हर्ष के मतानुसार नृत्त और नाट्य में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि दोनों में आङ्गिक एवं वाचिक अभिनयों का प्रयोग समानरूप से लक्षित होता है—

वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
उभयोरपि हि समानः को भेदो नृत्तनाट्यगतः॥

(अभिनवभारती भाग १ पृष्ठ २०६)

हर्ष के अनुसार पूर्वरङ्ग में संगीत का प्रचुर प्रयोग होता था। उन्होंने वीणा-वादन प्रकार के सम्बन्ध में दशविध धातु का उल्लेख किया है।

मतङ्ग—

मतङ्ग संगीतशास्त्र के आचार्य थे। तमिलभाषा में प्राप्त 'पञ्चभरतम्' नामक ग्रन्थ में भरत से सम्बन्धित पाँच नामों में मतङ्गभरत का भी उल्लेख है। इस प्रकार मतङ्ग एक भरत थे। 'सिलप्पादिकरण' नामक 'तमिलग्रन्थ में मतङ्ग-भरत का उल्लेख होने से उनका समय पञ्चम शताब्दी माना जाता है। मतङ्ग की कृति का नाम 'बृहद्देशी' है। यह संगीतशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में कुल छः अध्याय हैं। बृहद्देशी खण्डित रूप में प्राप्त है। मतङ्ग ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का स्मरण किया है। मतङ्ग ने देशी रागों को ग्रामों में वर्गीकृत किया है। मतङ्ग ने भरतप्रतिपादित सप्त मूर्च्छनाएँ तो स्वीकार है किन्तु उन्होंने रागसिद्धि के लिए 'द्वादशस्वरमूर्च्छना-वाद' को भी स्वीकार किया है। यह द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद नन्दिकेश्वर का कहा जाता है। जैसा कि मतङ्ग ने कहा है—

नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—

द्वादशस्वरस्वरसम्पना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिरागादिसद्धिचर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये॥

यद्यप्याचार्यैः सप्तमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ता इति।" (बृहद्देशी पृष्ठ २२)

भाव यह कि तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए तथा तार-मन्द्रादि की सिद्धि के लिए द्वादश मूर्च्छनाओं का निर्देश है। किन्तु अभिनवगुप्त ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद का खण्डन किया है। मतङ्ग को चित्रा-वादक कहा गया है। चित्रा पर सात तार होते हैं। जिन पर क्रमशः सातों स्वरों की अभिव्यक्ति होती है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने मतङ्ग को किन्नरी वीणा का आविष्कारक बताया है। कुम्भ के अनुसार किन्नरीवीणा पर चौदह से लेकर अठारह सारिकाएँ होती हैं। इसके पूर्व वीणा पर सारिकाएँ नहीं होती थीं। इस प्रकार संगीतशास्त्र को मतंग की भी महती देन है।

कीर्त्तिधर—

कीर्त्तिधर नाटच एवं संगीत के आचार्य थे। अभिनवगुप्त ने इन्हें नाटचशास्त्र के व्याख्याता के रूप में स्मरण किया है। अभिनव ने अभिनवभारती को छठे एवं उन्नीसवें अध्याय में इनका उल्लेख किया है। अभिनव ने चित्राभिनय के प्रसङ्ग में कीर्त्तिधर का उल्लेख किया है—

"...............अभिनेयपदादीनां च नाटयेऽपि सक्तेति नाटचमेवेदमिति कीर्त्तिधराचार्याः।"

अभिनव का कथन है कि कीर्त्तिधर की कुछ मान्यताएँ नन्दिकेश्वर के मत पर आधारित हैं—

"यत्तु कीर्त्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागामित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टम्–तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः.........नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निरूपितः।"

(अभिनवभारती भाग २ पृ० १०)

शाङ्र्गदेव ने कीर्त्तिधर के नाम की चर्चा अभिनवगुप्त के साथ की है। कीर्त्तिधर नाटच के साथ संगीत के भी आचार्य थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'कीर्तिधरीयम्' है।

अभिनवगुप्त—

अभिनवगुप्त दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटचशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र पर अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका से लिखी है। इसमें अभिनवभारती नाटचशास्त्रीय तथा लोचन काव्यशास्त्रीय टीका ग्रन्थ हैं। किन्तु ये दोनों टीकाएँ

किसी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं हैं। अभिनव ने नाट्य, संगीत, अभिनय आदि विषयों पर अनेक मौलिक विचार प्रकट किये हैं। अपने मौलिकतापूर्ण विवेचन के कारण ही उन्हें नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

अभिनवगुप्त ने लगभग चालिस ग्रन्थों का प्रणयन किया है किन्तु उनमें नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें प्राचीन आलङ्कारिकों, नाट्याचार्यों एवं संगीताचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त रस-सिद्धान्त के पोषक आचार्य थे, उन्होंने 'रसध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय एवं संगीतशास्त्रीय परम्परा के प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनेक नाट्याचार्य एवं संगीताचार्य हुए हैं जिनका नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है, उसमें धनञ्जय, शारदातनय, शिङ्गभूपाल, विश्वनाथ, शाङ्र्गदेव आदि प्रमुख हैं।

आचार्य नन्दिकेश्वर का स्थान

नाट्यकला एवं संगीतशास्त्र के इतिहास में नन्दिकेश्वर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अभिनय का उपरंजन तथा अन्य ललित कलाओं (संगीत, नृत्त, नृत्य) का भव्य विधान कर नाट्य एवं संगीतशास्त्र को एक नवीन दिशा प्रदान की है। संगीत का नाट्य से अटूट सम्बन्ध है। संगीत (गीत, नृत्य, वाद्य) के बिना नाट्यकला सर्वांग सुन्दर और पूर्ण नहीं मानी जा सकती। नाट्यकला भारतीय वाङ्मय की एक महत्त्वपूर्ण विधा। गीत, वाद्य और नृत्य उसकी सहयोगिनी कलाएँ हैं गीत तो नाट्य का प्राणाधायक तत्त्व है और वाद्यवृन्द उसके उपरंजक तत्त्व हैं। बिना वाद्यवृन्द के गीत नीरस हो जाता है। ये एक दूसरे के पूरक हैं। भरत ने गीत और वाद्य को नाट्य की शय्या कहा है। उनके अनुसार गीत और वाद्य के समुचित प्रयोग से ही नाट्य प्रयोग विपद्ग्रस्त नहीं होता[1]। 'गीतों' का प्रयोग नाट्य में भाव रस की सृष्टि करता है। अतः नाट्य में संगीत का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।

नन्दिकेश्वर की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने संगीत जैसे सरस, सुकोमल विषय का मूल दार्शनिक परिवेश में खोजा है। शिव जो नटराजराज

१. गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ॥
(नाट्यशास्त्र (काव्यमाला) ३२।४४१)

कहे जाते हैं के डमरु से चौदह सूत्र निकले हैं[1] इन चौदह सूत्रों के आधार पर पाणिनि व्याकरणशास्त्र की रचना की है। नन्दिकेश्वर की दिशा दूसरी रहीं। उन्होंने इन चौदह सूत्रों की दो दृष्टिकोणों से व्याख्या की है। एक दार्शनिक दृष्टि से दूसरी संगीत की दृष्टि से। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों के आधार पर शैवमतप्रतिपादक 'नन्दिकेश्वरकाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना की है। जिसमें माहेश्वर सूत्रों की शैवदर्शन की दृष्टि से व्याख्या की है। नन्दिकेश्वर ने इन्हीं माहेश्वर सूत्रों से सांगीतिक सप्त स्वरों की उत्पत्ति बतायी है[2]। माहेश्वरसूत्रों में कुल नौ स्वर होते हैं किन्तु नन्दिकेश्वर केवल सात स्वर मौलिक मानते हैं। ऋ, ऌ को उन्होंने नपुंसक ध्वनियाँ मानी हैं[3]। इनके अतिरिक्त उन्होंने सातों स्वरों का प्रतिपादन श्रुतियों के आधार पर किया है। नन्दिकेश्वर की यह मौलिक देन है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय को व्यापक दृष्टि से देखा जाता है। उनके अभिनय के क्षेत्र में नाटच नृत्त और नृत्य तीनों का समावेश है। इसीलिए उन्होंने अभिनय के साथ नृत्य और नृत्त पर भी विचार किया है। अभिनय के दृष्टि से उनका 'अभिनयदर्पण' तथा नृत्य की दृष्टि से 'भरतार्णव' प्रमुख ग्रन्थ है। उनके अनुसार नृत्त और नृत्य नाटच के उपकारक तत्त्व हैं क्योंकि नृत्य का प्रयोग नाटच की शोभा वृद्धि के लिए होता है[4]। नन्दिकेश्वर ने नृत्त के दोनों प्रकार ताण्डव और लास्य के शास्त्रीय एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों पर विचार किया है। उनके आराध्य हैं स्वयं नर्तन करने वाले नटराजराज शिव एवं लास्य-जननी मां पार्वती। उन्हीं के चरणों में बैठकर उन्होंने ज्ञानार्जन किया है अभिनय एवं नृत्य सीखा है तो वे अभिनय एवं नृत्यकला में पारगंत क्यों नहीं हो सकते ? अतएव अभिनय की सफलता की दृष्टि से उन्होंने नाटच के साथ नृत्त एवं नृत्य दोनों पर पर विचार किया है। अभिनय की सफलता में जिस प्रकार नृत्य आवश्यक है उसी प्रकार गीत भी अभिनय का उपरंजक तत्त्व है। इसीलिए उन्होंने गीत विषयक तत्त्वों पर अलग से 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' में विचार किया है। ताल के विषय में नन्दिकेश्वर का मौलिक दृष्टिकोण है। उन्होंने माहेश्वर सूत्रों की

---

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥
(नन्दिकेश्वरकाशिका १)

२. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २८)

३. वही पृ० २४।

४. किन्तु शोभां प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम्। (अभिनवभारती भाग ४ पृ० २६४)

व्याख्या ताल के दृष्टिकोण से भी है। उनके अनुसार माहेश्वर के सूत्रों में प्रथम-सूत्र (अइउण्) में प्रत्येक की तीन मात्राएँ मानी है, द्वितीय सूत्र को नपुंसक माना है। तृतीय सूत्र में (एओङ् में) दो गुरु माना है और उनकी चार मात्राएँ मानी है। चतुर्थ सूत्र (ऐ औ च्) में दो प्लुत अर्थात् छः मात्राएँ मानी हैं उन्होंने ताल के दस प्राण बताये हैं। ताल के सम्बन्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण अन्य किसी नाटचाचार्य या संगीताचार्य का नहीं रहा है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर का अभिनय एवं संगीतपरक दृष्टिकोण अनेक नवीनताओं से ओत-प्रोत है जो भारतीय नाटचशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के लिए अपूर्व मार्गदर्शक है। वे केवल नाटचकला एवं संगीतशास्त्र के ही आचार्य नहीं थे अपितु योग, तन्त्र, शैवागम, मीमांसा, कामशास्त्र, रसशास्त्र के भी महान् विचारक थे। इस प्रकार वे नाटचशास्त्र-प्रणेता, उत्तम विचारक, प्रौढ दार्शनिक, रसशास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् थे। ये शिव के अवतार माने जाते थे। इन्हीं के नन्दी, नन्दिन्, नन्दीश्वर तण्डु आदि अनेक नाम हैं। इन्होंने नाटचशास्त्र के साथ संगीतशास्त्र एवं अभिनय-कला पर भी विचार किया है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने अपनी मौलिक प्रतिभा से अभिनय के विभिन्न अवयवों एवं संगीत की विभिन्न विधाओं पर वैदुष्यपूर्ण चिन्तन कर एक स्वतन्त्र नवीन प्रस्थान सृजन किया है। यदि विद्वान् आचार्यों ने उनके व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में असुलभ वैशिष्टच एवं असाधारण प्रतिभा का दर्शन न किया होता तो आज उन्हें ऐसी प्रतिष्ठा कैसे मिलती ? उनका यह वैशिष्टच नाटचशास्त्रीय एवं संगीतशास्त्रीय विवेच्य विषयों पर उनका अविस्मरणीय अनुदान तथा उनका प्रभावपूर्ण एवं महान् व्यक्तित्व ही है। ऐसे महान् विचारक आचार्यों के यशःकाय में जरा-मरण-जन्य भय का अवकाश नहीं रहता। यदि उनके समस्त ग्रन्थ आज पूर्णरूप में प्राप्त होते तो भारतीय वाङ्मय उनका कितना ऋणी रहता।

●

चतुर्थ अध्याय

आचार्य नन्दिकेश्वर का साहित्य

नन्दिकेश्वर के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ :—

नन्दिकेश्वर शिव के अनन्य भक्त एवं उनके प्रमुख पार्षद थे। शिव की उपासना के अतिरिक्त जितना भी समय बचता था उसे वे शास्त्र-चिन्तन में ही बिताते थे। उन्हें महामहेश्वर शिव का प्रसाद एवं मां पार्वती का वात्सल्य भी प्राप्त था। उसके पास रह कर जो कुछ सुना या सीखा, उसे शास्त्र के रूप में प्रकट किया। उन्होंने शास्त्र की किन-किन विधाओं में साहित्य रचना की, यह आज अज्ञात है। विद्वानों के अन्वेषण के पश्चात् अब तक उनकी जो रचनाएँ ज्ञात हो सकी हैं, उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

१. नन्दिकेश्वरसंहिता (नन्दीश्वरसंहिता)
२. अभिनयदर्पण
३. भरतार्णव
४. नन्दिकेश्वर-काशिका
५. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण
६. नन्दिभरत
७. भरतार्थचन्द्रिका
८. काललक्षण, तालादिलक्षण, तालाभिनय लक्षण
९. नन्दिकेश्वरतिलक
१०. योगतारावली
११. प्रभाकरविजय
१२. लिंगधारणचन्द्रिका

१. नन्दिकेश्वरसंहिताः—

सिंहभूपाल के अनुसार नन्दिकेश्वर की प्रथम कृति 'नन्दिकेश्वरसंहिता' है।[1] किन्तु यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। केवल इसके उद्धरणमात्र मिलते हैं। 'नन्दिकेश्वरसंहिता' नाट्यपरक ग्रन्थ प्रतीत होता है। नन्दिकेश्वर ने महादेव से जिस नाट्यवेद का अध्ययन किया था, उसी के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की होगी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 'नन्दिकेश्वरसंहिता' में सम्वाद अभिनय, गीत, नृत्य, वाद्य, रस आदि नाटचशास्त्रसम्बन्धी विविध बिषयों का विवेचन किया गया होगा। सम्भव है 'नन्दिकेश्वरसंहिता' की कुछ खण्डित पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई हों, जिसके आधार पर अभिनयपरक अध्यायों को जोड़कर 'अभिनयदर्पण' और सङ्गीतपरक अध्यायों को जोड़कर 'भरतार्णव' का सम्पादन किया गया होगा। क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। 'भरतार्णव' के प्रारम्भ के चार अध्यायों में हस्तभिनय का विवेचन है। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही हस्तभिनय से होता है जिससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में कुछ और विषय रहे होगें जो किसी कारणवश नष्ट हो गये और अवशिष्ट भाग का प्रकाशन करा दिया गया। प्रो० रामकृष्ण कवि का भी यही अभिमत है कि नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वरसंहिता' की रचना की थी जिसका अधिकतरभाग नष्ट हो हो गया किन्तु केवल पात्र सम्बन्धी परिच्छेद बच गया। वही अवशिष्ट अंश संभवतः वर्तमान 'अभिनय दर्पण' है।[2] रघुनाथ के 'सङ्गीतसुधा' नामक ग्रन्थ में 'नन्दीश्वरसंहिता' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार 'औमापतम्' नामक ग्रन्थ जो सम्प्रति उपलब्ध है वह उसी संहिता का संक्षिप्त रूपान्तर है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर के 'नन्दिकेश्वरसंहिता नामक ग्रन्थ का अस्तित्व अवश्य था, जो भ्रष्ट एवं अपूर्ण दशा में प्राप्त हुआ होगा और उसी का सम्पादन 'अभिनयदर्पण' तथा 'भरतार्णव' के नाम से कर दिया होगा।

२. अभिनयदर्पणः—

'अभिनयदर्पण' नन्दिकेश्वर की महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् १९१७ में कैम्ब्रिज से अंग्रेजी में हुआ था। इसके अनुवादक श्रीआनन्द-कुमार स्वामी हैं। इनका यह अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अनुवाद मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी की तेलगू लिपि

---

१. भारतीय साहित्य-संगीतपरम्परा और भरतार्णव पृ० ६८

२. दि क्वाटंरली जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिशर्च सोसाइटी-भाग ३ पृ० २५ २६

३. 'संगीतसुधा' (भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६५)

की प्रति के आधार पर किया है जिसके सम्पादक श्री तिरुवेंकटाचार्य हैं, किन्तु वेङ्कटाचार्य द्वारा सम्पादित तेलगू लिपि के पुस्तक मिलान करने पर दोनों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। जैसे उक्त अंग्रेजी अनुवाद में पाद-गति से सम्बन्धित मण्डल, चारी और गति मुद्राएँ छोड़ दी गई है जो अभिनय को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'असयुतहस्त' के विनियोगों में भी यत्र-तत्र कुछ विभिन्नताएँ हैं।[1] दूसरा संस्करण १९३४ ई० में श्री मनमोहनघोष के द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादन के समय कई पाण्डुलिपियों का अवलोकन किया था। उन्हें जो पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई उनका विवरण निम्नप्रकार हैं[2]—

१. प्रथम पान्डुलिपि मद्रास राजकीय प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहालय की है। यह नागरी लिपि में लिखित तेलगू भाषा में हैं जिसका अन्वेषण श्री शेषगिरि शास्त्री ने १८९३-९४ में किया था।

२. द्वितीय हस्तलिखित प्रति विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, बंगाल की है जिसकी संख्या ३०३८ है। यह तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है। इस प्रति में २९ पत्र हैं।

३. तृतीय हस्तलिखित प्रति 'अड्यार ग्रन्थालय' से प्राप्त की थी जिसकी संख्या XXIIC. २५ है। यह तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है। इसमें ५३ पत्र हैं।

४. चतुर्थ हस्तलिखित प्रति भी 'अड्यार ग्रन्थालय' की तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है। जिसकी संख्या XXII C ३८६ है। इस प्रति में २८ पत्र हैं जिनमें अनेक पत्र नष्टप्राय हैं।

५. पंचम पाण्डुलिपि भी 'अड्यार ग्रन्थालय' की है। इसकी संख्या VIII/९ और १४ पृष्ठ हैं। यह तेलगू भाषा में कागज पर लिखी हुई है।

उपर्युक्त पांचों हस्तलिखित प्रतियों में विश्वभारती, शान्तिनिकेतन वाली प्रति को छोड़कर शेष चारों प्रतियां अपूर्ण है तथा इनके विषय-प्रतिपादन में भी पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

६. षष्ठ हस्तलिखित प्रति 'भारतीय ग्रन्थालय' (India office Library) की हैं जिसकी संख्या ३०२८ है। यह प्रति तेलगू भाषा में है।

७. सप्तम पाण्डुलिपि 'भारतीय ग्रन्थालय (India office Library) से प्राप्त की थी। इसकी संख्या ३०९० है। यह देवनागरी लिपि में है।

---

१. अभिनयदर्पण (घोष) भूमिका पृ०

२. वही पृ० १४-१६, १८

भारतीय ग्रन्थालय से प्राप्त दोनों प्रतियों में अभिनय एवं ताल को लिया गया है। इनकी पुष्पिका में 'इति आंजनेयः' लिखा हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि ये हस्तलिखित प्रतियां किसी आंजनेय सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

श्रीमनमोहन घोष ने उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों का वैज्ञानिक अध्ययन कर 'अभिनयदर्पण' का शुद्ध एवं परिष्कृत संस्करण १९३४ में प्रकाशित किया था। उनका यह संस्करण मुख्यतः विश्वभारती, शान्तिनिकेतन वाली हस्तप्रति पर आधारित है किन्तु नवग्रहलक्षण राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास की प्रति से लिया गया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में फुटनोट के रूप में रस और अवस्था के लक्षण और प्रयोग भीं दिये गये हैं वे राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थालय मद्रास की प्रति से लिये गये हैं।[1] इस प्रकार की घोष-महोदय ने विभिन्न स्रोतों से सामग्री एकत्रित कर अभिनयदर्पण का शुद्ध एवं संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है। उनका यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि श्री आनन्दकुमार स्वामी ने १९१७ ई० हर्वर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज से अभिनयदर्पण का अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर' के नाम से किया था। उसका दूसरा संशोधित संस्करण १९३६ ई० में न्यूयार्क से प्रकाशित हुआ। श्री आनन्दकुमार स्वामी ने 'मिरर आफ जेश्चर' के प्रथम श्लोक की टिप्पणी में बताया है कि अभिनयदर्पण भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पूना में प्राप्त 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है। किन्तु अन्यत्र कहीं भी ऐसा कोई लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि अभिनयदर्पण भरतार्णव का संक्षिप्त रूप है।

भरतार्णवः—

'भरतार्णव' नन्दिकेश्वर की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री के० वासुदेव शास्त्री द्वारा सरस्वती महल ग्रन्थालय, तंजीर से १९५७ में हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय जिन पाण्डुलिपियों का संग्रह किया गया था उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

१. प्रथम हस्तखित प्रति भण्डाकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान पूना से प्राप्त की थी जिसमें १०१ से ८१० श्लोक प्राप्त हैं। यह पाण्डुलिपि अपूर्ण है।

२. द्वितीय हस्तलिखित प्रति मैसूर प्राच्यविद्या संस्थान से प्राप्त की थी। यह पाण्डुलिपि अशुद्ध एवं अपूर्ण है। इसमें कुल अध्याओं की संख्या नहीं दी गई है।

---

१. अभिनयदर्पण (घोष) भूमिका, पृ० १९। २. भरतार्णव (भूमिका) पृ० ७।

३. तृतीय हस्तलिखित प्रति सरस्वती महल, ग्रन्थालय, तंजौर की है। यह पाण्डुलिपि भी अपूर्ण है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय और आठ सौ श्लोक हैं। इसी के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है।

४. चतुर्थ हस्तलिखित प्रति राजकीय प्राच्यविद्या, ग्रन्थालय, मद्रास से प्राप्त की थी जिसकी तेलगू में टीका है।

इनमें भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान, पूना से जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त है उसके प्रथम भाग में विविध प्रकार के नर्तन एवं विशेष अभिनयों का प्रतिपादन है। द्वितीय भाग में संकरहस्त और नानार्थहस्त से सम्बन्धित अध्याय हैं जिनका विवेचन प्रकाशित भरतार्णव के षष्ठ एवं दशम अध्यायों में किया गया है। प्रकाशित संस्करण के प्रथम तीन अध्याय (१-३) तक जो हस्तमुद्राओं से सम्बन्धित हैं वे सरस्वती महल, ग्रन्थालय, तथा भण्डारकर, प्राच्यविद्या शोध-संस्थान में प्राप्त पाण्डुलिपियों की सहायता से पुनरुद्धरित किगे गये हैं। ये तोनों अध्याय प्राच्यविद्या, संस्थान मैसूर वाली पाण्डुलिपियों में भी उसी प्रकार हैं जैसे तंजौर और पूना वाली पाण्डुलिपयों में हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग जिसमें बृहस्पति के अनुसार हस्तमुद्राओं का विनियोग वर्णित है वह भरतार्णव का एक भाग है इसी अध्याय के द्वितीय भाग में सरस्वती महल, तंजौर तथा प्राच्यविद्या, शोध-संस्थान, पूना से प्राप्त पाण्डुलिपियों तथा मैसूर की पाण्डुलिपि के आधार पर शिर और दृष्टि तथा पाठभेद जोड़ दिये गये हैं। शेष भाग भरतार्णव के हैं जो सरस्वती महल, तंजौर की प्रति के आधार पर प्रकाशित है। राजकीय पुस्तकालय मद्रास से जो पाण्डुलिपि प्राप्त है वह मुख्यतः भरतार्णव से भिन्न थी अतः उसे भरतार्णव में नहीं जोड़ा गया है।

नन्दिकेश्वर-रचित भरतार्णव के पाँच रूप प्राप्त होते हैं। उनमें प्रथम रूप 'नन्दिकेश्वरसंहिता' है जिसका उल्लेख सिंहभूपाल ने सङ्गीतरत्नाकर की टीका में किया है। सिंहभूपाल के अनुसार 'भरतार्णव' नन्दिकेश्वरसंहिता' का ही भाग है। दूसरा रूप 'भरतार्णव' है[1] जिसमें चार हजार श्लोक हैं। तीसरा 'भरतार्णव-संग्रह' है जो दूसरे वाले का संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है। भरतार्णव का चौथा रूप 'गुहेश भरतार्णव' है जिसका सम्पादन गुहेश ने किया था। यह परमशिव से प्राप्त था। ऐसी प्रतीत होता है कि तामिल में नाटय या नृत्य की परम्परा थी उसी आधार पर यह ग्रन्थ सम्पादित है। पाँचवां 'भरत सेनापत्यम्' है। इसके नाम से पता चलता है यह संस्कृत से तामिल भाषा में अनूदित है। सेनापति (स्कन्द) ने इसका सम्पादन किया था। इसलिये इसका नाम 'भरत-सेनापत्यम्' पड़ा है। वर्तमान भरतार्णव जो सरस्वती महल, ग्रन्थालय से प्रकाशित है उसमें ९९२

१. भरतार्णव (भूमिका) पृ० ४।

श्लोक और पन्द्रह अध्याय हैं। इसका अंग्रेजी तथा तामिल भाषा में अनुवाद है। इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत 'भरतावर्णकोश' का उल्लेख है। इसमें प्रारम्भ में सात सूत्र तथा दो सौ पचास श्लोक है जो अभिनय से सम्बन्धित हैं।

४. नन्दिकेश्वरकाशिका—

नन्दिकेश्वरकाशिका माहेश्वरसूत्रों की शैवदर्शन परक व्याख्या है। यह ग्रन्थ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ है। इस पर उपमन्यु की टीका मिलती है जो संस्कृत में है।

५. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण—

इस ग्रन्थ में माहेश्वरसूत्रों की संगीतपरक व्याख्या है। वर्तमान समय में इसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं। प्रथम संस्करण 'न्यू इंडियन एन्टीक्वेरी' नामक पत्रिका में १९४३ में प्रकाशित हुआ है और दूसरा संस्करण 'जम्बूअम्' (मद्रास म्यूजिक एकादमी) में अगस्त १९५२ में प्रकाशित है[१]। तीसरा संस्करण सारस्वती-सुषमा वाराणसी में विक्रमी सम्वत् २०३७ में 'रुद्रडमरुद्भवसूत्र-विवरणम्' के नाम से प्रकाशित है जिसके सम्पादक डा० पारसनाथ द्विवेदी प्रोफेसर, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय है। इसमें शिव के डमरु से उत्पन्न होने वाले नादों की संगीतात्मक व्याख्या है।

६. नन्दिभरत—

नन्दिकेश्वर की 'नन्दिभरत' नामक एक कृति का उल्लेख मैसूर तथा कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में है[२]। इसके अतिरिक्त वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर के हस्तलिखित ग्रन्थालय में 'नन्दिभरतम्' नामक एक कृति विद्यमान है। जिसकी संख्या ५६२४ है और तीन पत्र हैं। नाटचशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय की समाप्ति पर 'नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्' लिखा हुआ है[३]। इससे ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर का संगीत पर कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा, जिसके आधार पर उक्त उद्धरण लिया गया होगा। सम्भव है वह ग्रन्थ 'नन्दिभरत' ही रहा हो। इसके अतिरिक्त तामिल भाषा में 'पंचभरतम्' नामक एक कृति मिलती है, जो नारद से सम्बन्धित बताई जाती है[४]। सम्भवतः नारद ने इस ग्रन्थ में संगीत के पाँच रूपों पर विचार किया होगा जो नर्तन या नाटच से विशेष सम्बद्ध रहा होगा अतः इसे 'पंचभरतम्' गया कहा है। भरत से सम्बन्धित पाँच नाम आते हैं—आदिभरतम् नन्दिभरतम् अर्जुनभरम्, हनुमद्भरतम् और मतङ्गभरतम्[५]। अधिक सम्भव है कि इन पाँचों भरतों के

१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १ पृ० ५४३। २. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० ४६५।

३. समाप्तश्चायं नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम् (नाटचशास्त्र काव्यमाला संस्करण अन्तिम पुष्पिका)।

४. भारतीय साहित्य (संगीत परम्परा और भरतार्णव) पृ० ६९। ५. वही।

सिद्धान्तों का इसमें सम्पादन हो इसलिए इसका नाम 'पंचभरतम्' पड़ा हो, क्योंकि शारदातनय ने भी 'पंचभरतम्'[1] नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसमें पाँचों भरतों के सिद्धान्तों का सम्पादन रहा होगा। इससे स्पष्ट है कि शारदातनय को पंचभारतीयम् ग्रन्थ का पता था। इन पाँचों भरतों में नन्दिभरत का भी नाम है अतः उन्हीं के नाम की 'नन्दिभरतम्' नामक कोई संगीत की पुस्तक रही होगी, जिसकी चर्चा पंचभारतीयम् में है।

७. भरतार्थचन्द्रिका—

नन्दिभरत के नाम की एक अन्य कृति 'भरतार्थचन्द्रिका' मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में उपलब्ध है[2]। किन्तु भरतार्णव के दशम अध्याय के अन्त में पार्वती को इस ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। जिनमें नानार्थ हस्तमुद्राओं का विस्तार से विवेचन था और नन्दिकेश्वर ने उसे संक्षिप्त किया था[3]। ऐस प्रतीत होता है कि पार्वती द्वारा लिखित उस ग्रन्थ में संक्षेपकर्ता के रूप में नन्दि का नाम रहा हो और कालान्तर में नन्दिभरत को उसका लेखक मान लिया गया हो।

८. काललक्षण, तालादिलक्षण एवं तालाभिनयलक्षण—

ये तीनों कृतियाँ नन्दिकेश्वर की बताई गई हैं। जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है इनमें ताल के सम्बन्ध में विवेचन किया गया होगा। इनमें 'काललक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख पैलेस ग्रन्थालय, तंजौर में बर्नाल् द्वारा वर्गीकृत संस्कृत की पाण्डुलिपियों की सूची में है।

९. नन्दिकेश्वरतिलक—

नन्दिकेश्वर की एक अन्य कृति 'नन्दिकेश्वरतिलक' राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में भाग ३ वर्ग १ ग्रन्थसंख्या २५९५ पर उल्लिखित हैं। ईसके नाम से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने अपने नाम पर ग्रन्थ का नाम रखा होगा।

१०. योगतारावली—

नन्दिकेश्वर का 'योगतारावली' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय मद्रास की हस्तलिखित गन्थों की सूची में भाग ४ में उपलब्ध है। जिसकी ग्रन्थसंख्या ३३०८ बी तथा वी ४४०३ सी० है।

---

१. भावप्रकाशन। २. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ६४५।

३. भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराज्यदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रा सुमते बहुधास्ति तत्र संक्षिप्तम्॥ (भरतार्णव १०।६३६)

११. प्रभाकरविजय—

नन्दिकेश्वर की एक अन्य कृति 'प्रभाकरविजय' का उल्लेख राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय की पाण्डुलिपियों की सूची में भाग ४ वर्ग १ में है। इसकी ग्रन्थसंख्या ४९०९ है। यह पूर्वमीमांसा का ग्रन्थ है।

१२. लिंगधारणचन्द्रिका—

नन्दिकेश्वर की एक रचना लिंगायत शैवधर्म से सम्बन्धित 'लिंगधारण-चन्द्रिका' का पता चला है, जो राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में भाग ४ वर्ग १ ग्रन्थ संख्या ३४३३ पर उल्लिखित है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रसशास्त्र का अधिकारी विद्वान् बताया है[1]। इससे ज्ञात होता है रसशास्त्र पर भी उनका कोई ग्रन्थ था, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। वात्स्यायन ने उन्हें 'कामसूत्र' का लेखक बताया है[2]। पंचसायक में भी नन्दिकेश्वर को कामशास्त्र रचयिता बताया है[3]। श्री घोष महोदय का मत है कि उपर्युक्त सभी ग्रन्थ नन्दिकेश्वर के नहीं हो सकते। इनमें सम्भव है इनमें अभिनयदर्पण, रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, नन्दिकेश्वर-काशिका,ताललक्षण एक ही नन्दिकेश्वर की रचनाएँ हों, क्योंकि संगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव ने नन्दिकेश्वर को संगीत, ताल, अभिनय के अधिकारी विद्वान् के रूप में उल्लेख किया है।

अभिनयदर्पण तथा उसका वर्ण्यविषय—

भारतीय नाटचपरम्परा में अभिनयदर्पण का प्रमुख स्थान है। अभिनय-दर्पण आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक इन चार प्रकार के अभिनयों में मुख्यतः आंगिक अभिनय का विवेचन करता है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि नट-नटी को अभिनय एवं नृत्य की शिक्षा देने के लिए आंगिक अभिनय प्रमुख उपकरण है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में नन्दिकेश्वर नटराजराज शिव की वन्दना करते हैं कि 'यह समस्त विश्व जिनका आंगिक अभिनय है यह सम्पूर्ण वाङ्मय जिसका वाचिक अभिनय है यह ग्रहमण्डल चन्द्रतारादि जिनका आहार्य अभिनय है और जो स्वयं सात्विक अभिनय स्वरूप हैं उन नटराज भगवान् शंकर को हम नमस्कार करते हैं[4]। बन्दना करने के उपरान्त नन्दिकेश्वर नाट्य-परम्परा

---

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः (काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय)

२. कामसूत्र (वात्स्यायन) १।१।८।   ३. अभिनयदर्पण (भूमिका) पृ० ७६।

४. आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥   (अभिनयदर्पण १।१)

का उल्लेख किया है। पितामह ब्रह्मा से भरत को तथा शिव एवं पार्वती के सहयोग से तण्डु को, तदनन्तर बाणासुर की आत्मजा उषा, ब्रज की गोपियों तथा सौराष्ट्र की ललनाओं में प्रवर्त्तित होती हुई यह परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती गयी। तदनन्तर नाट्यशास्त्र की प्रशंसा करते हुए उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदाता बताया गया है। यह नाट्यशास्त्र कीर्त्ति, प्रागल्भ्य, एवं पाण्डित्य को बढ़ाने वाला, उदारता, स्थिरता, धैर्य एवं सुखोपभोग का प्रदाता, दुःख, शोक, पीड़ा, निर्वेद एवं खेद का विनाशक है। इतना ही नहीं बल्कि ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द को देने वाला है तभी तो नारद जैसे मुनियों के मन को भी हरण कर लेता है[1]।

नन्दिकेश्वर ने इस नाट्यवेद को अभिनय की दृष्टि से तीन प्रकार का बताया है—नाट्य, नृत्त और नृत्य। उसके बाद उन्होंने अभिनय के प्रयोग का समय निर्दिष्ट किया है कि नाट्य और नृत्य का प्रयोग विशेषकर पर्वों और त्योहारों पर करना चाहिए और नृत्त का प्रयोग राज्याभिषेक, यात्राकाल, तीर्थयात्रा, विवाहसंस्कार, प्रियजनों के समागम, नगरप्रवेश, गृहप्रवेश, पुत्रजन्मोत्सव आदि समारोहों पर करना चाहिए। उसके पश्चात् नाट्य, नृत्त एवं नृत्य का लक्षण निरूपित करने के पश्चात् अभिनय के प्रयोग का स्थान बताया गया है कि अभिनय के प्रयोग के लिए सभा (परिषद्) आवश्यक है। नाट्यसभा के लिए एक सभानायक चुना जाना चाहिए जो दया-दान-दाक्षिण्यादि गुणों से विशिष्ट नाट्य-विद्या में कुशल, गुण-दोष के विवेक को जानने वाला, न्याय करने वाला एवं पुरस्कार-वितरण में कुशल आदि गुणों से युक्त हो। इसी प्रकार सभा के संचालन के लिए एक मन्त्री का भी होना आवश्यक है। मंत्री विविध भाषाओं एवं भाषणकला में निपुण, नाट्यकलाकौशल आदि गुणों से युक्त, गुण-दोष विवेचन में कुशल, नीतिनिपुण एवं कलावित् आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। नाट्य-सभा में सभानायक को पूर्वाभिमुख बैठना चाहिए। उसके दोनों ओर कवियों, मित्रों एवं मित्रों को बैठना चाहिए। रंग के मध्य में नर्त्तक और नर्तकी और उसके दक्षिण ओर तालधारी और दोनों ओर मृदंगवादक तथा उन दोनों के बीच में गीतकार एवं स्वरकार का स्थान होना चाहिए। इस प्रकार रंगमण्डली को रंगमंच पर यथास्थान बैठना चाहिए[2]।

तदनन्तर पात्रों की योग्यता आदि का वर्णन किया गया है। रंगमंच पर अभिनय करने वाली अभिनेत्री को युवती, सुन्दरी, स्थूल एवं उन्नत स्तनों वाली कलाकुशला, कमनीया, प्रगल्भा, विशालनेत्रा, गीत, वाद्य, ताल के अनुसार

१. अभिनयदर्पण २–१०।   २. अभिनयदर्पण ११-१२।

अभिनय करने में दक्ष, बहुमूल्य वस्त्रादि धारण किए, प्रसन्न मुख वाली इत्यादि गुणों से युक्त होनी चाहिए। इसके पश्चात् नर्तकी की दस अयोग्यताएँ भी बताई गई हैं। पुष्पाक्षी, केशहीन, स्थूलोष्ठी, लटके हुए स्तनों वाली, अत्यन्त मोटी, अत्यन्त दुबली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी, (नाटी) कुबड़ी और स्वर-माधुर्य रहित नर्तकी अयोग्य समझी जाती है। नर्तकी को मधुर आवाज वाली सुन्दर, नीले रंग के डोरे में पिरोये गये घुंघरु पहनना चाहिए। तदनन्तर रंगमंच की अधिष्ठात्री देवी, विघ्न विनायक गणेश, नटराज शिव, द्यावा-पृथिवी वाद्य यन्त्रों की आराधना एवं वन्दना कर गुरु की आज्ञा से सुन्दर वेश-भूषा धारण कर विघ्न-बाधा की निवृत्ति के लिए लोकाभ्युदय की कामना से, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए दर्शकों के ऐश्वर्य अभिवृद्धि के लिए, नायक एवं पात्रों के श्रेयः के लिए और नाट्यविद्या की सफलता के लिए पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। इस प्रकार पूर्वरंग की विधि समाप्त कर गीत, भाव, अभिनय एवं ताल से युक्त नृत्य करना चाहिये। नृत्य के समय वाणी के द्वारा गायन करना चाहिये, हस्तमुद्राओं के द्वारा गीत के अभिप्राय को, नेत्रसंचालन द्वारा भावों को और पैरों द्वारा ताल एवं छन्द की गति को प्रदर्शित करे। नृत्य के समय जिस दिशा में हस्तसंचालन करे, उधर ही दृष्टिक्षेप करे जिस दिशा में दृष्टिक्षेप करे उधर ही मन लगाये जिधर मन हो तदनुसार भावप्रदर्शन करे, और भावाभिव्यक्ति के अनुसार रससृष्टि करे[1]।

इस प्रकार अभिनय विद्या का विधान करने के पश्चात् नन्दिकेश्वर ने अभिनय का निरूपण किया है। उन्होंने अभिनय के चार प्रकार बताये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक[2]। अंगों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आंगिक, वाणी के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को वाचिक, हारकेयूरादि से सुसज्जित होकर किये जाने वाले अभिनय को आहार्य और सात्विक भावों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को सात्त्विक अभिनय बताया गया है। उसके पश्चात् आंगिक अभिनय के तीन प्रकार बताये हैं—अंग, प्रत्यंग और उपांग। शिर, हस्त, उरस् (वक्षस्थल) पार्श्व, कटि और पाद ये छः अंग हैं। इसी प्रकार स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर, उरु, जंघा ये छः प्रत्यंग और नेत्र, भौंह, पुतलियां, कपोल, नासिका, कुहनियां, अधर, दांत, जिह्वा, ठोढी, मुख, और शिरोऽङ्ग ये बारह उपांग निर्दिष्ट किये हैं[3]। नन्दिकेश्वर ने केवल इन्हीं अभिनयों का वर्णन किया है जो अभिनय के लिए बहुत उपयोगी हैं और जिनका स्वतः संचालन हो जाता है उन्हें छोड़ दिया है।

---

१. अभिनयदर्पण २३-३७।

१. अभिनयदर्पण ३८।

३. अभिनयदर्पण ३८-४८।

नन्दिकेश्वर ने शिरोऽभिनय के सम, उद्वाहित, अधोमुख, आलोलित, धुत कम्पित, परावृत्त, उत्क्षिप्त और परिवाहित ये नौ भेद, दृष्टि अभिनय के सम, आलोकित, साची, प्रलोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत्त और अवलोकित ये आठ भेद, ग्रीवाभिनय के सुन्दर तिरश्चीना, परिवर्त्तिता और प्रकम्पिता ये चार भेद, उनके लक्षण एवं विनियोगों के निरूपण करने के पश्चात् हस्ताभिनयों का विवेचन किया है। नन्दिकेश्वर ने हस्तभिनय के प्रथम दो प्रकार बताये हैं— असंयुतहस्त और संयुतहस्त। उनमें असंयुतहस्त के पताक, त्रिपताक, अर्ध-पताक, कर्तरीमुख, मयूर, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूची, चन्द्रकला, पद्मकोश, सर्पशिर, मृगशीर्ष, सिंहमुख, कांगुल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ताम्रचूड़ और त्रिशूल ये अट्ठाइस एवं मतान्तर से चार भेद और संयुतहस्त के अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, डोला, पुष्पपुट, उत्सर्ग, शिवलिंग, कटकावर्धन, कर्त्तरी, स्वस्तिक, शकट, शंख, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, कूर्म, वराह, गरुड़, नागबन्ध, खट्वा और मेरुदण्ड ये तेइस प्रकार, उनके लक्षण एवं विनियोग निरूपण करने के पश्चात् सोलह देवहस्ताभिनय, दस दशावतार हस्ताभिनय, पांच तज्जातीय हस्ताभिनय, ग्यारह बान्धव हस्ताभिनय, नौ नवग्रह हस्ताभिनय के लक्षण एवं विनियोग बताये गये हैं। तदनन्तर स्थानक, आयत, आलीढ, प्रत्यालीड, प्रेङ्खण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्वसूची ये दस पादमण्डल, समपाद, एकपाद, नागबन्ध, ऐन्द्र, गारुड़ और ब्रह्मस्थान ये छः स्थानक पादाभिनय, अलग, कर्त्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग ये पांच उत्पलवन पादभिनय उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एकपाद, कुंचित, आकाश और अंग ये सात भ्रमरी पादाभिनय, चलन, सरण, चंक्रमण, वेगिनी, कुहन, लुठित, लोलित और विषम ये आठ चारी पादाभिनय एवं उनके लक्षण वर्णित हैं[1]।

इस प्रकार अभिनय के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त गतिभेदों (चालों) का निरूपण किया गया है। हंसी, मयूरी, मृगी, गजलीला, तुरंगिणी, सिंही, भुजंगी, मण्डूकी, वीरा और मानवी ये दस गति (चाले) हैं। इसी प्रकार मण्डल, उत्पलवन, भ्रमरी, चारी और गतिभेदों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसके और भी भेद हो सकते हैं। इस प्रकार अभिनयदर्पण के वर्ण्य विषय का संक्षेप में वर्णन किया गथा है।

१. अभिनय दर्पण ४९-२५९। २. वही २६०-३२४।

भरतार्णव और उसका वर्ण्यविषयः—

'भरतार्णव' नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह नन्दिकेश्वर की अपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थका प्रारम्भ हस्ताभिनय से होता है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय हैं जिसमें अभिनय, ताल एवं नृत्य की विविध विधाओं पर विचार किया गया है। भरतार्णव के प्रारम्भ के चार अध्यायों में नन्दिकेश्वर ने हस्त, दृष्टि एवं पाद के भेदों का प्रतिपादन किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में असंयुत हस्त के सत्ताइस भेदों का निरूपण किया गया है। उनके नाम हैं: पताक, त्रिपताक, अर्धपताक, कर्त्तरीमुख, मयूरहस्त, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुड, मुष्टिहस्त, शिखर, कपित्थ, खटकामुख, सूचोहस्त, पद्मकोश, वाणाहस्त, सर्पशीर्ष, सिंहमुख, कांगूल अलपल्लव, चतुर्हस्त, भ्रमण, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ताम्रचूड़हस्त। द्वितीय अध्याय में संयुतहस्ताभिनय के पुष्पपुट, अंजलि, चतुररस, त्रिपताक स्वस्तिक, कर्तरीस्वस्तिक डोला, अवहित्थ, वर्धमान, पताक स्वस्तिक, उत्तान-वंचित, कलश, पक्षवंचित, उत्संग, तिलक, नागबन्ध और तिलकहस्त के सोलह भेद बताये गये हैं। तृतीय अध्याय में नृत्तहस्त के उद्वृत्त, तलवक्त्र, विप्रकीर्ण, गजदन्त, आविद्धवक्त्र, सूचिवक्त्र, रेचित, अर्धरेचित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करि, दंडपक्ष, ज्ञान, मुद्रा, ऊर्ध्वमण्डल, पार्श्वमण्डल, उरोमण्डल, नलिनी पद्मकोष, कपोत, मकर, इन बाइस भेदों का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में वृहस्पति के मतानुसार पताक, त्रिपताक, कर्तरी, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूचीमुखपद्मकोश, बाण, सर्पशीर्ष, सर्पचतुर, चलसर्पकर, मृगशीर्ष, सिंहमुख, कांगूल, अलपद्म, चतुर, खंडचतुर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, और ताम्रचूड़ इन सत्ताइस हस्तभिनयों का और अधिक विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में धुतम्, विधुतम्, आधुतम्, अवधुतम्, कम्पितम्, आकम्पितम्, उद्वाहितम्, परिवाहितम्, अंचितम्, निकुञ्चितम्, परावृत्तम्, उत्क्षिप्तम्, अधोमुखम्, लोलितम्, तिर्यङ्, नतोन्नतम्, स्कन्धानतम्, आरात्रिकम्, समम्, पार्श्वाभिमुखम् ये उन्नीस प्रकार के शिरोभेद बताये गये हैं। उसके पश्चात् इसी अध्याय में कान्ता, हास्य, करुणा, रौद्री, वीरा, भयानक, बीभत्सा, अद्भुता, आठ प्रकार की रस दृष्टियों; स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता ये आठ प्रकार की स्थायीभाव दृष्टियों और शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शंकिता, मुकुला, अर्धमुकुला, ग्लाना, जिह्मा, कुंचिता, वितर्किता, अभितप्ता, विषण्णा, ललिता, आकेकरा, विकोशा, विभ्रान्ता, विलुप्ता, त्रस्ता, एवं मदिरा इन बीस प्रकार की व्यभिचा-रिदृष्टियों का विवेचन किया गया है। तदनन्तर चलम्, संक्रमण, सरण, कुहन, लुठित, लोलन, विषमसंचर ये आठ भेद और इसके अतिरिक्त आंचित, कुंचित

सूचि, अग्रतलसंचर, उद्वाहित, समसारिका, अर्धपुराटिका, स्वस्तिक, स्फुरिका, निकुट्टक, तलोत्क्षेप, पृष्ठोत्क्षेप, वेष्टन, अर्धस्खलितिक, खुत्ता, पुराटिका, प्रावृत्थ, उद्वेण्ठित, उल्लोल , लयाक्षेप, इन अन्य पादभेदों का तथा पांच और भेदों का निरूपण किया गया है।

पंचम अध्याय में आयत, अवहित्थ, अश्वक्रान्त, मोटित, विनिवृत्त, ऐन्द्र, चान्द्रिक, चाण्डिक, वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़, प्रत्यालोढ, साम्य-पाद, स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त, चतुरस्र, पार्ष्णिपीड़, एकपार्श्व, एकजानु, परिवृत्त, पृष्ठोत्तान, एकपाद, बाह्य, वैष्णव, शैव, गारुड़, समसूची, विषमसूची, कूर्मासन, नागांघ्रि, बत्तीस प्रकार के स्थानकों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें सात पुरुषजाति, सात स्त्रीजाति और अठारह मिश्रित जातियों का विवेचन है। ये सभी स्थानक करणों के अंगरूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में उपर्युक्त बत्तीस प्रकार के स्थानकों के विनियोग तथा सत्तरह प्रकार के संकरहस्तों के विनियोग का विवेचन किया गया है। इनमें कांगूल, पद्मकोश, सूची, अर्धचन्द्र, अराल, रेखाहस्त, मुष्टि, पताक, सर्पशीर्ष, अलपद्म, हंसपक्ष, नखहंस, मृगशीर्ष, अर्धमृगशीर्ष, सामान्य संकर हस्तों के विनियोग और अवस्थाविशेष से सम्बन्धित हस्त तथा जाति हस्तों के विनियोग वर्णित हैं। इन संकर हस्तों का निरूपण एक विशेष उद्देश्य से किया गया है।

सप्तम अध्याय में तालों का वर्णन है। प्रथम ताल के छः अंग बताए गए हैं—द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, काकपद, हंसपद, और विराम। इन छहों प्रकार के तालों के लक्षण एवं उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप बताए गये हैं। उसके बाद तालांगों के घातादि प्रकार तथा विराम के नियम बताये गये है। तदनन्तर चचत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक, उद्घट, आदिताल, दर्पणताल, चच्चरी, सिंहलीला, कन्दर्प, सिंहविक्रम, श्रीरंग, रतिलील, परिक्रम, प्रत्यंग, गजलील, विभिन्न, वीरविक्रम, हंसलील, वर्णभिन्न, राजचूड़ाणि, रङ्गद्योतन, राजताल, सिंहविक्रीडित, वनमाली, चतुरस्रवर्ण, त्र्यस्रवर्ण, मिश्रवर्ण, वर्णताल, खण्डवर्णताल, रङ्गप्रदीप, हंसनाद, सिंहनाद, मल्लिकामोद, शरभलील, रङ्गाभरण, तुरङ्गलील, सिंहनन्दन, जयश्री, विजयानन्द, प्रतिताल, द्वितीयक, मकरन्द, कीर्तिताल, विजयताल, जयमंगल, राजविद्याधर, मंठताल, नेत्रमंठ, प्रतिमंठ, जयताल, कुडुक्क, निःसारुक, निस्सानुक, क्रीड़ाताल, त्रिभंगी, कोकिलप्रिय, श्रीकीर्तिताल, विन्दुमाली, नन्दन, श्रीनन्दन, उद्वीक्षण, मंठिकाताल, आदिमठच, वर्णमठच, ढेङ्कीताल, अभिनन्दन, नवक्रीड, मल्लताल, दीपक, अनंगताल, विषमताल, नन्दीताल, मुकुन्दताल, कर्षुक, एकताल, ये सतहत्तर ताल तदनन्तर पूर्णकंकाल, खण्डकंकाल, समकंकाल, असमकङ्काल, ये चार कङ्कालाल तत्पश्चात् झोंबड़,

पणताल, अभंगताल, रायवंकाल, लघुशेखरताल, द्रुतशेखरताल, प्रतापशेखरताल, गजझम्पा, चतुर्मुखताल, झंपाताल, प्रतिमटचताल, तृतीयताल, बसन्तताल, ललितताल, रतिताल, करणताल, षट्ताल, वर्धन, वर्णताल, राजनारायणताल, मदनताल, पार्वतीलोचनताल, गारुगीताल, श्रीनन्दनताल, जयताल, लीलाताल, विलोकितताल, ललिताप्रियताल, जनकताल, लक्ष्मीशताल, और भद्रबाण ये इकत्तीस ताल इस प्रकार एक सौ बारह तालों का विवेचन किया गया है। इसमें कङ्कालताल के चारों भेदों की एक संख्या मानी जाय तो तालों की संख्या एक सौ नौ हो जाती है।

अष्टम अध्याय में चारी का निरूपण किया गया है इनमें समप्रेक्षचारी, सीरिकाचारी, अपलुप्ता चारी, विधुल्लीलाचारी, खंगबन्धचारी, रेखाबन्धचारी, लुठितोल्ललिताचारी, कुण्डलावर्त्तकाचारी ये नौ प्रकार के आकाशचारी और समपाद, चाषगति, स्थितावर्त्ता, विच्यवा, उद्वृता, अड्डिता, बक्त्रबन्धा, जनिता, उत्स्यन्दिता, स्यन्दिता, शकटास्या, अपस्यन्दिता, सत्रोत्सारितमत्तली, मत्तली, अध्यर्घिका और एकाक्रीडिता ये सोलह प्रकार भूचारी विवेचित है।

नवम अध्याय में अंगहारों का विवेचन है। पहले ललित, विक्रम, कारुणिक, विचित्र, विकल, भीम, विकृत, उग्रतर, और शान्तज ये नौ अङ्गहार बताये गए हैं। बाद में ललित अंगहार के पाँच प्रकार, विक्रम के तीन रूप, कारुणिक के चार प्रकार, विचित्र के दो रूप, विकल के दो रूप, भीम के दो रूप, विकृत के दो रूप, उग्रतर के दो रूप, और शान्तज अंगहार के भी दो रूप बताए गए हैं। इन नवों अङ्गहारों का विवेचन रस की दृष्टि से किया गया है। इनमें ललित अङ्गहार के पाँचों प्रकार शृंगार रस को सूचित करते हैं। इसी प्रकार विक्रम अङ्गहार वीररस, कारुणिक अंगहार, करुणरस, विचित्र अङ्गहार अद्भुत रस, विकल अङ्गहार, हास्यरस, भीम अङ्गहार भयानक रस, विकृत अङ्गहार वीभत्सरस, उग्रतर अङ्गहार रौद्ररस और शान्तज नामक अङ्गहार शान्तरस को सूचित करते हैं। अन्त में अंगहारों का सामान्य लक्षण बताया गया है। नन्दिकेश्वर ने चित्र-विचित्र, ताल, लय एवं करणों के संयोग से अङ्गहारों की उत्पत्ति बताई है। भरतार्णव में अङ्गहारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य मतों का भी उल्लेख किया गया है।

दशम अध्याय में पार्वतीप्रयुक्त नानार्थहस्तमुद्राओं का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए वर्णित है। ये नानार्थहस्त निम्नप्रकार हैं—संदंश, हंसपक्ष, मृगशीर्ष, अर्धमुकुल, मुकुल, अर्धचन्द्र, वैष्णव, पताकचतुर, शिखर, कपित्थ, षड्ऋतुहस्त, कालामानहस्त, पुष्पहस्त, ताड़नहस्त, वेदहस्त, चतुरुपायहस्त, संयमहस्त, शक्तित्रयहस्त, षड्तन्त्रहस्त, भूतभविष्यद्वर्तमानहस्त, प्रयोगहस्त।

एकादश अध्याय में नौ प्रकार के शृङ्गनाट्य का निरूपण किया गया है। नन्दिकेश्वर ने बताया है कि द्विविधचारी, अङ्गहार और स्थानकों के सयोग से जो नृत्य प्रस्तुत किया जाता है उसे 'शृङ्गनाट्य' कहते हैं। इस नृत्य में आकाशचारी, अन्त में भूचारी और मध्य में अङ्गहारों का प्रयोग होता है।

द्वादश अध्याय में शृङ्गनाट्य का रहस्य तथा स्थानकों के विनियोग तथा स्थानकहस्तसंयोग का विवेचन किया गया है।

त्रयोदश अध्याय में सप्तलास्यों का निरूपण किया गया है। प्रथम दक्षिणभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजंगभ्रमण, विद्युत्भ्रमण, और ऊर्ध्वताण्डव ये सात शुद्ध ताण्डव निरूपित किए गये हैं। इनमें ताण्डव के गति, करण, चारी एवं तालों का भी विवेचन है। तदनन्तर देशीताण्डव के निकुंचित, कुंचित, आकुंचित, पार्श्वकुंचित और अर्धकुंचित ये पाँच प्रकार बताए हैं और उनमें प्रत्येक की गति, करण, चारी और ताल भी बताये गये हैं तथा उनके प्रयोग की विधियाँ बताई गई हैं। शुद्ध और देशी ताण्डव निरूपण करने के पश्चात् पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलस ये पाँच लास्य बताये गये हैं। तत्पश्चात् इनके लक्षण और भेदों का निरूपण है। पेरुणी से कलस पर्यन्त ये पाँचों लास्य शब्दों के बोल, द्वारा नर्तन किये जाते हैं और अन्त में करण एवं चारी की योजना होती है। इसी अध्याय में बताया गया है कि जब पेरुणी से लेकर कलस पर्यन्त पंचलास्यों का सम्मिश्रण होता है तब उसे 'चारी-दर्पण' कहते हैं। इसी प्रकार सप्ततास्यों में गति, करण, चारी युक्त जो शुद्ध एवं देशी ताण्डव निर्दिष्ट हैं उनका मिश्रण होने पर 'चारी-भूषण' कहलाता है। अन्त में ताण्डवादि में शब्दों के प्रयोग का फल बताया गया है।

चतुर्दश अध्याय में गति, करण, चारी एवं ताल के शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में शुद्धताण्डव, दक्षिगभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजंगभ्रमण, विद्युद्भ्रमण, लताभ्रमण और उध्र्वताण्डव, के प्रत्येक के गति, कारण, चारी, ताल तथा बोल आदि बताये गये हैं। इनमें 'दक्षिणाभ्रमण' नामक शुद्धताण्डव तीन गतियों तीन करणों, तीन चारियों और तीन तालों से मिश्रित होता हैं। शेष छः शुद्धताण्डवों में प्रत्येक दो ताण्डवों के मध्य एक गति, एक करण, एक ताल होता है। तदनन्तर निकुंचित, कुंचित, आकुंचित' पार्श्वकुंचित, और अर्धकुंचित इन पाँच प्रकार के देशी ताण्डव के लिए पाँच प्रकार की गतियों, पाँच प्रकार के करण, पाँच प्रकार के चारी और पाँच प्रकार के तालों का निर्देश किया गया है और उसके प्रयोग की विधियां बताई गई है। इसी प्रकार पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दंडिक और कलस इन पांचों लास्यों के भी ताल, करण और चारी निरूपित किये गए हैं।

पंचदश अध्याय में पुष्पाञ्जलि का निरूपण किया है। नन्दिकेश्वर ने पुष्पाञ्जलि के दो भेद बताये हैं—दैविक और मानुष। दैविक में सर्वप्रथम पुष्पाञ्जलि का विधान बताया है बाद में प्रकरण के अनुसार नृत्य का प्रयोग होना चाहिए। 'मानुष' में पुष्पाञ्जलि के पश्चात् 'मुखचाली' नामक नृत्य का विधान बताया है। शृङ्गनाट्य में इन दोनों नाट्यकल्पनाओं का प्रयोग प्रारम्भ में बताया गया है। पुष्पाञ्जलि का विधान नाट्यप्रयोग के प्रारम्भ में बताया गया है।

रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण और उसका वर्ण्य विषय—

नन्दिकेश्वर कृत 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' का संगीतशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में सांगीतिक स्वरों एवं ताल के उद्भव का प्रमुख रूप से वर्णन मिलता है। इसमें प्रथम गान्धर्व का विवेचन किया गया है। वहाँ मार्ग और देशी को जानने वाले को गान्धर्व बताया गया है। तत्पश्चात् गायक के गुण एवं दोषों का विवेचन है। तदनन्तर पाँच प्रकार के गायक का निरूपण है। तत्पश्चात् शिव के डमरु से उद्भूत चौदह सूत्रों की संगीतपरक व्याख्या की गई है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्' यह प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में छः प्रकार के सूत्र प्रतिपादित हैं—पहला ३६ अक्षरों से युक्त तत्त्वसूत्र, द्वितीय पचास अक्षरों से समन्वित मन्त्रसूत्र, तीसरा ४२ अक्षरों से समन्वित रुद्रसूत्र, चतुर्थ ४२ अक्षरों से युक्त सारस्वत सूत्र और पञ्चम २० अक्षरों से युक्त पाठसूत्र। इनमें नन्दिकेश्वर ने रुद्रसूत्र (माहेश्वरसूत्र) को स्वीकार किया है। माहेश्वर सूत्रों में प्रथम चार सूत्र स्वर के हैं। इनमें द्वितीय सूत्र (ऋलृक्) नपुंसक ध्वनि है। प्रथमसूत्र (अइउण्) लघु वर्ण है, तृतीय में (एओङ्) गुरुवर्ण है और चतुर्थसूत्र (ऐऔच्)प्लुत है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मतानुसार स्वर सात ही है। ये ही सात स्वर सांगीतिक स्वरों के आधार हैं। उनमें प्रथम सूत्र में तीन स्वर हैं (अइउण्) अ, इ, उ ये तीनों लघुस्वर हैं, ये ही क्रमशः षड्ज, ऋषभ और गान्धार कहे जाते हैं[1] दूसरा सूत्र (ऋलृक्) में नपुंसक ध्वनि हैं (ऋलृनपुंसकौ[2]), तृतीय सूत्र में (एओङ्) में दो अक्षर हैं—ए और ओ। ये दोनों दीर्घस्वर हैं। ये ही क्रमशः मध्यम और पञ्चम कहे जाते हैं[3]। चतुर्थसूत्र (ऐऔच्) में भी दो अक्षर हैं—ऐ और औ। ये दोनों प्लुत स्वर हैं। ये ही क्रमशः धैवत और निषाद कहे गये हैं[4]। इस प्रकार इन सात स्वरों के आधार पर षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद (स रि ग म प ध नि) ये सात स्वर कथित हैं।

---

१. अइउण् सरिगाः स्मृताः (रुद्रमरूद्भवसूत्रविवरणम्—सू० २६)।
२. वही २४; ३. एओङ् मपौ (वही २६)।
४. ऐऔच् धनी (वही २६)।

नन्दिकेश्वर के मतानुसार मूलतः केवल तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनमें उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर उदात्त है, (उच्चैरुदात्तः) नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त (नीचैरनुदात्तः) और मध्यवर्त्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वर स्वरित कहे जाते हैं। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों का समाहार होता है (समाहारः स्वरितः)। चतुःश्रुति स्वर उदात्त से निषाद और गान्धार उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ये त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक स्वरों की अपेक्षा उच्चतर होते हैं। द्विश्रुति स्वर अनुदात्त से ऋषभ और धैवत उत्पन्न होते हैं। क्योंकि ये त्रिश्रुतिक और चतुःश्रुतिक स्वरोंकी अपेक्षा उच्चतर होते हैं। इसी प्रकार त्रिश्रुति स्वर स्वरित से षड्ज, मध्यम और पञ्चम उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ये द्विश्रुति स्वरों की अपेक्षा उच्चतर और चतुःश्रुति स्वर की अपेक्षा नीचतर होते हैं[1]।

नन्दिकेश्वर सङ्गीतशास्त्र की दृष्टि से संगीत ध्वनि के तीन भेद स्वीकार करते हैं—मन्द्र, मध्य और तार। सामान्य लघुस्वरों की जो मात्रा बताई गयी है मन्द्रस्वर उससे परिमाण में दुगुना होता है, मन्द्र से दुगुना मध्य स्वर और मध्य से दुगुना तार स्वर होता है। मन्द्रस्वर को अनुदात्त, मध्यस्वर स्वरित और तारस्वर उदात्त कहा जा सकता है। नन्दिकेश्वर ने इन तीन स्वरों का स्थान क्रमशः हृदय, कण्ठ और मूर्धा बताया है।

श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ध्वनि श्रुति कहलाती है। श्रुति के अनुसार स्वर के दो भेद होते हैं—शुद्धस्वर और विकृतस्वर। जो स्वर श्रुति का अनुसरण करते हैं और अपने स्थान से कभी भी विच्युत नहीं होते वे शुद्ध स्वर कहलाते हैं और जो स्वर श्रुति का अनुसरण नहीं करते और अपने स्थान से विच्युत होते हैं वे विकृत स्वर कहे जाते हैं। स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। नन्दिकेश्वर के मतानुसार षड्ज और मध्यम इन दो ग्रामों का विवेचन किया गया है किन्तु ग्रन्थ के खंडित होने से स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। स्वरों के आरोह-अवरोहक्रम को मूर्च्छना कहते हैं। नन्दिकेश्वर के मतानुसार तानभेद से मूर्च्छना सात प्रकार की होती हैं—आर्चिका, गाथिका, साभिका, स्वरान्तरा, औड़वा, षाडवा और पूर्णा[2]। इनमें आर्चिका एकरूपा, गाथिका द्विरूपा, साभिका नवरूपा होती है।

---

१. उदात्ते निषादगान्धारातनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २८-२९)

२. आर्चिका गाथिका चैव सामिकाथ स्वरान्तरा।
औडवा षाड़वा पूर्णा सप्तधा मूर्च्छना मता॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण)

स्वरान्तरा चौबीस रूपों से युक्त होता है। पाँच स्वरों से गाये जाने वाला औड़ुवा १२० रूपों से युक्त होता है। छः स्वरों से गीयमान षाड़वा ७२० रूपों से युक्त और सात स्वरों से गाया जाने वाला पूर्णा ५०४० रूपों से युक्त होता है ।

नन्दिकेश्वर के मतानुसार ताल की उत्पत्ति माहेश्वर सूत्रों से हुई[1]। नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर के प्रारम्भ के चार सूत्रों (अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्, एओङ्, ऐऔच्) की स्वरों के साथ ताल की दृष्टिकोण से भी व्याख्या की गयी है। पहले उन्होंने विभिन्न सूत्रों के उच्चारण काल की इकाइयों का उल्लेख किया है तदुपरान्त स्वरताल तथा तिथिताल का निरूपण किया हैं। अन्त में काल मार्ग, क्रियांग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति एवं प्रस्तार ये ताल के दस प्राण निरूपित किये गये हैं[2]।

नन्दिकेश्वरकाशिका और उसका वर्ण्यविषय—

'नन्दिकेश्वरकाशिका' संस्कृत वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों की शैव दार्शनिक मत के दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या की है[3]। प्रथम 'अइउण्' सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि 'अ' (अकार) ही एकात्मक परमतत्व है, निर्गुण है स्वतन्त्र है और ब्रह्म रूप है। वह निर्गुण ब्रह्म जब चित्कला (इकार रूप माया) का आश्रय लेता है तब 'उ' सगुण ईश्वर कहलाता है। उन्होंने आकार को ही सब वर्णों में श्रेष्ठ प्रकाशमान् और परमेश्वर कहा हैं। वह परमेश्वर आदि (अ वर्ण) और अन्त (ह वर्ण) के संयोग से अहम् (अह) के रूप में प्रकट होता है। वह परमतत्त्व स्वप्रकाश है जिस पर प्रत्येक वस्तु प्रतिविम्बित होती हैं और वह विविधिता (अनेकता) का आधार हैं। वह 'अहम्' रूप है। वह परमतत्त्व वर्णमाला के अक्षरों को प्रकट करता हैं अतः उसे 'परावाक्' कहते हैं। वह एकात्म परावाक् समस्त ध्वनियों का कारण है, वह अपने तीन अवस्थाओं में प्रकट करता है :—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इस प्रकार आकार (परमशिव) व्यक्त (जगत्) का कारण है। इकार क्रियाशक्ति हैं, वह जब क्रियाशक्ति से युक्त होता है तब उकार अर्थात् सगुण, व्यापक, महेश्वर कहलाता है ।

'ऋऌक्' सूत्र की व्याख्याओं में बताया गया हैं कि 'ऋ' परमेश्वर 'ऌ' माया का आश्रय लेकर स्वेच्छा जगत् (व्यक्त) को प्रकट करता है। वस्तुतः व्यक्त (जगत्) उससे पृथक् नहीं हैं। जिस प्रकार चांदनी चन्द्रमा से पृथक् नहीं

१. नन्दिकेश्वरकाशिका (चौखम्बा) ।

२. कालो मार्गाः क्रियाङ्गानि ग्रहो जातिकलालयाः ।
यतिप्रस्तारकश्चेति तालप्राणाः दश स्मृताः ॥ वही ४० ।

३. नन्दिकेश्वर काशिका (चौखम्बा)

होती है उसी प्रकार यह व्यक्त जगत् उस परमतत्त्व से विलग नहीं हैं। वह परम-तत्त्व स्वतन्त्र है, अपनी इच्छा से चित्शक्ति में जगत् को प्रकट करता है। नन्दि-केश्वर ने 'ऋ' 'लृ' इन दोनों ध्वनियों को नपुंसक कहा हैं।

'एओङ्' और 'ऐऔच्' इन दोनों सूत्रों की व्याख्या के द्वारा उन्होंने परब्रह्म और माया (जगत्) में एकता (अभिन्नता) का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार 'अ' अक्षर 'इ' वर्ण के संयोग से 'ए' बनता है उसी प्रकार वह परब्रह्म माया से युक्त होकर जगत् के रूप में प्रतिभासित होता हैं। वस्तुतः वह परमतत्त्व से भिन्न नहीं है। अनन्तर जगत् के विस्तार करने की इच्छा से वह आकार रूप परमतत्त्व ए के संयोग से 'ऐ' वर्ण की सृष्टि करता हैं। उसी प्रकार अ वर्ण ओ के संयोग से औ की सृष्टि करता है। वस्तुतः अ+इ=ए, अ+ए=ऐ, अ+उ=ओ, अ+ओ=औ, ये सभी 'अ' के ही रूप हैं उससे अलग नहीं है उसी प्रकार व्यक्त सभी पदार्थ उस परमतत्त्व से अलग नहीं हैं।

तदनन्तर 'हयवरट' एवं 'लण्' सूत्रों की व्याख्या करते हुए उससे व्योमादि पंचभूतों की उत्पत्ति बताई है। उनके अनुसार 'अहम्' (वर्णसमूह) रूप ईश्वर के अवयव ह य व र ल से क्रमशः आकाश, वायु, जल, अग्नि एवं पृथ्वी की उत्पत्ति होती हैं।

उसके बाद 'ञमगणनम्', की व्याख्या में यह बताया गया है कि उन आकाशादि पंचभूतों से क्रमशः शब्द स्पर्श, रस, रूप और गन्ध गुण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार 'झभञ्' और 'घढधष्' इन सूत्रों की व्याख्या में यह बताया गया है कि झ, भ रूप ईश्वर से वाक् (वाणी) और पाणि (कर) उत्पन्न होते हैं किन्तु ये स्थावरों के नहीं होते। घ, ढ, ध से क्रमशः पाद, पायु तथा उपस्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वर्गों के चतुर्थ अक्षरों से पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है यह बात 'जबगड़दश्' सूत्र की व्याख्या में बताई है। ये ज ब ग ड़ द वर्ण ही समस्त प्राणियों के ज्ञानेन्द्रियों के जनक हैं। इनसे क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, प्राण, और रसना इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ये पाँच ज्ञानेद्रियाँ हैं।

'खफछठथचटतव्' इस सूत्र की व्याख्या द्वारा यह बताया गया है कि इन आठ वर्णों से प्राणादि पंचवायु और मन, बुद्धि, अहंकार ये तीन अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। नन्दिकेश्वर ने बताया है कि वर्गों के द्वितीय अक्षरों से ख फ छ ठ थ से प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पंचप्राण उत्पन्न हुए हैं और वर्गों में मध्य के तीन वर्गों के प्रथम अक्षर (च ट त) से मन, बुद्धि, अहंकार ये तीनों अन्तःकरण उत्पन्न हुये हैं।

नन्दिकेश्वर ने 'कपय्' सूत्र की व्याख्या के द्वारा बताया है कि आदि और अन्तिम वर्गों के प्रथम अक्षर (क प) प्रकृति और पुरुष को प्रकट करते है। तदनन्तर 'शषसर्' इस सूत्र की व्याख्या में यह बताया गया है कि श ष स इन तीन अक्षरों से क्रमशः रजस्, तमस् और सत्व गुणों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् शकार से रजोगुण की, षकार से तमोगुण की, और सकार से सत्वगुण की उत्पत्ति होती है। परमब्रह्म परमशिव इन्हीं तीनों गुणों के साथ आश्रय से समस्त प्राणियों में क्रीड़ा करते हैं।

अन्त में 'हल्' सूत्र की व्याख्या में परमशिव को तत्वातीत बताया गया है। वह परमशिव जो समस्त तत्वों का जनक है स्वयं समस्त तत्वों से तत्वातीत है। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करने वाले, तत्वों से परे परमशिव डमरू के ध्वनियों के द्वारा मुनिजनों को तत्त्व का उपदेश देकर स्वयं अन्तर्ध्यान हो गये।

●

पञ्चम अध्याय

अभिनयका स्वरूप एवं उनके प्रकार

अभिनय का स्वरूप—

नाटचशास्त्र में 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'एरच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है[1] जिसका अर्थ नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों (सामाजिकों) के समक्ष प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना है। तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा सामाजिक अभिनेय (रामादि) का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं उसे 'अभिनय' कहते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि जिसके सांगोपांग प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों का सामाजिक को हृदय से विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे 'अभिनय' कहते हैं[2]। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'अवस्थानुकार' को अभिनय बताया है। उनके अनुसार जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन, एवं वाणी से अभिनेय (रामादि) के अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है उसे 'अभिनय कहते हैं[3]। इस प्रकार अभिनेता द्वारा अभिनेय की अवस्थाओं का अनुसरण करना ही 'अभिनय' है। अभिनेता अनुकृत के द्वारा रंगमंच पर प्रकृत वस्तु को बड़े कला-कौशल के साथ प्रस्तुत करता है। जिससे सामाजिकों को याथार्थ्य का अनुभव होता है। भरत के अनुसार अभिनय में न तो पूर्णतया यथार्थ स्वरूप का ही अभिनय होना चाहिये और न पूर्णतया कृत्रिम स्वरूप का ही, बल्कि उत्तम अभिनय में दोनों का मिश्रण होता है। भरत यद्यपि नाट्य में यथार्थस्वरूप के अभिनय के महत्त्व को स्वीकार करते थे, किन्तु उनका यह भी

---

१. 'अभिनय इति कस्मात् ? अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्गः। णीञितयं धातुः प्रापणार्थः। अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूपं सिद्धम्।
(अभिनवभारती, भाग २, पृष्ठ २)

२. विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।
शाखांगोपांगसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥ (नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ८।८)

३. भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः। (साहित्यदर्पण चौखम्बा ६।२)

मन्तव्य था कि रंगमंच की देश-काल सम्बन्धी सीमाएँ ऐसी होती हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शन असम्भव है। रंगमंच की सीमाओं के लिए नाट्यशास्त्रकारों ने यह आदेश दिया है कि वह अभिनेय के शारीरिक वेश-भूषा के धारण के साथ-साथ उस अभिनेय व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी आत्मसात् कर ले और अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर दे। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त दार्शनिक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार पूर्ण, शुद्ध, चैतन्य एवं ज्योतिरूप आत्मा अनश्वर एवं स्वतन्त्र होते हुए भी अपने मूल स्वभाव का परित्याग कर धारण किये हुए शरीर के सर्वथा अनुकूल स्वभाव को धारण कर उसके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसी प्रकार अभिनेता को भी अपना व्यक्तित्व छोड़कर अभिनेय (रामादि) के साथ पूर्णरूप से तादात्म्य स्थापित कर उसके व्यक्तित्व को धारण कर लेना चाहिए। अभिनव-गुप्त का मन्तव्य है कि अभिनेता अपने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से परित्याग नहीं करता। उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार आत्मा जब धारित शरीर के अनुकूल भावादि से प्रतिबिम्बित रूप में अपने को प्रकट करता है उस समय भी वह अपने मूल स्वरूप चैतन्य का परित्याग नहीं करता। उसी प्रकार अभिनेता भी अपने व्यक्तित्व का परित्याग उस समय भी नहीं करता जिस समय वह अभिनेय के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। सामाजिक उसके शारी-रिक एवं मानसिक परिवर्तनों के कारण ही उसे अभिनेता न मानकर अभिनेय मान लेता है जिसका वह अभिनय करता है[1]। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनु-सार अभिनेता नट अभिनय रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने पर भी स्वरूप को नहीं छोड़ता। मेरे विचार से यह ठीक भी लगता है; क्योंकि नट अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग कर सफल अभिनय नहीं कर सकता। जिस प्रकार आत्मा शरीरादि रूप नेपथ्य को धारण कर भोग्य पदार्थों का उपभोग करते हुए भी पुष्करपलाशवद् निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार नट भी रामादि के नेपथ्य में रहते हुए भी अपने को नट समझता है और सामाजिक उसे राम समझता है, तभी सामाजिक में रसानुभूति होती है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय-कला को लौकिक परिधि से पृथक् कर उसे स्वतन्त्र शास्त्रीय विधान का विषय बनाया और यह बताया कि उसकी सिद्धि के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। किन्तु यह साधना केवल शारीरिक श्रम द्वारा ही साध्य नहीं; बल्कि इसके लिए एकाग्र मानसिक निग्रह की भी आवश्य-कता है। नन्दिकेश्वर ने अभिनेता, अभिनेत्री, प्रेक्षक सभी के लिए चित्त की

---

१. अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १२३–१२४।

एकाग्रता को आवश्यक बताया है। वास्तव में अभिनय एक साधना है जिसमें शरीर, मन, वाणी, हस्त, पाद, दृष्टि आदि सभी की एकाग्रता एवं संयम की पूर्ण आवश्यकता है। उन्होंने अभिनेता और अभिनेत्री के लिए यह बताया है कि वह अभिनयकाल में मुद्राओं, भावों एवं गतिभेदों को प्रदर्शित करते समय जिस दिशा की ओर हस्त संचालन करे, उधर ही दृष्टिक्षेप करे, जिजर दृष्टिक्षेप करे उधर ही चित्त को केन्द्रित करे, तदनुसार भाव-प्रदर्शन करना चाहिए और भावाभिव्यक्ति के अनुकूल रससृष्टि करे[1]। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के अनुसार शरीर, मन, वाणी, दृष्टि, हस्त, पाद आदि सभी अवयवों पर नियन्त्रण रखे और भावानुकूल उनका प्रयोग करे। अभिनय-प्रदर्शन में इन सभी का पारस्परिक सहयोग अपेक्षित है। मन का तो शरीर के साथ अटूट सम्बन्ध है ही, बल्कि समस्त इन्द्रियों के कार्य-व्यापार का एक मात्र आधार शरीर ही है।

अभिनय के प्रकार—

नन्दिकेश्वर ने अभिनय के चार प्रकारों का निर्देश किया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्विक[2]। इनमें विभिन्न प्रकार के अंगों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नृत्य को 'आंगिक' अभिनय कहते हैं। इसमें हस्त, पाद, शिर, दृष्टि, ग्रीवा आदि की चेष्टाओं का समावेश है। नाट्यशास्त्र में भी हस्त-पादादि के विविध अभिनय बताये गये हैं और साथ ही अभिनयों का विनियोग भी निर्दिष्ट किया गया है। नन्दिकेश्वर ने इस अभिनय का विस्तृत विवेचन किया है। वाणी के द्वारा काव्य एवं सम्वादादि का अभिव्यञ्जन 'वाचिक' अभिनय कहलाता है। हार-केयूरादि वेश-भूषा आदि का प्रदर्शन 'आहार्य' अभिनय होता है। इसमें वस्त्रालंकारादि का उपयुक्त सजावट सम्मिलित है। जिसमें सुखदुःखादि मनोंभावों का अभिव्यञ्जन होता है उसे 'सात्विक' अभिनय कहते हैं[3]। नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण में बताया है कि ये चारों अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं और वे ही उनके अधिष्ठाता हैं[4]। इस प्रकार दृश्य सामग्री

---

१. यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ (अभिनयदर्पण, ३७)

२. आंगिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्विकोऽपरः। (अभिनयदर्पण, ३८)

३. अभिनयदर्पण, ३९–४०।

४. आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम्॥

"यह समस्त विश्व जिनका 'आंगिक' अभिनय है; सम्पूर्ण वाङ्मय जिनका 'वाचिक' अभिनय है; चन्द्र तथा तारागण आदि से मण्डित आकाश जिनका 'आहार्य' अभिनय है और सात्विक अभिनय के रूप में जो स्वयं सुशोभित है, उन नटराज शिव को हम नमस्कार करते हैं।" (अभिनयदर्पण, १)

को लेकर रंगमंच पर जो व्यापार प्रदर्शित किया जाता है वही 'अभिनय' है। अभिनयदर्पण में केवल आंगिक अभिनय की ही व्याख्या की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनेता एवं अभिनेत्रियों को अभिनयकला में प्रशिक्षित करने के लिए आंगिक अभिनय प्रधान उपकरण है और प्रारम्भ में सामाजिक क्रिया-कलापों का विशेष महत्त्व रहा है। इसी दृष्टि से अभिनदर्पण में आंगिक अभिनय का ही प्रमुखरूप से विवेचन किया गया होगा।

अभिनय एक वह कला है जिसके द्वारा नट अभिनेय (रामादि) के क्रिया-कलापों, वेश-भूषा, विविध चेष्टाओं, एवं भाव-मुद्राओं को रंगमंच पर प्रदर्शित कर दर्शकों का मनोरंजन करता है। उसमें वह रंगमंच पर घूम-घूम कर विविध भाव-मुद्राओं का प्रदर्शन करता है, संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित ढंग से वाक्याभिनय करता है, पात्रों के अनुरूप देश-कालोचित वेश-भूषा एवं साज-सज्जा का संयोजन करता है, अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है। अभिनय को पूर्ण सफलता की दृष्टि से अभिनय में अनुकरण-नैपुण्य, दृश्यसौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास इन चार गुणों का होना परमावश्यक माना गया है[1]। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि यथार्थ वस्तु की अपेक्षा अनुकृति को देखने के लिए अधिक उत्सुक दिखाई देता है। यहां 'चित्रतुरगन्याय' को दृष्टान्त के रूप में रखा जा सकता है। जिस प्रकार वास्तविक घोड़ों की अपेक्षा चित्रगत घोड़े को देखने में लोग अधिक अभिरुचि लेते हैं उसी प्रकार दर्शक वास्तविक राम-दुष्यन्तादि की अपेक्षा अभिनय में अनुकृति रूप रामादि के देखने में अधिक आनन्द का अनुभव करता है। अतः उसके लिए अनुकरण में निपुणता होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त रंगमंच पर वह दृश्य दर्शकों के मन को आकृष्ट नहीं कर सकता है जिस दृश्य में मोहक सौष्ठव न हो। जैसे श्रीकृष्ण की बांसुरी में वह मोहक शक्ति थी जिसके सुनते ही गोपियाँ सुध-बुध खोकर उन्हें देखने के लिए दौड़ पड़ती थीं। इसका कारण दृश्य-सौष्ठव ही कहा जा सकता है। अतः अभिनय में दृश्यसौष्ठव भी अपेक्षित है। अभिनय कितना ही सुन्दर क्यों न हो यदि उसमें श्रुति-सुखद स्वर-माधुर्य न हो तो वह दर्शकों का अनुरंजन नहीं कर सकता। स्वर-माधुर्य के लिए वाक्य में रस, भाव, सुस्वर, लय आदि का होना आवश्यक है। प्रसंगानुकूल स्वरों में उतार-चढ़ाव, भाषा में मधुरिमा, वाक्य-विन्यास में सौष्ठव आदि गुणों का होना भी उपेक्षित है। इसके अतिरिक्त अभिनय का एक आवश्यक गुण परिहास भी है। अभिनय में जनानुरंजनार्थ बीच-बीच में हास्य-व्यंग भी अपेक्षित है। इसी दृष्टि से अभिनय में विदूषक, वसन्तक की कल्पना

१. अभिनयदर्पण (हिन्दी), पृ० २२–२३।

भी की गई है। अभिनय को अधिकतर रोचक बनाने के लिए नृत्य, गीत वाद्य आदि की योजना भी होनी चाहिए।

आंगिक अभिनय

अंगों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाला अभिनय आंगिक अभिनय कहलाता है। नन्दिकेश्वर ने आंगिक अभिनय के तीन साधन बताये हैं—अंग, प्रत्यंग और उपांग। नन्दिकेश्वर के अनुसार अंग, प्रत्यंग और उपांग इन तीन साधनों के द्वारा किये जाने वाले अभिनय को 'आंगिक' अभिनय कहते हैं[१]। आंगिक अभिनय के छः अंग बताये हैं—शिर, हस्त, वक्षःस्थल, पार्श्व, कटि और पाद। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों के मत में 'ग्रीवा' को भी एक अंग माना गया है[२]। नन्दिकेश्वर ने प्रत्यंग की संख्या भी छः बताई है—दोनों स्कन्ध, दोनों बाहु, पीठ, उदर, दोनों उरू और दोनों जंघाएं। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मत से दोनों मणिबन्ध, दोनों जानु और घुटने ये तीन अधिक प्रत्यंग माने गये हैं। कुछ आचार्य 'ग्रीवा' की प्रत्यंगों में गणना करते हैं[३]। नाटयशास्त्र के विद्वानों ने केवल 'स्कन्ध' को ही एकमात्र उपांग माना है किन्तु नन्दिकेश्वर ने बारह प्रकार के उपांगों का निर्देश किया है—नेत्र, भौंह, पुतलियां, दोनों कपोल, नासिका, दोनों, कोहनियां, अधर, दांत, जिह्वा, चिबुक, मुख और शिर के अंग। इनके अतिरिक्त दोनों पार्श्व, दोनों, घुटने, उंगलियां और हाथ पैर के तलवे के उपांगों में गिने जाते हैं[४]। इनमें से कुछ पुनरुक्त हैं। जैसे दोनों पार्श्व अंग में भी माने गये हैं और उपांग में भी। इसी प्रकार दोनों घुटने, दोनों कुहुनियाँ प्रत्यंग में भी स्वीकृत हैं और उपांग में भी गिने गये हैं। इस प्रकार अंग, प्रत्यंग और उपांगों के भी बहुत से भेद हैं किन्तु यहाँ अभिनयदर्पण में जो नृत्यमात्र के लिए उपयुक्त अंग, प्रत्यंग और उपांग हैं उन्हीं का विवेचन किया गया है।

शिर के अभिनय—

अभिनयदर्पण में शिर के अभिनय नौ प्रकार के बताये गये हैं—सम, उद्वाहित, अधोमुख, आलोकित, धुत, कम्पित, परावृत्त, उत्क्षिप्त और परिवाहित[५]। भरतार्णव में उनकी संख्या उन्नीस बताई गई है। उनके नाम हैं—

---

१. तत्रांगिकोऽङ्गप्रत्यंगोपाङ्गैस्त्रेधा प्रकाशतः। (अभिनयदर्पण, ४२)

२. अभिनयदर्पण, ४२–४३। ३. वही, ४३–४३।

४. अभिनयदर्पण, ४४–४७।

५. सममुद्वाहितमधोमुखमालौलितं धुतम्।
कम्पितं च परावृत्तमुत्क्षिप्तं परिवाहितम्॥ (अभिनयदर्पण, ४९–५०)

धुत, विधुत, आधूत, अवधूत, कम्पित, आकम्पित, उद्वाहित, परिवाहित, अंचित, निकुञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोमुख, लोलित। इनके अतिरिक्त भरतार्णव में पाँच नाम अन्य मत से गिनाये गये हैं।[१] नाटचशास्त्र में शिर के तेरह प्रकार बताये गये हैं—आकम्पित, कम्पित, धूत, विधूत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अंचित, निकुंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत तथा लोलित।[२] भरतार्णव के अनुसार जो चौदह भेद बताये गये हैं उनमें तेरह भेद नाटचशास्त्र से मिलते हैं। उद्वाहित नामक एक भेद भरतार्णव में अधिक बताया गया है जो नाटचशास्त्र में नहीं है। इनके अतिरिक्त भरतार्णव में पाँच भेद अन्य मत से बताये गये हैं। अभिनयदर्पण में केवल नौ भेद बताये गये हैं। अभिनयदर्पण में संख्या की कमी का कारण यह हो सकता है कि वहाँ पर नन्दिकेश्वर ने उन्हीं अभिनयों का विवेचन किया है जो नृत्य के लिए अधिक उपयोगी रहे हैं। अभिनयदर्पण और नाटचशास्त्र में वर्णित भेदों में छः भेद दोनों में समान हैं। इनमें बहुत से भेद एक दूसरे के अत्यन्त निकटवर्त्ती प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके स्वरूपों में भिन्नता भी है। जैसे धुत में शिर इधर-उधर धीरे-धीरे हिलाया जाता है और उसका प्रयोग अनिच्छा, विषाद, विस्मय, विश्वास, शून्यता, निषेध और पार्श्वविलोकन आदि में होता है; किन्तु विधुत में शिर बहुत तेजी से हिलाया जाता है और उसका प्रयोग शीत, भय, ज्वर, आतंक, पीड़ा, दुःख, मद्यपान आदि की विभिन्न स्थितियों में किया जाता है। अभिनयदर्पण में 'धुत' का भेद जो बताया गया है, भरतार्णव एवं नाटचशास्त्र में 'धुत' से सम्बन्धित धुत, विधुत, आधूत, अवधूत चार भेद बताये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि अभिनयदर्पण में उतने सूक्ष्म भेदों का परिगणन नहीं है जितने का भारतार्णव और नाटचशास्त्र में हैं। वैसे तो इस प्रकार थोड़े अन्तर से अनेक भेदों की परिकल्पना की जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक समीक्षा से ज्ञात होता है कि अभिनयदर्पण में वर्णित भेद एवं उनके लक्षण तथा विनियोग नाटचशास्त्र की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होते हैं।

दृष्टि के अभिनय—

अभिनयदर्पण में दृष्टि अभिनय के आठ प्रकार बताये गये हैं—सम,

---

१. धुतं विधुतमाधूतभवधूतं च कम्पितम्।
आकम्पितोद्वाहिते च परिवाहितमंचितम्॥
निकुंचितं परावृत्त उत्क्षिप्ताधोमुखे तथा।
लोलितं चेति विज्ञेयं चतुर्दशविधं शिरः॥ (भरतार्णव २०४–२०५)

२. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ८।१९–२० ।

आलोकित, साची, प्रलोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत्त और अवलोकित[1]। अभिनयदर्पण के अनुसार सीधे देखना 'समदृष्टि' है। आँखें खोलकर घुमाकर देखना 'आलोकित' दृष्टि है। गतिशील वस्तु या याचना के भावप्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। नेत्र के कोने से देखना 'साची' दृष्टि कही जाती है। संकेतादि में इसका प्रयोग होता है। एक ओर से दूसरी ओर देखना 'प्रलोकित' दृष्टि कहलाती है। दोनों ओर देखने आदि भावाभिव्यक्ति में इसका प्रयोग होता है। अधखुली आँख से देखना 'मीलित' दृष्टि कही जाती है। जप, ध्यान, नमस्का, उन्माद आदि भावों के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। ऊपर देखना 'उल्लोकित' दृष्टि है। ऊपर की वस्तु देखने में इसका प्रयोग होता है। तेजी से ऊपर-नीचे देखना 'अनुवृत्त' दृष्टि है। क्रोधादि में इसका प्रयोग होता है। नीचे पृथ्वी की ओर देखना 'अवलोकित' दृष्टि है। छायावलोकन, चिन्तन, लज्जा आदि में इसका प्रयोग होता है।[2] अभिनय में दृष्टियों का सर्वाधिक महत्त्व है। दृष्टि एक वह दर्पण है जिसमें मानव का हृदय प्रतिबिम्बत होता है। भरतार्णव में दृष्टि का तीन रूपों में विवेचन किया गया है—रस की दृष्टि से, स्थायिभाव की दृष्टि से और व्यभिचारिभाव की दृष्टि से। कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री. वीरा, भयानका, बीभत्सा और अद्भुता ये आठ रस-दृष्टियाँ हैं। इसी प्रकार स्निग्धा, दृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता ये आठ स्थायीभाव दृष्टियां हैं। ये क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा और आश्चर्य के अभिनय में प्रयुक्त होती हैं। नन्दिकेश्वर ने इन सबकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। भारतार्णव में व्यभिचारी भाव दृष्टियां बीस प्रकार की मानी गई हैं—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शंकिता, मुकुला, अर्धमुकुला, ग्लाना, जिह्वा, कुंचिता, वितर्किता, अभितप्ता, विषण्णा, ललिता, आकेकरा, विकोशा, विभ्रान्ता, विप्लुता, त्रस्ता, मदिरा। ये सब मिलकर कुल छत्तीस दृष्टियां मानी गई हैं।[3] इनके द्वारा विविध रसों का उन्मेख होता है। प्रश्न यह उठता है कि जब व्यभिचारिभाव तैंतीस हैं तो व्यभिचारी भाव दृष्टियाँ बीस ही क्यों मानी गई हैं? इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि यहाँ पर प्रत्येक व्यभिचारिभाव के लिए अलग-अलग दृष्टि निर्दिष्ट नहीं की गई है बल्कि एक दृष्टि कई भावों को अभिव्यक्त करती है।

नाटयशास्त्र में भी भरतार्णव के अनुसार आठ रस-दृष्टियाँ, आठ स्थायिभाव-दृष्टियाँ और बीस व्यभिचारिभाव-दृष्टियाँ कुल छत्तीस दृष्टियाँ स्वीकार

---

१. सममालोकितं साची प्रलोकितनिमीलिते।
उल्लोकितानुवृत्ते च तथा चैवावलोकितम्। (अभिनयदर्पण, ६६)

२. अभिनयदर्पण, ६७-७८। ३. भरतार्णव ४।२३३-२३८;

की गई हैं और उनके नाम व लक्षण भी भरतार्णव के अनुसार ही स्वीकृत हैं।[१] नाटचशास्त्र में दृष्टि के अन्तर्गत भौंह, तारा, पुट आदि का भी पृथक् रूप से विवेचन किया गया है, किन्तु भरतार्णव और अभिनयदर्पण में इनका विवेचन नहीं है। अभिनयदर्पण में तो केवल आठ प्रकार के दृष्टिभेद बताये गये हैं। भरतार्णव में छत्तीस प्रकार की दृष्टियों का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीयविधि से विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनयदर्पण में जो आठ प्रकार के दृष्टिभेद निरूपित हैं भरतार्णव के छत्तीस भेद उनसे पृथक् हैं, अतः दोनों एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मत में चौबालीस प्रकार की दृष्टियाँ स्वीकृत हैं। कुमारस्वामी आनन्द महोदय ने भी चौबालीस दृष्टियाँ स्वीकार की है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर द्वारा निरूपित दृष्टियों के भेद उनके स्वरूप एवं विनियोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और उनका केवल शास्त्रीय ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक महत्त्व भी है।

ग्रीवा के अभिनय—

सुख की चेष्टाओं के साथ ग्रीवा की स्थितियों का अत्यधिक महत्त्व है। यह ग्रीवा ही शिर को धड़ से मिलती है और इसी पर ही शिर का सारा अभिनय आधारित है। अभिनयदर्पण में ग्रीवा की चार स्थितियाँ बताई गई हैं—सुन्दरी, तिरश्चीना परिवर्त्तिता और प्रकम्पिता।[२] अभिनयदर्पण में इनके स्वरूप के साथ विनियोग भी बताये गये हैं। भरतार्णव में ग्रीवाभिनय का निरूपण नहीं है। इसका कारण भरतार्णव की अपूर्ण प्रति प्राप्त होना ही कहा जा सकता है। नाटचशास्त्र में भरत ने ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की हैं—समा, नता, उन्नता, त्रस्ता, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता और विवृत्ता।[३] इसके अतिरिक्त भरत का कहना है कि इनके अतिरिक्त ग्रीवा के और भी भेद हो सकते हैं। अभिनयदर्पण और नाटचशास्त्र के दोनों की संख्या, लक्षण एवं विनियोगों में अन्तर पाया जाता है। अभिनयदर्पण के अनुसार गरदन को इधर-उधर समतल रूप में चलाने को 'सुन्दरी' ग्रीवा कहते हैं। स्नेह के आरम्भ में, सम्यगर्थ में, प्रसन्नता में तथा अनुमोदन में 'सुन्दरी' ग्रीवा का प्रयोग होता है। साँप की चाल को भाँति गरदन चलाने को 'तिरश्चीना' ग्रोवा कहते हैं। सर्प की गति आदि के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। अर्धचन्द्र की तरह दायें-बायें गरदन चलाने को

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ८।४०-९५.

२. सुन्दरी च तिरश्चीना तथैव परिवर्त्तिता।
प्रकम्पिता च भावज्ञैर्ज्ञेया ग्रीवा चतुर्विधा॥
(अभिययदर्पण, ७९-८०)

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ८।१७०-१८४.

'परिवर्त्तिता' ग्रीवा कहते हैं। लास्यनृत्य एवं प्रिय के चुम्बन में इसका प्रयोग होता है। कबूतरी के कण्ठ-कम्पन के समान आगे-पीछे गरदन को 'प्रकम्पिता' ग्रीवा कहते हैं। 'तुम' और 'मैं' भाव व्यक्त करने, देशीनाटच, झूला झुलाते समय इसका प्रयोग किया जाता है।[1]

हस्ताभिनय—

आंगिक अभिनय-भेदों में हस्ताभिनय का सर्वोपरि महत्त्व है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई भी नाटचार्थ नहीं है जिसका रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो[2]। हस्ताभिनय के द्वारा ही मानव-हृदय के सुख-दुःख आदि भावों की अभिव्यंजना होती है। संसार में मानव विविध भावों को अभिव्यक्त करने के लिए हाथों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं का संचालन करता है। किन्तु हाथ की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव और रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है। नाटच-प्रयोग में हस्ताभिनय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नाटच-प्रयोग में वाचिक अभिनय के प्रसंग में पात्र हस्त-मुद्राओं के द्वारा न जाने कितने-कितने व्यङ्ग्य अर्थों का प्रतिपादन करता है[3] अतः हस्ताभिनय के प्रसंग में अर्थयुक्ति का अवेक्षण अत्यन्त आवश्यक होता है। उसके द्वारा ही न जाने कितनी अर्थपरम्पराओं का सृजन होता है[4]। नन्दिकेश्वर ने असंयुत, संयुत और नृत्त हस्तमुद्राओं के रूप में हस्ताभिनय के तीन विभाग स्वीकार किये हैं। उनकी विविध मुद्राओं के साथ उनके प्रयोग की विधि का भी विवेचन किया गया है। नन्दिकेश्वर के इन हस्त-मुद्राओं का विवेचन केवल नाटचाभिनय के लिए ही नहीं किया है बल्कि उनकी दृष्टि नृत्याभिनय पर अधिक है। उन्होंने हस्ताभिनय का वैज्ञानिक एवं अतिविस्तृत विवेचन किया है। नन्दिकेश्वर ने हस्ताभिनय के तीन प्रकार बताये हैं—असंयुतहस्त, संयुतहस्त और नृत्तहस्त।

असंयुतहस्त—

एक हाथ से किये जाने वाले अभिनय को 'असंयुतहस्त' कहते हैं। भरतार्णव में असंयुतहस्त के सत्ताइस भेद बताये गये हैं—पताक, त्रिपताक, अर्धपताक, कर्त्तरीमुख, मयूर, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, खटकामुख,

---

१. अभिनयदर्पण, ८०-८६।

२. नास्ति कश्चिदहस्ततस्तु नाटचेऽर्थोऽभिनयं प्रति।
(नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ९।१६२)

३. भरत और भारतीय नाटकला, पृ० ३५२।

४. देशं कालं प्रयोगं चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च।
हस्ता ह्येते प्रयोक्तव्या नृणां स्त्रीणां विशेषतः॥ (नाटचशास्त्र ९।१६४)

सूची, पद्मकोश, बाण, सर्पशिर, मृगशीर्ष, सिंहमुख, कांगूल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदेश, मुकुल, ताम्रचूड़[१]। अभिनयदर्पण में असंयुत हस्त के अठ्ठाइस प्रकार बताये गये हैं[२]। उपर्युक्त सत्ताइस असंयुत हस्तों को अभिनयदर्पण में स्वीकार किया गया है। भरतार्णव के 'बाण' नामक हस्त के स्थान पर अभिनयदर्पण में 'पद्मकोश' नाम असंयुतहस्त स्वीकार किया गया है। इन सबके लक्षण भी दोनों में एक से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अभिनयदर्पण में 'त्रिशूल' नामक एक अतिरिक्त भेद भी स्वीकार किया गया है। नाट्यशास्त्र में चौबीस प्रकार के असंयुतहस्तमुद्राओं का विवेचन किया गया है[३]। भरतार्णव में वर्णित सत्ताइस भेदों में से अर्धपताक, मयूर और सिंहमुख इन तीन भेदों को छोड़कर शेष चौबीस असंयुतहस्त-मुद्राओं को नाट्यशास्त्र में स्वीकार किया गया है।

'पताकाहस्त' मुद्रा में अंगुलियाँ सम और प्रसृत होती हैं और अंगुष्ठ कुंचित होता है। वर्षा, वायु, वन, नदी, चाँदनी, लहर आदि प्राकृतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए पताकाहस्त का प्रयोग होता है। त्रिपताकाहस्त भी पताका के समान ही होता है केवल इसमें अनामिका अंगुली वक्र होती है। यदि उसमें कनिष्ठिका अंगुली वक्र हो तो 'अर्धपताका' कहते हैं। कर्त्तरीमुख भी त्रिपताक के समान ही होता है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है[४]। असंयुतहस्तों में 'चतुर' हस्त का अधिक महत्त्व है। इसमें तीनों अंगुलियाँ (तर्जनी, मध्यमा और अनामिका) प्रसारित होती है। कनिष्ठा ऊर्ध्वगामी होती है और अंगुष्ठ अनामिका के मूल भाग को स्पर्श करता है। मानव-जीवन के सुकुमार भावों का अभिनय 'चतुर' हस्त के द्वारा होता है। कस्तूरी, अल्पार्थ. स्वर्ण, ताम्र, लौह, ललाट, तैल, घृत आदि भावों का अभिनय 'चतुर' हस्त के द्वारा सम्पन्न किया जाता है[५]। मयूरहस्त में अनामिका को अंगूठे से मिलाकर शेष अंगुलियों को प्रसारित किया जाता है। मयूरमुख, लता, शकुन आदि भावों का अभिनय इसके द्वारा किया जाता है। यदि पताका हस्त की मुद्रा में अंगुष्ठ को बाहर की ओर सीधे प्रसारित कर दिया जाय तो उसे 'अर्धचन्द्र' कहते हैं। कृष्णपक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा, किसी के गले को हाथ से

१. भरतार्णव १।१–४। २. अभिनयदर्पण ८९–९२।

३. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ९।४–७।

४. भरतार्णव १।५–१४; अभिनयदर्पण ९३–१७।
नाट्यशास्त्र ९।१८–४०।

५. भरतार्णव १।४७–४८।
अभिनयदर्पण; १४९–१५२; नाट्यशास्त्र ९।९३–१००।

पकड़ने, मल्ल-युद्ध, देवता के अभिषेक, साधारण लोगों के नमस्कार आदि भावों के अभिनय में इसका प्रयोग होता है। अराल और शुकतुण्ड हस्तमुद्राएँ एक दूसरे के बहुत निकट हैं। यदि पताकाहस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाय तो 'अराल' हस्त कहा जाता है और अराल हस्त की मुद्रा में अनामिका को वक्र कर दिया जाय तो 'शुक्रतुण्ड' हस्त होता है। विषपान, अमृतपान, प्रचण्ड-पवन, बाण-प्रहार, मार्मिक-कथन तथा उग्र भाव-प्रदर्शन में इनका प्रयोग किया जाता है[1]।

मुष्टि, शिखर और कपित्थ ये तीनों हस्त-मुद्राएँ एक दूसरे की अधिक निकटवर्ती हैं। जिस हाथ की चारों अंगुलियाँ हथेली के अन्दर झुकी हों और उनके ऊपर अंगूठा हो तो इसे 'मुष्टि' हस्त कहते हैं। यदि मुष्टिहस्त में अंगूठा ऊपर उठा दिया जाय तो 'शिखर' हस्त कहा जाता है और जब शिखरहस्त की मुद्रा में तर्जनी वक्र होकर अंगूठे से दाबी जाती है तो 'कपित्थ' हस्त कहा जाता है। केश ग्रहण, मल्लयुद्ध आदि भावों के प्रदर्शन में मुष्टि, काम, धनुष, स्तम्भ आदि भावों में शिखर तथा लक्ष्मी, सरस्वती, नटों के द्वारा ताल धारण, गोदोहन, धूप-दीपार्चन आदि भावों के अभिनय में कपित्थ-हस्त का प्रयोग होता है[1]। खटकामुख, सूची, चन्द्रकला ये तीनों भी उपर्युक्त 'कपित्थ' नामक हस्तमुद्रा के निकटवर्ती हैं। यदि कपित्थ हस्त में तर्जनी वक्र कर दिया जाय और अंगूठे के मध्य भाग का स्पर्श करती हो तो 'खटकामुख' और खटकामुख में तर्जनी को यदि सीधे फैला दिया जाय तो 'सूचीहस्त' तथा सूचीहस्त में अंगूठे को खोल दिया जाय तो 'चन्द्रकला' हस्त होता है। पुष्पावचय आदि में खटकामुख, पर-ब्रह्मभावना, सूर्य, नगरी आदि में सूचीमुख और चन्द्रमा, मुख शिव के मुकुट आदि प्रदर्शन में चन्द्रकला हस्त का प्रयोग होता है। भरतार्णव में 'चन्द्रकला' नामक हस्त का वर्णन नहीं है उसके स्थान पर 'बाण' नामक हस्त का वर्णन है और अभिनयदर्पण में भी 'बाण' नामक हस्त का वर्णन है[2]।

'पद्मकोश' हस्त में सभी अंगुलियाँ अलग-अलग फैलती रहती हैं और सभी को मोड़कर झुका दिया जाता है। इसके द्वारा बिल्व, कपित्थ, स्त्रियों के कुच आदि का प्रभाव प्रदर्शित किया जाता है। जब पताकाहस्त की अंगुलियों को मिलाकर अग्रभाग को कुछ झुका दिया जाता है तब उसे 'सर्पशीर्ष' हस्त कहा

---

१. भरतार्णव १।१५।२९; अभिनयदर्पण १०८–११५।

२. भरतार्णव १।२२–२६; अभिनयदर्पण ११६–१२४।

३. भरतार्णव १।२७–३१; अभिनयदर्पण १२४–१३३।
नाटचशास्त्र, नवम अध्याय।

कहा जाता है। चन्दन, सर्प, वामन पुरुष आदि का अभिनय इस हस्त के द्वारा किया जाता है। यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठिका और अंगुष्ठ फैला दिया जाय तो 'मृगशीर्ष' हस्त कहा जाता है। इसके द्वारा स्त्रियों के कपोल, नेपथ्य, विवाद, आह्वान आदि भावों का अभिनय किया जाता है। यदि मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को अंगुठे से मिला दिया जाय और शेष अंगुलियाँ फैला दी जांय तो 'सिंहमुख' हस्त कहा जाता है। इसके द्वारा हवन, सिंहासन, वैद्यपाक, शोधन आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। 'सिंहमुख हस्त' नाट्यशास्त्र में स्वीकृत नहीं है। जब पद्मकोश हस्त में अनामिका को मोड़कर झुका दिया जाता है तो 'कांगूल' नामक हस्त कहा जाता है। इसके द्वारा छोटे फल, बच्चों की किंकिणियाँ, कुमारी के स्तन आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। जब समस्त अंगुलियों को किंचित् टेढ़ी कर दिया जाय और वे परस्पर अलग-अलग रहें तो उसे 'अलपल्लव' हस्त कहते हैं। विकसित कमल, कुचमण्डल आदि भावों का अभिनय 'अलपल्लव' हस्त के द्वारा जाना है[1]।

'भ्रमर' हस्त-मुद्रा में मध्यमा तथा अंगुष्ठ परस्पर संयुक्त होते हैं और तर्जनी वक्र होती है। तथा शेष अंगुलियाँ (अनामिका और कनिष्ठका) फैली हुई होती हैं। 'अभिनयदर्पण' और 'नाट्यशास्त्र' में भ्रमरहस्त का समान लक्षण है किन्तु भरतार्णव में कुछ भिन्न है भरतार्णव के अनुसार 'भ्रमर' हस्त-मुद्रा में मध्यमा और अनामिका दोनों अंगुलियाँ मुड़कर नीचे झुकी हुई होती हैं और शेष अंगुलियाँ फैली हुयी होती हैं। अभिनयदर्पण के अनुसार भ्रमर, शुक, सारस, कोयल आदि पक्षियों के तथा भरतार्णव के अनुसार योग, मौनव्रत, भृंग और गजों के दन्तप्रहार आदि भावों के प्रदर्शन में 'भ्रमरहस्त' का प्रयोग होता है[2]। हंसास्य, हंसपक्ष, सन्दश, मुकुल, ताम्रचूड़ और कटक हस्त ये हस्त-मुद्राएँ एक दूसरे से बहुत निकट हैं। 'हंसास्य' हस्त-मुद्रा में मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका ये तीनों अंगुलियाँ फैली होती हैं और तर्जनी एवं अंगुष्ठ परस्पर मिले हुए होते हैं। इसके द्वारा चित्रलेखन, माला, मंगलसूत्र' उपदेश, रोमांच आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठिका अंगुली को फैला दिया जाय तो 'हंसपक्ष' हस्त कहा जाता है। सेतुबन्ध, ढकने, मर्यादा आदि भावों का प्रदर्शन इसके द्वारा किया जाता है। जब 'पद्मकोश' नामक हस्त-मुद्रा में अंगुलियाँ बार-बार सटाई और हटाई जाती हैं तब उसे 'सन्देश' हस्त

---

१. भरतार्णव १।३२–४६; अभिनयदर्पण १३४–१४८
नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय।

२. भरतार्णव १।४९–५०; अभिनयदर्पण १५२।१५४।
नाट्यशास्त्र २०१–२०२।

कहते हैं। भरतार्णव के अनुसार जब तर्जनी मध्यमा और अंगुष्ठ से मिली हुई हो और शेष अंगुलियाँ फैली हुई हों तो 'सन्दंश' हस्त कहा जाता है। उदर, बलिदान, महाभय, पूजा भरतार्णव के अनुसार मौक्तिक, जलविन्दु, रुद्राक्ष, गुलिका, विद्रुम आदि के भावों का अभिनय 'सन्दंशहस्त' से किया जाता है। यदि पाँचों अंगुलियों को एक साथ मिला दिया जाय तो 'मुकुलहस्त' होता है। इसके द्वारा कुमुद, भोजन, पंचबाण, जप, दान आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। यदि मुकुल हस्त में तर्जनी को वक्र कर दिया जाय तो उसे 'ताम्रचूड़' हस्त कहते हैं। मुर्गा, बगुला, काक, ऊँट, बछड़ा, आदि भावों का अभिनय इसके द्वारा किया जाता है[1]। 'त्रिशूल' हस्त का वर्णन केवल अभिनयदर्पण में किया गया है। जब कनिष्ठका तथा अंगुष्ठ को मिलाकर झुका दिया जाता है तब उसे 'त्रिशूल' नामक हस्तमुद्रा कहते हैं। विल्वपत्र के भाव-प्रदर्शन में 'त्रिशूल' हस्त-मुद्रा का प्रयोग किया जाता है[2]। असंयुत हस्ताभिनयों में पताका, पद्मकोश, सूचीमुख, मुकुल भ्रमर तथा चतुर आदि हस्त-मुद्राएँ प्रमुख हैं। इनके द्वारा ही नई-नई हस्तमुद्राओं का सृजन होता है। इनमें कुछ हस्तमुद्राओं द्वारा सुकुमार भावों का और कुछ हस्त-मुद्राओं द्वारा उग्र भावों का प्रदर्शन किया जाता है।

संयुतहस्त—

दोनों हाथों के परस्पर मिले हुए अभिनय को 'संयुतहस्त' कहते हैं। अभिनयदर्पण में संयुतहस्त के तेईस भेद बताये गये हैं—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, डोला, पुष्पपुट, उत्संग, शिवलिंग, कटकावर्धन, कर्त्तरीस्वस्तिक, शकट, शंख, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, कूर्म, वराह, गरुड़, नागबन्ध, खट्वा और भेरुण्ड[3]। किन्तु भरतार्णव में संयुतहस्त के केवल सोलह भेद निर्दिष्ट हैं। उनके नाम हैं—पुष्पपुट, अंजलि, चतुरस्र, त्रिपताक-स्वस्तिक, कर्त्तरीस्वस्तिक, डोला, अवहित्थ, वर्धमान, पताक, स्वस्तिक, उत्तानवंचित, कलश, पक्षवंचित, उत्संग, तिलक, नागबन्ध और वैष्णव[4]। अभिनयदर्पण में भरतार्णव की अपेक्षा सात संयुतहस्ताभिनय अधिक बताये गये हैं। उसमें पुष्पपुट, अंजलि, कर्त्तरी-स्वस्तिक, डोला, उत्संग, नागबन्ध ये छः हस्त दोनों में एक समान मिलते हैं और दोनों की परिभाषाओं में भी समानता है। शेष हस्त के तेरह भेद वर्णित है—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धन, उत्संग, निषध, दोल (दोला), पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ और वर्धमान[5]। इनमें से अंजलि,

१. भरतार्णव १।५१–६१; अभिनयदर्पण १५५–१६४;
नाट्यशास्त्र, (नवम अध्याय)।

२. अभिनयदर्पण, १६५।

३. वही, १७२–१७५।

४. भरतार्णव २।६२–६३।

५. नाट्यनास्त्र ९।८–१०।

कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धन, उत्संग, दोल और पुष्पपुट ये आठ हस्त अभिनयदर्पण में भी पाये जाते हैं। ये संयुतहस्त असंयुतहस्त के ही विकसित, परिवर्तित एवं विभिन्न रूप हैं। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि असंयुतहस्त विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से ही संयुतहस्त की मुद्राओं की रूप-रचना होती है[1]।

'संयुत' हस्तमुद्राओं में 'अंजलि' एक प्रसिद्ध हस्तमुद्रा है। यदि दो पताका हस्तमुद्राओं को परस्पर जोड़ दिया जाय तो 'अंजलि' नामक हस्तमुद्रा होती है। इसका प्रयोग देवता, गुरु और विप्रों के अभिवादन में किया जाता है। अभिनय-दर्पण में बताया गया है कि देवता के अभिवादन के समय अंजलि को शिर पर, गुरु के अभिवादन के समय मुख पर और ब्राह्मण के अभिवादन के समय हृदय पर अवस्थित करे। दोनों हाथों (अंजलिहस्त) के पार्श्वों के संश्लेष से 'कपोतहस्त' कहा जाता है। गुरु से वार्तालाप, विनय स्वीकृति में कपोतहस्त का विनियोग होता है। इसी प्रकार कर्कट हस्तमुद्रा में दोनों हाथों की अंगुलियाँ परस्पर ग्रथित होती है। इसका प्रयोग शंख बजाने, अंग-त्रोटन (अगड़ाई), उदर-प्रदर्शन आदि भावों के अभिनय में किया जाता है। जब पताकाहस्त की मुद्रा में दोनों कलाइयों को आबद्ध कर दिया जाता है तो उसे 'स्वस्तिक' हस्त कहते हैं। स्वस्तिक हस्त का प्रयोग मकर के भाव प्रदर्शित करने में होता है। जब पताका हस्त-मुद्रा को (घुटनों) पर स्थित किया जाता है तब उसे 'डोला' हस्त कहते हैं। अभिनय के प्रारम्भ में इसका विनियोग किया जाता है। सर्पशीर्ष हस्तमुद्राओं में जब दोनों हाथ सटा दिये जाते हैं तो 'पुष्पपुट' हस्त कहा जाता है। इसका प्रयोग सन्ध्या, अर्घ्यदान, आरती, पुष्पांजलि आदि भावों के प्रदर्शन में किया जाता है। जब मृगशीर्ष हस्तमुद्रा में दोनों हाथों को एक दूसरे की बाहुओं पर रख दिया जाता है तब उसे उत्संग कहते हैं। आलिङ्गन, लज्जा, बालकों के उपदेश देने, अंगद आदि के प्रदर्शन में भरतार्णव के अनुसार तपःसमाधि एवं योग में इसका विनियोग किया जाता है। शिखरमुद्रा के बायीं ओर अर्धचन्द्र स्थापित कर देने से 'शिवलिंग' हस्तमुद्रा बनती है। शिवलिंग के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। यदि 'कटकामुख' हस्तमुद्रा में दोनों हाथों की कलाईयों का स्वस्तिक हस्तमुद्रा में प्रदर्शित किया जाय तो 'कटकावर्धन' हस्त-मुद्रा कही जाती है। इसका प्रयोग राज्याभिषेक, पूजा और विवाह आदि के भावों के प्रदर्शन में किया जाता है[2]।

---

१. नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय।

१. अभिनयदर्पण १७६।१८७; भरतार्णव (द्वितीय अध्याय); नाट्यशास्त्र (नवम अध्याय)।

कर्त्तरी हस्तमुद्रा जब स्वस्तिक हस्तमुद्रा के आकार की बनती है तो उसे 'कर्त्तरीस्वस्तिक' हस्त कहते हैं। वृक्ष, शाखा, पर्वत-शिखरों के भाव-प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब 'भ्रमर' हस्तमुद्रा में मध्यमा और अंगुष्ठ फैला दिया जाता है तब 'शकट' हस्तमुद्रा बनती है। इसका विनियोग राक्षसों का अभिनय करने में होता है। जब 'शिखर' हस्त के अंगूठे को दूसरे अंगूठे के साथ तर्जनी से मिला दिया जाता है तब 'शंखहस्त' बनता है। शंख आदि के भाव-प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब दोनों हाथ अर्धचन्द्र होकर आपस में मिल-कर हथेलियों का स्पर्श करते हैं तो उसे 'चक्रहस्त' कहा जाता है। चक्रादि के भाव-प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। चक्रहस्त मुद्रा की फैली हुई अंगुलियों को यदि मोड़ दिया जाय तो उसे 'सम्पुट' हस्त कहते हैं। वस्तु ढकने, सम्पुट करने के भावाभिनय में इसका प्रयोग होता है। 'सूची' हस्तमुद्रा में जब तर्जनी आपस में जुटकर टेढ़ी हो जाती है तब उसे 'पाशहस्त' कहते हैं। कलह, पाश, शृंखला आदि भावों का प्रदर्शन इसके द्वारा होता है। 'मृगशीर्ष' हस्त यदि दोनों कनिष्ठा अंगुलियों को जोड़कर मोड़ दी जाती है तब 'कीलक' हस्तमुद्रा बनती है। इसका प्रयोग स्नेह आदि भावों के प्रदर्शन में होता है। जब एक साथ के पृष्ठ पर दूसरे हाथ को रख कर दोनों अंगूठों एवं कनिष्ठा अंगुलियों को थोड़ा फैला दिया जाता है तब उसे 'मत्स्य' हस्तमुद्रा कहते हैं। मत्स्य के अभिनय में इसका प्रयोग होता है। चक्रहस्त में अंगुष्ठ और कनिष्ठिका को छोड़कर शेष अंगुलियों को मोड़ देने पर 'वाराह' हस्तमुद्रा बनती है। वाराह के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब दो अर्धचन्द्र हस्त अंगूठे से मिलकर तिर्यक् हथेलियों में स्थित होते हैं तो उसे 'गरुड़हस्त' कहते हैं। इसका विनियोग गरुड़ के अभिनय में होता है। सर्पशीर्षहस्त और स्वस्तिकहस्त के मिला देने से 'नागबन्ध' हस्त होता है। नागफांस के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। यदि एक चतुरहस्त को दूसरे चतुरहस्त पर रखकर तर्जनी और अंगूठे को खोल दिया जाता है तो 'खट्वा-हस्त' कहलाता है। इसका विनियोग खट्वा तथा शिविका के प्रदर्शन में होता है। कपित्थहस्त और मणिबन्ध के योग से भेरुण्ड' हस्तमुद्रा बतनी है। भेरुण्ड पक्षी के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है[1]।

अभिनयदर्पण के छः संयुतहस्त भरतार्णव के संयुतहस्तों से मिलते हैं। शेष दस हस्त उसमें अलग से वर्णित हैं। उनमें कुछ हस्त नाट्यशास्त्र में भी मिलते हैं। जैसे पुष्पपुट, अंजलि, स्वस्तिक, डोला, अवहित्थ, वर्धमान, उत्संग—ये सात हस्त नाट्यशास्त्र और भरतार्णव दोनों में पाये जाते हैं। चतुरस्र, कलश, तिलक, नागबन्ध, वैष्णव, उत्तानवंचित और पक्षवंचित ये संयुतहस्त भरतार्णव

१. अभिनयदर्पण १८८।२०३, भरतार्णव (द्वितीय अध्याय)।

में स्वतन्त्ररूप से वर्णित हैं। संगीतरत्नाकर, नृत्याध्याय और नाटचशास्त्रसंग्रह में तेरह संयुत हस्त बनाये गये हैं किन्तु नाटचशास्त्रसंग्रह में समान्तर से भी छः संयुतहस्त बताये गये हैं—अजलि, कपोत, कर्कट, पुष्पुट ये चार हस्तमुद्राएँ नाटचशास्त्र एवं अभिनयदर्पण दोनों में एक से पाये जाते हैं। इनमें 'पुष्पपुट' नामक हस्ताभिनय का लक्षण एवं विनियोग दोनों ग्रन्थों में एक-सा ही वर्णित है। शेष तीन के लक्षण एवं विनियोग दोनों में मिलते जुलते हैं।

देवहस्त—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, आदि देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का प्रदर्शन जिन हस्तमुद्राओं से किया जाता है, उन्हें 'वेदहस्त' कहते हैं[१]। वेदहस्तमुद्राओं का विवेचन केवल अभिनयदर्पण में मिलता है। भरतार्णव तथा नाटचशास्त्र में वेदहस्त मुद्राओं का निरूपण नहीं किया गया है। अभिनय-दर्पण में ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, विनायक, कार्त्तिकेय, मन्मथ, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु और कुवेर इन पन्द्रह वेदहस्त मुद्राओं का निरूपण किया गया है।

ब्रह्महस्त मुद्रा में बांये हाथ से चतुरहस्त मुद्रा और दाहिने हाथ से हंस-मुख मुद्रा धारण की जाती है। इसी प्रकार जब बांये हाथ से मृगशीर्ष और दांये हाथ से त्रिपताक मुद्रा धारण की जाती है तब 'शंकर' हस्तमुद्रा बनती है। जब दांये हाथ में 'सूचीहस्त' मुद्रा बनाकर दांये हाथ को कन्धे के समान्तर में कर दिया जाता है। तब उसे 'सरस्वती' हस्तमुद्रा कहते हैं। जब बांये और दांये दोनों हाथों के अर्धचन्द्र को क्रमशः ऊपर और नीचे की ओर फैला दिया जाता है और दोनों में अभयदान एवं वरदान देने का भाव वर्तमान होता है। तब उसे 'पार्वती' हस्तमुद्रा कहते हैं। दोनों हाथों को कन्धों के समीप 'कपित्थ' मुद्रा में रखने से 'लक्ष्मी' हस्तमुद्रा बनती है। इसी प्रकार दोनों हाथों में कपित्थ हस्तमुद्रा बनाकर हृदय पर धारण करने से 'विनायक' हस्तमुद्रा बनती है। बांये हाथ में त्रिशूल मुद्रा और दांये हाथ में शिखरमुद्रा बनाकर ऊपर उठा देने से 'कार्त्तिकेय' हस्त बनता है। इसी प्रकार बायें हाथ में शिखरमुद्रा और दायें हाथ में कटकामुख मुद्रा बनाने से 'मन्मथ' मुद्रा; एक हाथ में त्रिपताक मुद्रा दूसरे में स्वस्तिक मुद्रा बनाने से 'इन्द्रहस्त' मुद्रा; दायें हाथ में त्रिपताक और बायें हाथ में कांगूल हस्तमुद्रा बनाने से 'अग्निहस्त' और बायें हाथ में पाशमुद्रा और दायें हाथ में सूचीमुख मुद्रा धारण करने से 'यमहस्त' मुद्राएँ बनती हैं। जब एक

१. अथात्र ब्रह्मरुद्रादिदेवताभिनयक्रमात्।
मूर्त्तिभेदेन हस्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥ (अभिनयदर्पण, २०४)

हाथ खट्वाहस्त और दूसरा हाथ शकटहस्त मुद्रा में होता है तब उसे 'निर्ऋतिहस्त' कहते हैं। जब दायें हाथ में पताकमुद्रा और बायें हाथ में शिखर मुद्रा धारण करते हैं तब उसे 'वरुणहस्त' कहते हैं। इसी प्रकार जब दायें हाथ में अरालहस्त और बायें हाथ में अर्द्धपताकहस्त मुद्रा धारण करते हैं तो उसे 'वायुहस्त' कहते और जब बायें हाथ में पद्महस्त और दायें गदाहस्त मुद्रा धारण करते हैं तब 'कुबेरहस्त' मुद्रा होती है[1]।

दशावतारहस्त—

अभिनयदर्पण में मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, कृष्ण, बलराम और कल्कि—इन दश अवतारों के अभिनय की मुद्राएँ भी प्रतिपादित हैं। भरतार्णव और नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के दशावतार मुद्राओं का विवेचन नहीं किया गया है। अभिनयदर्पण के अनुसार यदि दोनों हाथों में 'मत्स्यहस्त' मुद्रा बनाकर उन्हें दोनों कन्धों के बराबर स्थित कर दिया जाय तो उसे 'मत्स्यावतार' हस्तमुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार दोनों हाथों में 'कूर्महस्त' मुद्रा बनाकर उन्हें कन्धों के बराबर स्थित कर दिया जाय तो 'कूर्मावतार' हस्त-मुद्रा और 'वाराहहस्त' मुद्रा बनाकर उन्हें कटि के दोनों पार्श्वों में कर देने से 'वाराहावतार' हस्तमुद्रा कहते हैं। जब बायें हाथ में सिंहमुखहस्त और दायें हाथ में त्रिपाकहस्त मुद्रा धारण करते हैं तब उसे 'नृसिंहावतार' हस्तमुद्रा कहते हैं। दोनों हाथों में 'मुष्टिहस्त' मुद्रा धारण कर उसे एक दूसरे के ऊपर अवस्थित कर देने से 'वामनावतार' हस्तमुद्रा और बायें हाथ की कटि पर और दायें हाथ को अर्धपताकहस्त मुद्रा में अवस्थित कर देने से 'परशुरामावतार' हस्तमुद्रा कहते हैं। जब दायें हाथ में कपित्थहस्तमुद्रा और बायें हाथ में शिखरहस्त मुद्रा बनाकर ऊपर उठा दिया जाय तो उसे 'रामावतार' हस्तमुद्रा और जब दोनों हाथों में मृगशीर्ष हस्तमुद्रा धारण कर उन्हें आमने-सामने अवस्थित किया जाता है तब उसे 'कृष्णावतार' हस्त मुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार जब दाहिने हाथ में पताकहस्त मुद्रा और बायें हाथ में मुष्टिहस्त मुद्रा धारण करते हैं तब उसे 'बलरामावतार' हस्तमुद्रा और बायें हाथ में त्रिपाकहस्त तथा दायें हाथ में पताकहस्त मुद्रा धारण करते हैं तब उसे 'कल्कि अवतार' हस्तमुद्रा कहते हैं[2]।

विभिन्न जातीय हस्त—

अभिनयदर्पण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियों के भावाव्यक्ति के लिए हस्तमुद्राओं का विवेचन किया गया है। भरतार्णव में संकरहस्तों के अन्तर्गत चार जातीय हस्तों का विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र में इस

---

१. अभिनयदर्पण २०४–२९५। २. अभिनयदर्पण, २१६–२२५।

प्रकार के जातीय हस्तों का विवेचन नहीं है। 'ब्राह्मणहस्त' मुद्रा में दोनों हाथों में शिखरहस्त मुद्रा बनाकर दाहिने हाथ को थोड़ा टेढ़ा करके उसके द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने का भाव प्रदर्शन किया जाता है। यदि बायें हाथ में थोड़ी टेढ़ी शिखरहस्त मुद्रा और दायें हाथ में पताकहस्त मुद्रा धारण किया जाय तब उसे 'क्षत्रियहस्त' मुद्रा कहते हैं। जब बायें हाथ में हंसमुखहस्त और दायें हाथ में कटकामुखहस्त मुद्रा धारण करते हैं तो उसे 'वैश्यहस्त' मुद्रा कहते हैं और जब बायें हाथ में शिखरहस्त मुद्रा तथा दायें हाथ में मृगशीर्षहस्तमुद्रा धारण करते हैं उसे 'शूद्रहस्त' मुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार दोनों हाथों में शकटहस्तमुद्रा बनाकर मुख के समीप अवस्थित करने पर 'राक्षस' हस्तमुद्रा होती है[1]। इसी प्रकार अन्य जातियों के भी हस्तमुद्राओं का विवेचन अन्य नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है किन्तु अभिनयदर्पण में उपर्युक्त पाँच जातीयहस्तों के अभिनय का विवेचन किया गया है।

बान्धवहस्त--

अभिनयदर्पण में नन्दिकेश्वर ने दम्पति, माता-पिता, सास-ससुर, जेठ-देवर, ननद, छोटे-बड़े भाई, पुत्र, बहू और सौत आदि बान्धवजनों के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए हस्तमुद्राओं एवं उनके विनियोग का वर्णन किया है। नाटचशास्त्र में इस प्रकार का वर्णन नहीं पाया जाता है। जब बायें हाथ में शिखरहस्त मुद्रा और दायें हाथ में मृगशीर्षहस्त मुद्रा धारण करते हैं तब उसे 'दम्पति' हस्तमुद्रा कहते हैं। पति-पत्नी के भाव-प्रकाशन के लिए इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। तब बायें हाथ को अर्धचन्द्र और दाहिने हाथ को संदंश हस्तमुद्रा में धारण करके अर्धचन्द्रहस्त को उदर पर घुमा दिया जाय तब उसे 'मातृहस्त' कहते हैं। जननी और कुमारी कन्या का भाव प्रदर्शन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है और जब इस मातृहस्त मुद्रा के दाहिने हाथ को शिखर हस्त मुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाय तब उसे 'पितृहस्त' मुद्रा कहते हैं। पिता और दामाद के भाव-प्रदर्शन में 'पितृहस्त' का विनियोग किया जाता है। जब हंसमुख मुद्रायुक्त दक्षिणहस्त को कण्ठ पर और सन्दंश हस्तमुद्रा में बामहस्त को उदर पर धारण किया जाता है तब उसे 'श्वश्रूहस्त' कहते हैं। सास के भाव-द्योतन में इसका प्रयोग होता है। यदि दाहिने श्वश्रू हस्तमुद्रा को 'शिखर' हस्तमुद्रा बना दिया जाय तो 'श्वशुरहस्त' कहा जाता है। इसी प्रकार जब बायें हाथ में 'शिखर' हस्तमुद्रा और दक्षिणहस्त में कर्त्तरीमुख हस्तमुद्रा को धारण कर दोनों हाथों को पार्श्वों में अवस्थित कर दिया जाय तो तब उसे 'भर्तृभ्रातृहस्त' हस्त कहते है। यदि इस 'भर्तृभ्रातृ' हस्तमुद्रा में दाहिने हाथ में

१. वही, २२६–२३०।

स्त्रीहस्त मुद्रा बना दिया जाय तो उसे 'ननान्दृहस्त' कहा जाता है। जब दोनों हाथों में मयूरहस्त मुद्रा धारण कर एक को आगे तथा दूसरे को पार्श्व भाग में अवस्थित किया जाय तब वह 'ज्येष्ठकनिष्ठमातृहस्त' कहा जाता है। यदि दक्षिणहस्त में संदंशहस्त मुद्रा और वामहस्त में शिखरहस्त मुद्रा बनाकर उदर पर घुमाकर अवस्थित किया जाय तब उसे 'पुत्रहस्त' कहते हैं। जब पुत्रहस्त मुद्रा में दक्षिणहस्त में स्त्रीहस्तमुद्रा धारण किया जाय तब उसे 'स्नुषा' हस्तमुद्रा कहा जाता है। इसी प्रकार पाशहस्तमुद्रा धारण कर जब उनसे स्त्री-भाव को प्रदर्शित किया जाय, तब उसे 'सपत्नीहस्त' कहते हैं[1]।

नवग्रहहस्त—

अभिनयदर्पण में नन्दिकेश्वर ने सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु आदि नवग्रहों के अभिनय प्रदर्शन के लिए भी हस्तमुद्राओं का विवेचन किया है। नाटचशास्त्र में नवग्रहहस्त मुद्राओं का विवेचन नहीं है। जब दोनों हाथों में अलपद्म और कपित्थ हस्तमुद्रा धारण कर उन्हें कन्धे के समीप स्थित किया जाय तब उसे 'सूर्य' हस्तमुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार जब वामहस्त में अल्लपद्म और दक्षिणहस्त में पताकहस्त मुद्रा को धारण किया जाय तो उसे 'चन्द्रहस्त' मुद्रा कहा जाता है। जब वामहस्त में सूचीहस्त और दक्षिणहस्त में मुष्टिहस्त मुद्रा धारण किया जाता है तब 'कुजहस्त' मुद्रा कहा जाता है। यदि वामहस्त को तिर्यक् मुष्टिहस्त में और दक्षिणहस्त को पताक-हस्त मुद्रा में धारण किया जाय तब उसे 'बुधहस्त' मुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार ऋषि, ब्राह्मण और गुरु का भाव-प्रदर्शन करने में यज्ञोपवीत का प्रदर्शन दोनों हाथों में शिखरहस्त मुद्रा धारण करके किया जाता है। जब दोनों हाथों में मुष्टिहस्त मुद्रा बनाकर बायें हाथ को ऊपर उठा लिया जाय और दाहिने हाथ को नीचे झुका दिया जाय तब उसे 'शुक्रहस्त' मुद्रा कहते हैं। बायें हाथ में शिरहस्त मुद्रा और दाहिने हाथ में त्रिशूल हस्तमुद्रा धारण कर 'शनि' के भावों को प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार जब बायें हाथ में सर्पशीर्षहस्त और दाहिने हाथ में सूचीहस्त मुद्रा धारण किया जाता है तब उसे 'राहुहस्त' मुद्रा और जब बायें हाथ में सूचीहस्तमुद्रा और दाहिने हाथ में पताकाहस्त मुद्रा धारण किया जाय तब उसे 'केतुहस्त' मुद्रा कहा जाता है[2]। इस प्रकार नन्दि-केश्वर ने नवग्रह हस्तमुद्राओं का विवेचन कर एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इन मुद्राओं का प्रयोग सूर्य, चन्द्र, भौम आदि नवग्रहों के अभिनय में प्रदर्शन किया जाता है। अन्य किसी नाटचशास्त्रीय ग्रन्थ में इस प्रकार नवग्रहों के अभिनय प्रदर्शन के लिए मुद्राओं का विवेचन नहीं है।

---

१. अभिनयदर्पण २३१–२४३। २. वही २५०।२५८।

नृत्तहस्त—

भरतार्णव में नृत्तहस्तों की सूची में सोलह प्रकार के नृत्तहस्तों का उल्लेख है[1] किन्तु ग्रन्थ में बाइस प्रकार के नृत्तहस्तों का विवेचन किया गया है। सरस्वती महल नामक पुस्तकालय में एक हस्तलेख है जिसमें सोलह नृत्तहस्तों के अतिरिक्त छः और अधिक नृत्तहस्तवर्णित हैं। इस प्रकार पाण्डुलिपि में निर्दिष्ट छः नृत्तहस्तों को मिलाकर बाइस प्रकार के नृत्तहस्त हो जाते हैं। भरतार्णव के अनुसार सोलह नृत्तहस्त इस प्रकार हैं—उद्वृत्त, तलवक्त्र, विप्रकीर्ण, गजरद, व्याविद्धवक्त्र, सूचीवक्त्र, रेचित, अर्धरेचित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करिहस्त, दक्षपक्ष, ज्ञानहस्त और मुद्राहस्त। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में ऊर्ध्व-मण्डलहस्त, पार्श्वमण्डलहस्त, उरोमण्डलहस्त, नलिनीपद्मकोशहस्त, कपोतहस्त और मकरहस्त ये छः नृत्तहस्त अधिक वर्णित हैं[2]। इनके मिला देने से भरतार्णव में नृत्तहस्तों की संख्या बाइस हो जाती है। अभिनयदर्पण में तेरह प्रकार के नृत्तहस्त और उनकी पाँच प्रकार की गतियों का निर्देश है। अभिनयदर्पण के अनुसार पताक, स्वस्तिक, डोला, अंजलि, कटकावर्धन, पाश, कीलक, कपित्थ, शिखर, कूर्म, हंसमुख और अलपद्म ये तेरह नृत्तहस्त बताये गये है और ऊर्ध्व, अधर, उत्तर, प्राची और दक्षिण ये नृत्त की पाँच गतियाँ बताई गयी हैं[3]। अभि-नयदर्पण में वर्णित इन नृत्तहस्तों का विवेचन असंयुत और संयुत हस्तों के अन्तर्गत कर दिया गया है। किन्तु भरतार्णव में वर्णित नृत्तहस्तों का विवेचन असंयुत या संयुत हस्तों में नहीं है। भरतार्णव के ये नृत्तहस्त स्वतन्त्र हैं। नाटच-शास्त्र में तीस प्रकार के नृत्तहस्तों का विवेचन किया गया है[4]। भरतार्णव में सोलह संयुतहस्त और सोलह नृत्तहस्त निर्दिष्ट हैं। इसके साथ अन्य पाण्डुलिपियों में निर्दिष्ट छः अन्य नृत्तहस्तों को मिला देने से बाइस नृत्तहस्त हो जाते हैं। भरत के नाटचशास्त्र में तेरह संयुतहस्त और तीस नृत्तहस्त वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतार्णव में नृत्तहस्तों में से कुछ हस्त जोड़ दिये गये हैं और नाटच-शास्त्र में उन्हें नृत्तहस्तों में सम्मिलित कर दिया है अतः भरतार्णव में नृत्तहस्तों की संख्या कम और नाटचशास्त्र में उनकी संख्या अधिक है।

समस्त नृत्तहस्तों की रूप-रचना संयुत और असंयुत हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होती है। जब दोनों हाथ हंसपक्ष की मुद्रा में हृदय के सन्मुख स्थित होकर परस्पर विश्लिष्ट होते हैं तो उसे 'उद्वृत्त' नृत्तहस्त कहा जाता है। पदावर्त्तन आदि भावों के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब दोनों हाथ पताकाकर की मुद्रा में संमुख आपस में बार-बार चलित होते हैं तो उसे

१. भरतार्णव ३।९१–९३।
२. वही ३।१२६–१३६।
३. अभिनयदर्पण २४८–२९; २४४–२४५।
४. नाट्यशास्त्र ९।११-१६।

'तलवक्त्र' नृत्तहस्त कहते हैं। लुण्ठन आदि भावों की अभिव्यक्ति में इसका प्रयोग होता है। 'विप्रकीर्ण' नृत्तहस्त में दोनों हाथ त्रिपताकाहस्त की मुद्रा में परस्पर बिच्युत रहते हैं। इसका प्रयोग कवच, करन्यास आदि भावों के प्रदर्शन में होता है। 'गजदत्त' नृत्तहस्त में शिखरहस्त मुद्रा में दोनों कनिष्ठ अंगुलियां फैली हुई होती हैं। इसका प्रयोग जलावगाहन, शंखस्थापन आदि भावों की अभिव्यक्ति में होता है। 'आविद्धवक्त्र' में दोनों हाथ मुकुलहस्त की मुद्रा में बार-बार चलित होते हैं। इसका प्रयोग देवपूजा, भ्रमण आदि भावों के प्रदर्शन में होता है। जब दोनों हाथ सूचीमुख मुद्रा में परस्पर संश्लिष्ट होते हैं तब उसे 'सूचीमुख' नृत्तहस्त कहते हैं। विलासयुक्त अभिनय में इसका प्रयोग होता है। जब दोनों हाथ 'अलपद्महस्त' मुद्रा में घुमाकर पार्श्व में फैले हुए होते हैं तो उसे 'रेचित' नृत्तहस्त कहा जाता है। इसका प्रयोग चाली—नटन, नारियल आदि के भावों के प्रदर्शन में होता है। जब रेचितहस्त वाम भाग में स्थित होता है तब वह 'अर्धरेचित' कहा जाता है। अंगहार आदि के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब पताकाहस्त मुद्रा को शिथिल कर नीचे की ओर थोड़ा झुका दिया जाय तो 'पल्लवहस्त' होता है। फल, पुष्प आदि के भावाभिव्यक्ति में इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार जब त्रिपताकाहस्त मुद्रा में दोनों हाथों को कन्धे से हटाकर नितम्ब तक झुका दिया जाय तब 'नितम्ब' कहा जाता है। परिवेष, भ्रमरी नृत्य आदि के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। जब 'नितम्बहस्त' मुद्रा में हाथों को केशों के समीप में ले जाया जाता है तब उसे 'केशबन्ध' कहते हैं। दो वृक्षों के अभिनय आदि के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। जब 'अलपद्महस्त' मुद्रा में दोनों हाथों को आगे की ओर फैला दिया जाता है तो 'लताहस्त' कहा जाता है। विद्युत्भ्रमण नाटच, पुष्पित लता आदि के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। बायें हाथ को त्रिपताका मुद्रा में कन्धे पर रख दिया जाय और दूसरे हाथ को पद्मकोश मुद्रा में नीचे की ओर स्थित किया जाय तो 'करिहस्त' कहा जाता है, विघ्नेश्वर गणेश के अभिनय आदि में इसका प्रयोग होता है। जब अलपद्म मुद्रा में दोनों हाथों को घुमाकर परिवर्तित करके फैला दिया जाय तब 'दण्डपक्ष' नृत्तहस्त कहा जाता है। पुष्पांजलि अभिनय आदि के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब पताकाहस्त मुद्रा में एक हाथ पर हंसमुख मुद्रा में दूसरे हाथ को रख दिया जाय तब उसे 'ज्ञानहस्त' कहते हैं। निर्वाण-भावना आदि के अभिनय में इसका विनियोग होता है। जब दोनों हाथों की मध्यमा अंगुली को अंगूठे से मिलाकर फैला दिया जाय तो उसे 'मुद्राहस्त कहा जाता है। इसका प्रयोग गाय के मुख, छोटे तिनके आदि भावों के प्रदर्शन में होता है।[1] इस प्रकार भरतार्णव में कथित नृत्तहस्तों की सूची के अनुसार सोलह

---

१. भरतार्णव ३।९४-११५; नाटचशास्त्र ९।१८४-२०९।

नृत्तहस्तों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् अन्य पाण्डुलिपि में वर्णित पाँच अन्य हस्तों का भी विवेचन भरतार्णव में किया गया हैं। तदनुसार यदि अरालहस्तमुद्रा में दोनों हाथों को ऊपर की ओर फैला दिया जाय तब उसे 'ऊर्ध्वमण्डलहस्त' कहते हैं। दो तोतों के गमन तथा प्रलय के निरूपण में इसका प्रयोग होता है। जब इस 'ऊर्ध्वमण्डलहस्त' दोनों पार्श्वों में स्थित होते हैं तो उसे 'पार्श्वमण्डलहस्त' कहा जाता है। कबूतरों के गमन एवं नागास्त्र के प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। जब पार्श्वमण्डल हस्त हृदय के सम्मुख बार बार घुमाया जाय तब उसे 'उरोमण्डलहस्त' कहते हैं। क्रौंच और खंजरीट के गमन के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। जब पद्मकोशहस्त मुद्रा में दोनों हाथों को हृदय के पास लेजाकर टेढ़ा करके हिला दिया जाय तब उसे 'नलिनीपद्मकोश' नृत्तहस्त कहा जाता है। मर्मोक्ति, मूकनाट्य आदि के अभिनय में इसका विनियोग होता है। यदि दाहिना हाथ सर्पशीर्ष मुद्रा में स्थित हो और उसके ऊपर बायें हाथ को पूर्ववत् मिलाकर आगे की ओर फैला दिया जाय तो 'कपोतहस्त' कहा जाता है। कपोतद्वय एवं सर्पद्वय के मिलन में इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार यदि सर्पशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनों अंगूठों को हिलाया जाय तो उसे 'मकरहस्त' कहते हैं। इसका प्रयोग मत्स्य-भाव प्रदर्शन में होता है।[1] इस प्रकार भरतार्णव में इन पाँच नृत्तहस्तों का भी विवेचन किया गया है। अभिनयदर्पण में कुल तेरह नृत्तहस्त विवेचित हैं और नाट्यशास्त्र में बत्तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है। अभिनयदर्पण में जो तेरह नृत्तहस्त बताये गये है वे असंयुत अथवा संयुतहस्त से विभेदित नहीं हैं। इनमें पताक, त्रिपताक, शिखर, कपित्थ, अलपद्म और हंसमुख वही हैं जो असंयुत हस्तों के अन्तर्गत वर्णित हैं। शेष सात संयुतहस्ताभिनय के अन्तर्गत वर्णित है।

नानार्थहस्त—

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में पार्वती के द्वारा प्रयुक्त विभिन्न विचारों को व्यक्त करने वालीं हस्तमुद्राओं का भी विवेचन किया है। उन्होंने उनके लक्षण के साथ विशिष्ट प्रयोगों का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार 'संदंशहस्त' ध्वनि, गन्ध एवं रस में प्रयुक्त होता है। हंसपक्ष मुद्रा जब नीचे, ऊपर या तिर्यक् रूप से बनाई जाती है तो वह रेखा या धारा का प्रयोग करती है। यदि मृगशीर्षहस्त दोनों भुजाओं के मध्य तिर्यक् रूप से स्थित होता है तो वह पति-पत्नी के अर्धशरीर की भावना को अभिव्यक्त करने में प्रयुक्त होता है। जब मुकुल मुद्रा को कनिष्ठिका अङ्गुली से सम्यग् रूपेण प्रसारित किया जाता है और दोनों हाथों को परस्पर जोड़ा जाता है तब उसे 'अर्धमुकुल' कहते हैं। इसी प्रकार जब

---

१. भरतार्णव ३।१२६-१३६।

दोनों हाथों को एक दूसरे की ओर स्थित करके वक्षस्थल के ऊपर या उसी स्तर पर हिलाया जाता है तब उसको किसी अन्य की ओर संकेत करने के लिए अथवा अपनी ओर संकेत करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार असंयुतहस्त की मुकुल मुद्रा को अधोभाग में, मुख के सामने, वक्षस्थल के सामने निवेशित किया जाता है तो उसका दान, साधुता तथा मन की प्रसन्नता के लिए प्रयोग होता है। जब अर्द्धचन्द्र मुद्रा को मुख के अधोभाग में, दक्षिणांग में या अग्रभाग मे निवेशित किया जाता है तब वह व्याघ्र के विस्तीर्ण मुख तथा वस्त्रावलोकन में प्रयुक्त होता है और जब मस्तक के ऊर्ध्वभाग या शरीर के दक्षिण भाग की ओर रखा जाता है तब वह ब्रह्मचर्य, निश्चितार्थ तथा लिपि का सूचक होता है। यदि वैष्णवहस्त मुद्रा स्थिरता से सामने की ओर, ऊपर या नीचे की ओर रखी जाती है वह गार्हस्थ्य, कलियुग तथा आघातार्थ में प्रयुक्त होता है। जब पताक, चतुर हस्त को एक दूसरे के सामने रखकर सामने की ओर हिलाया जाय अथवा उनके ऊपरी सिरे आपस में जोड़ दिये जाँय तब उसका वानप्रस्थाभिगमन, देवताओं की आरती में तथा पर्णशाला में प्रयोग किया जाता है। यदि शिखरहस्त मुद्रा को कन्धे पर या सामने की ओर तिर्यक रूप से या निश्चल रूप से रखा जाय तब सन्यास, स्थितार्थ तथा भाषण में उसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार यदि कपित्थहस्त मुद्रा को ऊपर या नीचे के क्रम से रखा जाय या पुरोभाग में प्रसारित किया जाय अथवा वक्षःस्थल के समानान्तर निश्चलता से रखा जाय तब उसका प्रयोग दोहन, मन्थन, धूमयान के प्रदर्शन में होता है[1]।

षड्तुहस्त—

जब त्रिपाकहस्त ऊर्ध्वभाग में हिलता हुआ स्थित हो तब वह वसन्त ऋतु का सूचक होता है। जब अर्धपताक हस्त क्रमशः आगे हिलाया जाय तो वह ग्रीष्मऋतु को सूचित करता है। जब पताकाहस्त मुद्रा ऊपर की ओर दोनों में हिलता हुआ स्थित हो तो वह 'वर्षा' ऋतु का सूचक होता है। इसी प्रकार यदि 'अलपद्म' मुद्रा का दाहिना हाथ कान के पास स्थित हो तो वह 'शरद्' ऋतु को सूचित करता है। जब सर्पशीर्ष मुद्रा नीचे की ओर स्थित किया जाय तो वह 'हेमन्त' ऋतु का सूचक होता है और जब वह अर्धमुकुल मुद्रा सामने स्थित हो तो वह 'शिशिर' ऋतु को सूचित करता है[2]।

कालमानहस्त—

पार्वती ने नानार्थहस्त के अन्तर्गत कालमान हस्त का विवेचन किया है। हंसपक्ष मुद्रा 'निमेष' काल को सूचित करता है। यदि सूचीमुख मुद्रा को आगे

---

१. भरतार्णव १०।५८६–६०१। २. वही १०।६०२–६०६।

की ओर स्थिर कर दिया जाय तो वह 'काष्ठा' कालमान को सूचित करता है। इसी प्रकार 'संदंश' मुद्रा 'कला' (८ सेकेण्ड) कालमान को सूचित करता है। 'नखहंस' मुद्रा 'क्षण' (४ मिनट) कालमान का सूचक है। 'मुकुल' मुद्रा 'मुहूर्त' (४८ मिनट) काल को सूचित करता है। यदि अर्धमुकुल मुद्रा तिर्यक् रूप से स्थित हो तो वह 'घटिका' (२४ मिनट) कालमान को सूचित करता है। इसी प्रकार 'चतुरहस्त' मुद्रा अर्धप्रहर का सूचक है; हंसवक्त्र मुद्रा 'प्रहर' का सूचक है, 'पताकाहस्त' मुद्रा 'दो प्रहर' को सूचित करता है और 'ताम्रचूड़' हस्तमुद्रा 'तीन प्रहर' का सूचक है। अलपद्म मुद्रा दिन के समय और मुकुल रात्रि के समय का सूचक है। सूची-मुख मुद्रा पूरे दिन को सूचित करता है। यदि सर्पशीर्षहस्त मुद्रा तिर्यक् रूप से स्थित हो तो वह 'पक्ष' को सूचित करता है और यदि सूचीमुख मुद्रा स्थित हो तो 'मास' को सूचित करता है और यदि वह हिलने की स्थिति में हो तो दो 'मास' को सूचित करता है। इसी प्रकार 'शुक्रतुण्डहस्त' मुद्रा ऊपर की ओर स्थित हो तो वह 'वर्ष' कालमान को सूचित करता है[1]।

पुष्प एवं ताड़न हस्त—

जब कांगल मुद्रा उपर की ओर अवस्थित हो तो वह 'पुष्पहस्त' कहा जाता है। इन्दीवर, कल्हार, चम्पक, वराटिका, तमाल आदि प्रदर्शन में इसका प्रयोग होता है। यदि पताकाहस्तमुद्रा कमर के पर थोड़ा हिलाते हुए स्थित किया जाय अथवा कपोल के पास स्थित हो तो वह मृदंग, क्रीड़ा, कपोल अथवा थप्पड़ मारने को सूचित करता है[2]।

वेदहस्त—

यदि पताकाहस्त को आगे की ओर हिलाया जाय तो वह 'ऋग्वेद' को सूचित करता है। जब पताकाचतुरहस्त के अंगूठे को बार-बार हिलाया जाय तो वह 'यजुर्वेद' का सूचक होता है। यदि 'संदंश' नामक हस्त ऊपर और नीचे की अवस्थित हो तो वह 'सामवेद' को सूचित करता है। इसी प्रकार यदि मृगशीर्षहस्त नीचे की ओर अवस्थित हो तो वह 'अथर्ववेद' को सूचित करता है।

चतुरुपायादिहस्त—

यदि मृगशीर्ष हस्त तिर्यक् (तिरछे) रूप से अवस्थित हो वह 'साम' उपाय को सूचित करता है। यदि वही हस्त आगे की ओर हिलाते हुए स्थित

१. भरतार्णव १०।६०७–६६२। २. वही १०।६९३–६१६।
३. वही १०।६१७–६१९।

किया जाय तो 'भेद' नामक उपाय को सूचित करता है। यदि मुकुलहस्त मुद्रा नीचे की ओर अवस्थित हो तो 'दान' नामक उपाय का सूचक होता है। इसी प्रकार यदि पताकाहस्त मुद्रा प्रकम्पित हो तो वह 'दण्ड' नामक उपाय को सूचित करता है। यदि तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को अच्छी तरह से कुंचित कर नीचे की ओर स्थित हों और शेष अंगुलियाँ फैला दी जाय तो वह 'संयमहस्त' कहा जाता है। प्राणायाम, महायोग आदि में इसका प्रयोग होता है। यदि 'अलपद्महस्त' मुद्रा के पास में अवस्थित हो वह 'उत्साह' शक्ति का सूचक होता है। यदि वही हस्त ऊपर की ओर हिलाते हुये स्थित हो तो 'प्रभुशक्ति' को सूचित करता है। यदि 'मुकुलहस्त' मुद्रा की अंगुलियाँ अलग-अलग स्थित हों तो 'मन्त्रशक्ति' को सूचित करता है। जब 'अलपद्म' मुद्रा चल रूप में अवस्थित हो वह 'भाग' (अंश) को सूचित करता है[1]।

षट्तन्त्रहस्त—

यदि पताकहस्तों को अग्रभाग में परस्पर संश्लिष्ट कर दिये जांय तो वह 'सन्धि' को सूचित करता है। यदि 'सिंहमुख' मुद्रा में तर्जनी और कनिष्ठा अंगुलियों को झुका दिया जाय तो वह 'आजिमुख' हस्त कहलाता है। यदि त्रिपताकहस्त को आगे की ओर चलित अवस्था में स्थित हो तो 'विग्रह' सूचित होता है। यदि पताकहस्त मुद्रा को आगे की ओर फैला दिया जाय तो 'यान' अर्थ को सूचित करता है। यदि शिखरमुद्रा आगे की ओर स्थित हो तो वह 'आसन' अर्थ को सूचित करता है। यदि कर्त्तरीहस्त अग्रभाग मे कम्पित स्थिति में हो तो वह 'द्वैधीभाव' को सूचित करता है और यदि अंजलि मुद्रा वक्षःस्थल पर स्थित हो तो 'आश्रय' का सूचक होता है।[2]

इनके अतिरिक्त पार्वती के मत में भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल सूचक हस्तों का भी वर्णन किया गया है। तदनुसार यदि पताकाहस्त नीचे की ओर, पृष्ठभाग और अग्रभाग में स्थित हो तथा दोला के समान चलित हो तो क्रमशः वर्तमान, भूत एवं भविष्य काल का सूचक होता है। इसी प्रकार प्रयोग हस्तों का भी विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त नानार्थ हस्तमुद्राएँ और भी हो सकती हैं किन्तु नन्दिकेश्वर ने संक्षिप्त करके उनका वर्णन किया है।

बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग—

नन्दिकेश्वर ने देवगुरू बृहस्पति के मतानुसार सत्ताइस प्रकार के हस्तों का विनियोग वर्णित किया है।[3] ये सत्ताइस हस्त प्रायः भरतार्णव में वर्णित असंयुत हस्त मुद्राओं से मिलते हैं। इनमें दो-तीन हस्तमुद्राएँ नहीं हैं। शेष

१. भरतार्णव १०।६२०-६२४.   २. वही १०।६२५-६२९।

१. भरतार्णव, चतुर्थ अध्याय।

सभी असंयुतहस्तों में निरूपित हैं। किन्तु बृहस्पति के मत में उनका लक्षण नहीं बताया गया है। केवल विनियोग ही बताये गये हैं।

संकरहस्त—

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव के षष्ठ अध्याय में कुछ संकर हस्तों के विनियोग का निरूपण किया है। इनमें से कुछ हस्त असंयुत हस्ताभिनय में निरूपित किये गये हैं। संकर हस्तों का अलग से निरूपण नाटचशास्त्र में नहीं किया गया है। भरतार्णव में चारीनिरूपण के अन्तर्गत पन्द्रह चारीयुत हस्तों का भी विवेचन किया गया है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मतानुसार अभिनयदर्पण और भरतार्णव मेंविविध हस्ताभिनयों का विवेचन किया गया है। इनमें असंयुत और संयुत हस्तों का केवल नृत्य में प्रयोग होता है। इसलिये असंयुत एवं संयुत हस्तमुद्राओं को नृत्यहस्तमुद्रा और नृत्तहस्तों को नृत्तमुद्रा कहा जाता है। वस्तुतः नृत्तहस्त मुद्रा नहीं हैं, बल्कि नृत्य के समय हाथों के चलाने एवं मुद्राओं के प्रयोग करने का एक ढग है। भरतार्णव में असंयुत, संयुत एवं नृत्त हस्तों के अतिरिक्त पार्वती के मत से नानार्थ-हस्त, बृहस्पति के मत से हस्तविनियोग, संकरहस्त, चारीहस्त, देवहस्त, दशाव-तार हस्त, बान्धवहस्त, जातीय हस्तों का भी विनियोगों के साथ विस्तृत विवेचन किया गया है। इनमें से कुल हस्ताभिनय केवल अभिनयदर्पण में वर्णित हैं भरतार्णव में नहीं और कुछ हस्त भरतार्णव में वर्णित है किन्तु अभिनयदर्पण में नहीं हैं। कुछ हस्ताभिनय जंसे असंयुत और संयुत हस्त दोनों में वर्णित हैं किन्तु उनकी संख्याओं, लक्षणों एवं विनियोगों में अन्तर है। कुछ हस्ताभिनयों के लक्षण एवं विनियोग दोनों में समान है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर ने जिन हस्ताभिनयों का वर्णन अभिनयदर्पण में किया है भरतार्णव में उनका वर्णन करना उन्हें अभीष्ट न रहा हो, इसलिए भरतार्णव में उनका वर्णन नहीं किया है। इसी प्रकार भरतार्णव मे वर्णित हस्ताभिनयों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। नन्दिकेश्वर का 'भरतार्णव' ग्रन्थ छः हजार श्लोकों का बृहद् ग्रन्थ था, किन्तु आज वह पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है। विद्वानों का मत है कि अभिनयदर्पण भरतार्णव का एक भाग है। भरतार्णव के कुछ अंश अभिनयदर्पण में संगृहीत हैं। क्योंकि भरतार्णव के प्रारम्भिक अध्यायों के देखने से ज्ञात होता है कि उसके पूर्व कुछ भाग और रहा होगा और सम्भव है कि वह अभिनयदर्पण ही हो; किन्तु कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अभिनयदर्पण अलग ग्रन्थ है। और भरतार्णव एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न मतों का आकलन किया गया है।

नृत्य एवं नाटच-कला में हस्ताभिनय का सर्वाधिक महत्त्व है। उनके द्वारा मानव अपने मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करता है। हाथ तथा अङ्गुलियों के द्वारा ही स्वीकृति-अस्वीकृति; प्रकाशन तथा गोपन, ग्रहण एवं मोचन, विश्वास एवं सान्त्वना आदि भावों को प्रकट किया जाता है। कहा जाता है कि अङ्गुलियों के द्वारा मानसिक भावों को, हथेली के द्वारा अनुभवों एवं उत्तेजनाओं को और हाथ के पृष्ठभाग द्वारा शारीरिक शक्ति को अभिव्यक्त किया जाता है। नन्दिकेश्वर ने इन हस्तचेष्टाओं का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन में उनकी दृष्टि नाटचाभिनय की अपेक्षा नृत्याभिनय अधिक है। नन्दिकेश्वर ने हस्तमुद्राओं का विशेष प्रयोग नृत्याभिनय की दृष्टि से किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने हाथों से सम्पन्न होने वाले नानाभावरसाश्रित अभिनयों, मुद्राओं एवं चेष्टाओं के नाम, रूप, लक्षण एवं विनियोग आदि का भी समुचित वर्णन किया है।

पादाभिनय—

आचार्य नन्दिकेश्वर ने हस्ताभिनय के समान पादाभिनय का भी महत्त्व स्वीकार किया है। उन्होंने भरतार्णव में चौंतीस प्रकार के पादाभिनयों का उल्लेख किया है। प्रथम सात पादाभिनय का उल्लेख किया है—चलन, सङ्क्रमण, सरण, कुट्टन, लुठित, लोलित तथा विषमसंचर।[1] इनके लक्षण तथा विनियोग भी बताये गये हैं। तदनन्तर बाइस प्रकार के अन्य पादभेदों का निरूपण किया गया है। उनके नाम निम्नप्रकार हैं—अंचित, कुंचित, सूची, अग्रतलसंचर, उद्घट्टित, सम, सारिका, अर्धपुराटिका, स्वस्तिक, स्फुरिका, निकुट्टक, तलोत्क्षेप, पृष्ठोत्क्षेप, वेष्टन, अर्धस्खलितिका, खुत्ता, पुराटिका, प्रावृत्त, उद्वेष्टन, उल्लोल, समस्खलतिका और लताक्षेप[2] और इनके लक्षण और प्रयोग भी बताये गये हैं। तत्पश्चात् अन्त में पुनः अन्य पांच पादभेदों का उल्लेख है—प्रेङ्खण, कुंचित, समोत्सारितमण्डल, अञ्चित और ललित,[3] किन्तु भरतार्णव की मूल पाण्डुलिपि में प्रारम्भ के चार पादभेदों के लक्षण एवं विनियोग खण्डित है। केवल अन्तिम 'ललित' पादभेद का लक्षण उपस्थित है अतः उसके अनुसार पुस्तक में केवल

---

१. आदौ तु चलनं प्रोक्तं पश्चात् सङ्क्रमणं तथा।
सरणं तु ततः प्राज्ञैः कुट्टनं परिकीर्त्तितम्॥
लुठितं लोलितं पश्चात्ततो विषमसंचरः।
पादचारा इमे सप्त प्रोक्तास्तल्लक्ष्म कथ्यते॥ (भरतार्णव ४।२८८-२८९)

२. भरतार्णव ४।३०१-३०४.

३. प्रेङ्खणं कुंचितं चैव समोत्सारितमण्डलम्।
अंचितं ललितं चैव पंचधा पादभेदकाः॥ (भरतार्णव ४।३३०)

'ललित' पादाभिनय का लक्षण एवं विनियोग दिया गया है। इनमें से अञ्चित और कुंचित ये दो भेद उपर्युक्त बाइस भेदों की सूची में भी निर्दिष्ट हैं किन्तु अन्तिम पांच भेदों में उन दोनों के लक्षण नहीं दिये गये हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों के लक्षणों में समानता थी या नहीं ? अन्तिम पाँच भेदों में 'समोत्सारितमण्डल' नामक एक पाद-प्रकार बताया गया है किन्तु उसका लक्षण नहीं दिया गया है। सम्भव है उपर्युक्त 'सम' नामक भेद के समान इसकी स्थिति रही हो।

अभिनयदर्पण में पादाभिनय के चार प्रकारों का उल्लेख है—मण्डल, उत्पलवन, भ्रमरी और पादचारी।[1] इनमें खड़े होने के ढंग को मण्डल, उछलना, कूदना आदि विधियां उत्पलवन, घूमने की स्थिति को भ्रमरी और चलने की स्थिति को पादचारी कहते हैं। इनके अनेक भेदोपभेद भी बताये गये हैं। जैसे 'मण्डल' पाद के दस भेद हैं—स्थानक, आयत, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, प्रेङ्खण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्वसूची। उत्प्लवन के अलग, कर्त्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग ये पाँच भेद बताये गये हैं। भ्रमरी के उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एकपाद, कुंचित, आकाश, अङ्ग ये सात भेद होते हैं। चलन, चंकमण, सरण, वेगिनी, कुट्टन, लुठित लोलित, विषम ये पादचारी के सात प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार हंसी, मयूरी, मृगी, गजलीला, तुरंगिणी, सिंही, भुजंगी, मण्डूकी, वीरा और मानवी इन दस प्रकार की गतियों का भी निरूपण किया गया है[2]। किन्तु इनका विवेचन नृत्य के प्रसङ्ग में करना अधिक उचित प्रतीत होता है। नाटचशास्त्र में पाँच प्रकार के पादाभिनयों का विवेचन है—उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अञ्चित और कुंचित[3]। नृत्याध्याय में पादाभिनय के पहले छः प्रकार बताये हैं—सम, अञ्चित, कुंचित, सूची, अग्रतलसंचर और उद्-घट्टित। तदनन्तर सात अन्य भेदों का भी विवेचन है—त्रोटित, उद्घटितोत्सेक, घट्टित, मर्दित, अग्रग, पार्ष्णिग और पार्श्वग[4]। इस प्रकार नृत्याध्याय में तेरह प्रकार के पादाभिनय वर्णित हैं। नृत्याध्याय में पादाभिनय संगीतरत्नाकर के अनुसार वर्णित हैं। उनके लक्षण, विनियोग एवं प्रकार सङ्गीतरत्नाकर से ज्यों के त्यों मिलते हैं[5]। इस प्रकार सङ्गीतरत्नाकर तथा नृत्याध्याय दोनों के अनुसार पादाभिनय तेरह प्रकार के होते हैं।

---

१. मण्डलोत्प्लवने चैव भ्रमरी पादचारिका।
 चतुर्धा पादभेदाः ··· ··· ··· ··· ·······॥ (अभिनयदर्पण, २५९)

२. अभिनयदर्पण, २६०–२६२, २८२–२८३, २८९–२९१, २९८–३००।

३. नाटचशास्त्र, ९।२६५–२६६।

४. नृत्याध्याय, ३४४–३४५ तथा ३४६–३५९।

५. सङ्गीतरत्नाकर ४।३१२–३१४ तथा ३१६–३२५।

भरतार्णव के अनुसार पैर के अपने स्थान से चलाने की स्थिति को 'चलन' कहते हैं। भूचारी, अङ्गहार, चाली-नृत्य और झंकार नाटच में इसका प्रयोग होता है। पैर उठा-उठाकर चलने की स्थिति को 'संक्रमण' कहा जाता है। समस्त प्रकार के नाटच के अन्त में, पैरों की शिक्षा-विधि में तथा नाटचवेग में इनका विनियोग होता है। भूमिभाग का परित्याग किये बिना ही तेजी से चलना 'सरण' कहा जाता है। नदी के वेगगति में, नाटच के अन्त में, सप्त-लास्य, शृंगारनाटच में इनका प्रयोग होता है। पैर की ऐड़ी, पैर के अग्रभाग अथवा पादतल के द्वारा यदि भूमि पर प्रहार (ताड़न) किया जाय तो 'कुट्टन' कहा जाता है। इसका प्रयोग 'अट्टमार्ग'[1] भाव एवं चारी नाटच में किया जाता है। स्वस्तिकमुद्रा में पैर का लुढ़कती चाल की स्थिति को 'लुंठित' कहते हैं। आकाशचारी में इसका प्रयोग होता है। 'झूले' की गति के समान पैर की चाल को 'लोलन' कहते हैं। भ्रमरी, करणों के नृत्य में इसका प्रयोग होता है। पैर के एक भाग से चलना 'विषमसंचर' होता है। अद्‌भुतरस, देशीनाटच और चाली नृत्य में इसका विनियोग होता है[2]।

अन्य पादभेदों में यदि अंगुलियाँ तिरछी होकर उठी हों और एड़ी भूमि पर स्थित हो तो 'अंचित' पाद कहा जाता है। करण और चाली नृत्य में इसका प्रयोग होता है। यदि अंगुलियाँ भूमि पर सटी हों, ऐड़ी ऊपर उठी हो और मध्यभाग झुका हुआ हो तो उसे 'कुंचित' कहते हैं। यदि अंगूठा भूमि पर हो, एड़ी थोड़ी उठी हो, शेष भाग अपनी स्थिति में हो तो 'सूची' पाद कहा जाता है, तप एवं धर्म भावना में इसका प्रयोग होता है। अंगुलियों के साथ अंगूठे को फैलाकर भूमि पर स्थिर कर दिया जाय और एड़ी उठी हुई हो तो 'अग्रतलसंचर' कहा जाता है। आकाशचारी में इसका प्रयोग होता है। जब पैर के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को नीचे गिरा दिया जाय तो 'उद्घट्टित' कहा जाता है। पैर के स्वाभाविक रूप से भूमि पर स्थित होने को 'समपाद' कहा जाता है। नाटचारम्भ, स्थान और पुष्पाञ्जलि में इसका विनियोग होता है[3]। ये पादाभिनय नाटचशास्त्र, सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में भी विवेचित हैं। किन्तु वहाँ उनके लक्षण एवं विनियोगों में किंचित् अन्तर पाया जाता है[4]। शेष पादाभिनय नृत्य से अधिक सम्बन्धित हैं। अतः नृत्य के प्रसङ्ग

१. 'अट्टमार्ग' शब्द तामिल भाषा का शब्द है।

२. भरतार्णव ४।२९०–३००।

३. भरतार्णव ४।३०५–३१४।

४. नाटचशास्त्र ९।२६६–२८१, संगीतरत्नाकर ४।३१५–३२१, नृत्याध्याय, ३४६–३५२।

में उनका विवेचन किया जायगा। पादाभिनय का नाट्य और नृत्य दोनों में महत्त्व है। नन्दिकेश्वर का कहना है कि इससे और भी अधिक पादभेद हो सकते है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने आंगिक अभिनयों में शिर, दृष्टि, ग्रीवा, हस्त तथा पादाभिनय का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया है। इनमें भी विशेष रूप से हस्ताभिनय और पादाभिनय का विवेचन किया है। शेष अङ्गों के अभिनयों का विवेचन उन्होंने नहीं किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि सम्भवतः वे आंगिक अभिनय लोक-जीवन में अधिक प्रचलन न रहे हों, इस दृष्टि से उन्होंने उनका वर्णन न किया हो। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर की कृतियाँ अपूर्ण स्थिति में उपलब्ध हैं। सम्भव है कि उन्होंने अन्य आंगिक अभिनयों का भी विवेचन किया होगा, किन्तु उनकी कृतियों के अपूर्ण प्राप्त होने से उनमें उनका समावेश नहीं किया गया प्रतीत होता है।

वाचिक अभिनय

नाट्यकला में वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा है; क्योंकि अभिनय के अन्य अङ्ग उसके अर्थ को व्यंजित करते हैं[1]। नाटककार इसी के आधार पर और इसी के माध्यम से अपनी कथावस्तु को हमारे सन्मुख प्रस्तुत करता है और कथात्मक एवं चारित्रिक विकास-क्रम को उपस्थित करता है। सूत्रधार और अभिनेता इसी आधार को ग्रहण करता है। नाट्य में जिस वार्तालाप या कथोपकथन का प्रयोग किया जाता है वह जीवन की सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ सजीव रूप में प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार नाटकीय कथोपकथन हमारे चिन्तन एवं मनन की भाषा की अपेक्षा जीवन की भाषा के अधिक निकट होता है। प्राचीनकाल में साहित्यिक एवं जीवन की भाषा में अन्तर नहीं रहा है। उस समय साहित्य की भाषा वही थी जो साधारण बोलचाल की भाषा थी[2]। यही कारण हैं कि नाट्यशास्त्र में भाषाओं एवं बोलियों के साथ-साथ वाचिक अभिनय मे पाठ्य (कथोपकथन) के प्रयोग पर विशेष रूप से विचार किया गया है। नाट्यशास्त्र मे पाठ्य के छः अङ्ग बताये गये हैं—स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अङ्ग। किन्तु पाठ्य के इन छः अङ्गों का समुचित प्रयोग व्याकरण, काव्य, संगीत एवं छन्दःशास्त्र के ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता। अतः वाचिक अभिनय के लिए उपर्युक्त शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है।

---

१. वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।
अंगनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यंजयन्ति हि॥ नाट्यशास्त्र, १४।२)

२. नाट्यकला, पृष्ठ १६१–६२।

नन्दिकेश्वर ने वाचिक अभिनय का लक्षण बताते हुए लिखा हैं कि 'वाणी (गीत, सम्वाद आदि) के द्वारा किया गया अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है'[1]। इस प्रकार वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध वाणी बोलने से होता है। अतः अभिनेता को शुद्ध, स्पष्ट एवं युक्तिसंगत वाणी बोलने का अभ्यास करना चाहिये। नन्दिकेश्वर ने उच्चारण के सम्बन्ध में निश्चित नियमों की चर्चा की है। उन्होंने पाठ्य के सम्बन्ध में सात स्वर, तीन स्थान, चार प्रकार के वर्ण, काकु छः अलंकारों का निर्देश किया है। उनके अनुसार सात स्वर षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं। शृंगार और हास्य में मध्यम तथा पंचम; वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज तथा ऋषभ, करुण में गान्धार एवं निषाद; वीभत्स और भयानक में धैवत स्वरों का प्रयोग उचित माना गया है। नन्दिकेश्वर ने वाणी के तीन स्थान बताये हैं—उरस्, कण्ठ और शिर। किस अवसर पर किस स्थान की वाणी का प्रयोग करना चाहिए, इसकी विधि जानने के लिए स्वरों एवं स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है। पाठ्य के प्रसङ्ग में सभीपवर्त्ती पात्रों के साथ उरस् का, थोड़ी दूरी पर स्थित पात्रों के साथ कण्ठ का और दूरस्थ पात्रों के साथ शिर का प्रयोग होता है। नन्दिकेश्वर ने स्वर-लयों की स्थितियों के रूप में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं कम्पित—चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख किया है। हास्य और शृङ्गार में उदात्त, और स्वरित, वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में उदात्त और कम्पित स्वर, करुण, वीभत्स और भयानक रसों में अनुदात्त स्वरित और कम्पित वर्णों के प्रयोग का विधान है। उन्होंने उच्चारण सम्बन्धित नियमों पर विस्तार में विचार किया है। काकु पाठ्यगुण का प्राण है। काकु के द्वारा ही अर्थवैचित्र्य होने से नवीन अर्थ का आधार विस्तीर्णता को प्राप्त होता है। इसके दो भेद होते हैं—साकांक्ष और निराकांक्ष। प्रकरणादि की अपेक्षा करने वाला काकु साकांक्ष होता है। इसमें तार से मन्द्र तक के स्वर, अनियत अर्थ, उदात्तादि वर्ण तथा उच्चादि अलंकार अपरिसमाप्त रहते हैं। निराकांक्ष में अर्थ नियत वर्णालंकार परिसमाप्त स्थान शिर, मन्द्र से तार तक स्वरों की योजना होती है। काकु का सम्पादन जिह्वा के द्वारा होता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार अव्यक्त एवं पीड़ित वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। माधुर्य, स्पष्ट वर्ण, पदच्छेद, स्वर, लय एवं धैर्य पाठ के छः गुण हैं[3]। उनके अनुसार उच्चारण में माधुर्य होना चाहिए,

---

१. वाचा विरचितः काव्य-नाटकादि तु वाचिकः। (अभिनदर्पण, ३९)

२. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतो।

स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम् २८–२९)

३. पाणिनीय-शिक्षा।

वर्ण स्पष्ट हो, वाक्यों में पदच्छेद तथा सुन्दर स्वर होना चाहिए और लय के साथ धीरे-धीरे उच्चारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उच्चारण के छः अलंकार होते हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित। इनसे काकु को पूर्णता प्राप्त होती है। दूरस्थित पात्रों के सम्वादों में विस्मय, वाद्य और त्रास आदि में उच्चस्वर में पाठ किया जाता है। पारस्परिक आक्षेप, क्रोध, कलह आदि की स्थिति में दीप्त स्वर में पाठ होता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य आदि की स्थिति में मन्दस्वर में पाठ होता है। व्याधि, मूर्च्छा, थकान एवं त्रास की दशा में नीचस्वर में पाठ होता है। भय, शीत, त्रास, आवेश आदि की दशा में द्रुत स्वर में पाठ होता है। प्रणय, तर्क असूया, चिन्ता, लज्जा आदि के प्रदर्शन में विलम्बित स्वर में पाठ होता है। पाठच में किस स्थान पर किस अलंकार का प्रयोग उचित और किसका अनुचित है। इसकी जानकारी अभिनेता के लिए आवश्यक बताई गई है। इस प्रकार नाटच में कहाँ पर किस प्रकार उच्च या नीच स्वर से उच्चारण करना चाहिए और कहाँ पर कितना विराम देना चाहिए, इत्यादि बातों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है; क्योंकि शुद्ध, स्पष्ट, सुन्दर स्वरों एवं लयों आदि उच्चारण-विधियों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही अभिनेता वाचिक अभिनय का सुन्दर प्रदर्शन कर सकता है।

आहार्य अभिनय

नेपथ्य के अन्दर की जाने वाली वेश-भूषा विन्यास एवं अङ्ग-रचना आदि को 'आहार्य' अभिनय कहा है। भट्टि, कालिदास, भारवि आदि महाकवि आहार्य-कल्पना से पूर्ण परिचित थे। उनके अनुसार सुन्दरता रहने पर आहार्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती[1]। नन्दिकेश्वर ने आहार्य का लक्षण बताया है कि 'हार, केयूर, वेश-भूषा आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर किया जाने वाला अभिनय 'आहार्य' कहलाता है[2]। नाटचशास्त्र में आहार्य अभिनय का असाधारण महत्त्व बताया है। क्योंकि आहार्य अभिनय (वेश-भूषा सज्जा) द्वारा ही अभिनेता रंगमंच पर आकर्षक अभिनय कर सकता है। अग्निपुराण के अनुसार आहार्य अभिनय बुद्धि-प्रेरित अभिनय है। भरत ने तो आहार्य अभिनय का विस्तार से प्रतिपादन किया है। अभिनदर्पण में बताया गया है कि अभिनेत्री

---

१. (क) न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणः। (किरातार्जुनीय ४।२३)
   (ख) आहार्यशोभारहितैरपायैः। (भट्टि २।१४)
   (ग) निसर्गसुभगस्य किमाहार्यकाडम्बरेण—(मल्लिनाथ-कुमारम्भव ७।२०)

२. आहार्यो हारकेयूरवेषादिभिरलंकृतः (अभिनयदर्पण, ४०)

को बहुमूल्य पोशाक धारण किये हुए खिले कमल की भाँति होनी चाहिये[1]। अभिनयदर्पण के अनुसार अभिनेत्री को अपने पैरों में कांस्य-निर्मित, मधुर-ध्वनि युक्त एवं सुन्दर घुंघुरुओं को धारण करना चाहिए[2]। अभिनेता और अभिनेत्री दोनों ही नटराज शिव की वन्दना एवं वाद्य-यंत्रों की पूरा कर गुरु की आज्ञा से अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शृंगार-रचना करे। उन्हें चाहिये कि वे देश, काल, जाति, वय एवं अवस्था के अनुसार वेश-भूषा आदि धारण करे, क्योंकि आहार्य का अभिनय देश, काल, जाति, एवं अवस्था की अनुरूपता के साथ अवतरित होकर दर्शकों को हृदय में अनुभूति एवं रस का संचार करता है। इस प्रकार नाटच-प्रयोग में आहार्य अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

भरत ने आहार्य अभिनय के चार विभाग किये हैं—(१) पुस्त (२) अलङ्कार (३) अङ्गरचना और (४) संज्जीव। **पुस्त** का अर्थ है संयोजन अर्थात् सांकेतिक पदार्थों की रचना। शैल, यान, विमान, चर्म, ध्वज, दण्ड, गज, रथ आदि लौकिक पदार्थों के सांकेतिक पुस्तों के द्वारा रंगभूमि पर सारूप्य सृजन करता है। प्रस्तुत विधि के तीन रूप हैं—संधिम, व्याजिम और वेष्टिम। रङ्गमञ्च पर पात्रों के प्रसाधन के लिए अलङ्कारादि का धारण करना **अलङ्कार** कहलाता है। पात्रों का अलङ्कार तीन प्रकार से होता है—माल्य द्वारा अङ्ग का प्रसाधन, आभूषण द्वारा शरीर का प्रसाधन तथा वेशविन्यास। इन प्रसाधनों के द्वारा स्त्री ओर पुरुषों का देश, जाति, अवस्था आदि के अनुसार अलङ्करण होता है। **अङ्गरचना** के अन्तर्गत शरीर के अवयों की रचना तथा केशविन्यास आदि देश, जाति, अवस्था के अनुसार विभिन्न शैलियों में निष्पादित होते हैं। **संज्जीव** आहार्य अभिनय के अन्तर्गत द्विपद, चतुष्पद तथा अपद प्राणियों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने का विधान बताया गया है। नाटचप्रयोग में लौकिक पदार्थों और जीवों का रूपसादृश्य जीवन प्रदान करता है। इससे अभिनय का महत्त्व बढ़ता है। इस प्रकार आहार्य अभिनय नाटचप्रयोग एवं सारूप्य-सृजन में एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसके द्वारा रङ्गमञ्च पर दृश्यों को कृत्रिम रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अग्निपुराणकार के अनुसार आहार्य अभिनय बुद्धि प्रेरित अभिनय है। अभिनेता आहार्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों को हृदय में रस का संचार करता है। वस्तुतः सारा आहार्य अभिनय बुद्धचारम्भक तथा रसाभिव्यक्ति के लिए होता है।

---

१. परार्ध्यभूषासम्पन्ना प्रसन्नमुखपंकजा। (अभिनयदर्पण, २५)

२. अभिनयदर्पण, २९।

सात्त्विक अभिनय

अभिनयदर्पण में सात्त्विक अभिनय का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। नन्दिकेश्वर ने सात्त्विक अभिनय का साक्षात् शिवरूप बताया है[1]। उन्होंने सात्त्विक अभिनय का लक्षण बताया है कि 'भावज्ञ व्यक्तियों के द्वारा सात्त्विक भावों के माध्यम से किया गया अभिनय 'सात्त्विक' अभिनय कहलाता है[2]। नाटचशास्त्र में सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्री-पुरुषों के श्रृंगार-सम्बन्धी अनेक प्रकार के हाव-भावों आदि का वर्णन है। अभिनयदर्पण में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ प्रकार के सात्त्विक भाव बताये गये हैं[3]। इन सात्त्विक भावों का प्रयोग विभिन्न अभिनयों में अलग-अलग विधि से किया जाता है। नाटचशास्त्र में भी उपर्युक्त आठ सात्त्विक भाव बताये गये हैं। सात्त्विक भावों के द्वारा अभिनेता मुखसे शब्द बिना उच्चारण किये ही प्रेक्षकों के समक्ष अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकता है। यह आठ प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—स्तम्भित होना (स्तम्भ); पसीना आ जाना (स्वेदाम्बु); रोमांचित होना (रोमांच); वाणी का लड़खड़ा जाना (स्वरभंग); शरीर में कंपकंपी होना (वेपथु); मुखाकृति का विकृत होना (वैवर्ण्य);अश्रुपात होना (अश्रु) और मूच्छित होना (प्रलय) इन्हीं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा नाटच रसमय होता है। इसीलिए अभिनयों में सात्त्विक अभिनय की प्रधानता मानी गई है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने अभिनय के विभिन्न प्रकारों पर विचार किया है किन्तु उन्होंने आंगिक अभिनयों का तो विस्तृत विवेचन किया है और वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक इन तीनों अभिनयों का केवल लक्षणमात्र ही दिया है। इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा ही विविध प्रकार के रूपक प्रदर्शित किये जाते हैं और इन्हीं अभिनयों के द्वारा ही दर्शक नाटचार्थ का ग्रहण कर रस की अनुभूति करते हैं।

●

---

१. तन्नुमः सात्विकं शिवम् (अभिनयदर्पण, १)

२. सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः ।। (अभिनवदर्पण, ४०)

३. स्तम्भः स्वेदाम्बु रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ।। (अभिनयदर्पण ४१)

षष्ठ अध्याय

अभिनय और नर्तन

नन्दिकेश्वर के अनुसार अभिनय शब्द नर्तन शब्द के समानार्थक शब्द है। है। नर्तन शब्द 'नृत्' धातु से भाव अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय होकर बनता है। 'नृत्' धातु का अर्थ है गात्रविक्षेपण अथवा अङ्गसंचालन। यह अङ्ग संचालन की क्रिया सामान्य तत्त्व है जो सभी विधाओं में पाया जाता है। इनमें कुछ अङ्ग संचालन ऐसा भी होता है जो भाव विशेष को अभिव्यक्त नहीं करता, केवल ताल एवं लय का अनुसरण करता है इस प्रकार के अभिनय या नर्तन को 'नृत्त' कहते हैं। कुछ अङ्ग संचालन ऐसा भी होता है जो भावविशेष को अभिव्यक्त करता है इसमें केवल पदार्थ का अभिनय किया जाता है, इस प्रकार के अभिनय को 'नृत्य' कहते हैं। कुछ अङ्ग-संचालन ऐसा भी होता है जो रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत करता है जिसमें रस की प्रधानता होती है। इस प्रकार के अभिनय या नर्तन को 'नाटच' कहते हैं। इस प्रकार नर्तन तीन प्रकार का होता है—ताल-लय-प्रधान, भाव-प्रधान और रस-प्रधान। इन्हें ही अभिनयदर्पण में क्रमशः नृत्त, नृत्य और नाटच कहा गया है।

इस प्रकार नर्तन की प्रथम विधा 'नृत्त' है। इसमें ताल एवं लय के अनुसार हस्त-पादादि अंगों का प्रक्षेपण (नर्तन) होता है। यह किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं करता और न भावों का अनुसरण ही करता है, केवल ताल एवं लय पर आश्रित रहता है[1]। इसमें भावप्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है। नन्दिकेश्वर का कहना है कि जिस अभिनय में भावों का प्रदर्शन नहीं होता, उसे 'नृत्त' कहते हैं[2]। अभिषेक, महोत्सव, यात्राकाल, तीर्थयात्रा, प्रियसमागम, नगरप्रवेश, गृहप्रवेश, पुत्रजन्म एवं अन्य शुभावसरों पर नृत्य का प्रयोग करना

---

१. नाटचशास्त्र ४।२६५–२६७।

२. भावाभिनयहीनन्तु नृत्तमित्यभिधीयते। (अभिनयदर्पण, १५)

चाहिए[1]। सङ्गीतरत्नाकर में बताया गया है कि समस्त प्रकार के अभिनयों से रहित अङ्गसंचालन मात्र को नृत्त कहते हैं[2]। भाव यह कि 'नृत्त' एक वह सामान्य नर्तन है जिसमें भावप्रदर्शन बिल्कुल नहीं होता; केवल विविध प्रकार की अङ्ग-भंगिमाओं के साथ अभिनय किया जाता है और जिसका प्रयोग आमोद-प्रमोद के अवसरों पर किया जाता है। इसमें रस और भाव की अपेक्षा चमत्कार पर अधिक बल दिया जाता है। नर्तन की दूसरी विधा 'नृत्य' है। इसमें भाव-प्रदर्शन के साथ अङ्गसंचालन होता है और पदार्थ का अभिनय किया जाता है[3]। नन्दिकेश्वर का कथन है कि 'रस, भाव, व्यंजन आदि के प्रदर्शन के साथ जो अभिनय किया जाता है उसे 'नृत्य' कहते हैं। इसका प्रयोग राजा की सभा में किसी पर्व के अवसर पर किया जाता है[4]। सङ्गीतदामोदर में कहा गया कि ताल, मान और रसाश्रित विलासयुक्त अङ्गविक्षेप का नाम 'नृत्य' है[5]। इसमें अनेक हाव-भावों के साथ नर्तन के द्वारा दर्शकों का मनोरंजन किया जाता है। नृत्त में तो केवल ताल एवं लय के सहारे अङ्ग-संचालन होता है और नृत्य में रस, भाव, व्यंजना, आदि के सहारे नर्तन दिया जाता है। इसमें आंगिक अभिनय के साथ कभी-कभी आहार्य अभिनय का भी समावेश होता है किन्तु वाचिक और सात्विक अभिनय इसमें नहीं होता। नर्तन की तीसरी विधा 'नाटच' है इसमें सम्पूर्ण अभिनय होता है और रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें सङ्गीतमयता या तालबद्ध होना आवश्यक नहीं है। नाटच का मुख्य उद्देश्य रसानुभूति है। इसीलिए नाटचशास्त्र में नाटच को रसाश्रय कहा गया है। भरत के अनुसार जिसमें सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के मन में रस उत्पन्न किया जाता है उसे 'नाटच' कहा जाता है[6]।

---

१. नृत्तं तत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसंगमे॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं मांगल्यं सर्वकर्माभिः॥ (अभिनयदर्पण, १३–१४)

२. गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम्।
आंगिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः॥ (संगीतरत्नाकर ४।२७)

३. पदार्थाभिनयभावाश्रयं नृत्यम्।

४. रसभावव्यंजनायुक्तं नृत्यमित्यभिधीयते।
एतन्नृत्यं महाराजसभायां कल्पयेत् सदा॥ (अभिनयदर्पण, १६)

५. देशरुच्या प्रतीतोऽथ तालमानरसाश्रयः।
सविलासोऽङ्गविक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः॥ (संगीतदामोदर)

६. वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाटचम्। (नाटचशास्त्रम्)

नन्दिकेश्वर के अनुसार प्राचीन कथा पर आधारित ऐसी कथा के अभिनय को नाटच कहा जाता है जो लोकपूजित हो[1]। नाटच का प्रयोग विशेषकर पर्व और त्योहारों पर किया जाता है[2]। नन्दिकेश्वर की उक्त परिभाषा में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि उन्होंने पूर्वकथाभिनय के साथ लोक रुचि पर भी बल दिया है। भरत ने कहा है कि सुख-दुःख से समन्वित लोक-स्वभाव ही आंगिक आदि अभिनय से युक्त 'नाटच' कहा जाता है[3]। इस प्रकार अभिनय प्रधान प्राचीन कथावस्तु का आश्रय लेकर नर्तन द्वारा दर्शकों (सामाजिकों) के चित्त के अनुकूल रस का संचार करना 'नाटच' है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भावाभिनय ही नर्तन 'नृत्त', भावाश्रय नर्तन 'नृत्य' और रसाश्रय चतुर्विध अभिनययोपेत नर्तन 'नाटच' कहा जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले नाटच के अन्तर्गत 'नृत्त' का प्रयोग नहीं होता था। जब भरत ने शिव जी के समक्ष 'त्रिपुरदाह' नामक डिम प्रस्तुत किया, तब शिव ने नृत्य-विहीन उस अभिनय को देखकर कहा कि मैंने सन्ध्या के समय नृत्य करते हुए नानाविध करणों एवं अंगहारों से युक्त जिस नृत्त का आविर्भाव किया है उसे पूर्वरंग में संयोजित कीजिये।[4] तब शिव के आदेश से तण्डु ने भरत को नृत्त शिक्षा प्रदान की और तब से नृत्त को भी नाटच में सम्मिलित कर लिया गया। तण्डु के द्वारा उद्भासित होने के कारण वह नृत्त 'ताण्डव' नाम से प्रथित हुआ। तण्डु के द्वारा उद्भासित वह ताण्डव पुरुष-प्रयोज्य उद्धत नृत्त था। ताण्डव नृत्त का प्रयोग स्त्रियां नहीं कर सकती थीं; क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंगहारों का प्रदर्शन किया जाता था जो स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित किये जाने पर असौन्दर्य की सृष्टि करता है। इसमें अङ्ग-संचालन अत्यन्त कठोर एवं आवेशपूर्ण होता है और वीररस की प्रधानता होती है। किसी समय भगवान् शिव को नृत्य करते हुये देखकर पार्वती ने सुकुमार प्रयोगों से युक्त एक नृत्त किया था, जो 'लास्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह नृत्त स्त्री-पुरुष के आकर्षण से युक्त और शृंगार परक होता है। इसका प्रयोग केवल स्त्रियां ही कर सकती थीं, क्योंकि इसमें कोमल-भावों का प्रदर्शन होता है। इस प्रकार नृत्त दो प्रकार के

---

१. नाट्यं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्। (अभिनयदर्पण, १५)

२. द्रष्टव्ये नाटचनृत्ते च पर्वकाले विशेषतः। (अभिनयदर्पण, १२)

३. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयते ॥ (नाटचशास्त्र १ १२९)

४. मयापीदं स्मृतं नृत्तं सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरणसंयुक्तमंगहारैश्च भूषितम् ॥
पूर्वरंगविधावस्मिन् त्वया सम्यक् प्रयोज्यताम्। (नाट्यशास्त्र, ४।१३)

होते हैं—उद्धत नृत्त ताण्डव और सुकुमार नृत्त लास्य। बाद में चल कर ताण्डव को नृत्त और लास्य को नृत्य कहा जाने लगा। इसी से 'रास' तथा 'रासक' नृत्यों का विकास हुआ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि ताण्डव नृत्त अनेकविध करणों एवं अङ्गहारों से युक्त होता है। कारण, अङ्गहार और रेचक ये नृत्य सम्बन्धी तत्त्व हैं। नाटचशास्त्र में बताया गया है कि समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से ही होती है।[१] भरतार्णव में अङ्गहारों के अन्तर्गत करणों का उल्लेख किया गया है। नृत्य में हस्त और पाद की गतियों को 'करण' कहा गया है।[२] प्रत्येक करण में हस्त एवं पाद की मुद्राएँ बताई गई हैं। नाटचशास्त्र में एक सौ आठ प्रकार के करणों का निर्देश है। स्थानक, चारी, नृत्तहस्तादि भी करणों के ही विभिन्न तत्त्व हैं। भरतार्णव में स्थानक, चारी, नृत्तहस्तादि करणतत्त्वों पर विस्तार से विचार किया गया है।

स्थानक—

'स्थानक' करणों का ही एक तत्त्व है। नृत्य में खड़े होने की मुद्रा को स्थानक कहते हैं। हस्त और पाद की स्थितियों को करण कहा जाता है। खड़े होने की मुद्रा भी एक प्रकार की पादस्थिति है। अतः स्थानक को करण का तत्त्व माना गया है। चारी भी करणों का ही एक तत्त्व है किन्तु चारी (पादप्रचार) स्थिति के बाद ही होता है। पहले पैर स्थित रहता है बाद में उसमें गति होती है। अतः चारी के पहले 'स्थानक' का निरूपण किया जा रहा है। भरतार्णव में बत्तीस प्रकार के स्थानकों का प्रतिपादन किया गया है—आयत, अवहित्थ, अश्वक्रान्त, मोटित, विनिवृत्त, ऐन्द्र, चान्द्रिक, वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, साम्यपाद, स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त्त, पार्ष्णिपीड़, एक-पार्श्व, एकजानु, परिवृत्त, पृष्ठोत्तानपाद, एकपद, जानुक, ब्राह्म, बैष्णव, शैव, गारुड़, समसूची, विषमसूची, कूर्मासन और नागांघ्रि ये बत्तीस प्रकार के स्थानक बताये गये हैं।[३] भरतार्णव में स्थानकों के खड़े होने की विविध मुद्राओं, उनके स्वरूप तथा उनके विनियोग का विस्तृत विवेचन किया गया है। इनमें से सात पुरुष जाति, सात स्त्रीजाति और अठारह मिश्रित जातियों का वर्णन है। अभिनय-दर्पण में पादाभिनय के मण्डलपाद नामक भेदों के अन्तर्गत 'स्थानक' का उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार स्थानक के छः भेद होते हैं—समपाद, एकपाद,

१. सर्वेषामंगहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः। (नाट्यशास्त्र ४।२९ गायकवाड़)

२. हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्। (नाट्यशास्त्र ४।३०)

३. भरतार्णव ५।३३३।३३८.

नागबन्ध, ऐन्द्र, गारुड़ और ब्रह्मस्थान ।[१] अभिनयदर्पण में इनमें प्रत्येक के लक्षण एवं विनियोग बताये गये हैं। समानरूप से खड़े होने की स्थिति को 'समपाद' स्थानक कहा जाता है इसका विनियोग पुष्पांजलि एवं देवताओं के रूपाभिनय में किया जाता है। इसी प्रकार घुटनों के सहारे एक पैर से खड़े होने की स्थिति को 'एकपाद'; एक पैर से दूसरे पैर को तथा एक हाथ से दूसरे हाथ को सर्पबन्ध की तरह लपेटकर खड़े होने की मुद्रा को 'नागबन्ध'; एक पैर को घुटनों के बल मोड़कर तथा दूसरे पैर को घुटनों के साथ खड़ा करके दोनों हाथों को स्वाभाविक स्थिति में रखना 'ऐन्द्र' स्थानक; 'आलीढमण्डल' पाद मुद्रा में एक पाद के घुटनों को पृथ्वी पर टिकाकर दोनों हाथों से आकाशमण्डल में फड़फड़ाने का भाव प्रदर्शित करना 'गरुड़' स्थानक तथा एक घुटने पर दूसरे पैर को और दूसरे घुटने पर पहले पैर को रखकर स्थित होना 'ब्रह्म' स्थानक कहा जाता है। इनका प्रयोग क्रमशः निश्चल तपस्या नागफांस का भाव प्रदर्शित करने तथा जपादि में होता है।[२] नाटचशास्त्र में भी छः स्थानक बताये गये हैं—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ और प्रत्यालीढ़ ।[३] इनमें प्रत्येक के लक्षण एवं विनियोग भी बताये गये हैं। किन्तु अभिनयदर्पण में निरूपित छः स्थानकों से ये छः भिन्न हैं। इनमें समपाद तो अभिनयदर्पण और नाटचशास्त्र दोनों में समान रूप से वर्णित है और आलोढ़ एवं प्रत्यालीढ़ का अभिनयदर्पण में 'मण्डलपाद' के भेदों के अन्तर्गत उल्लेख है। नाट्यशास्त्र में छः पुरुषजातीय स्थानक और तीन स्त्री-जातीय स्थानक स्वीकार किये गये हैं। उपर्युक्त छहों पुरुषजातीय स्थानक और आयत, अबहित्थ एवं अश्वक्रान्त–ये तीन स्त्रीजातीय स्थानक हैं।[१] नाटचशास्त्र में मिश्रित जातीय स्थानकों का निरूपण नहीं किया गया है।

भरतार्णव में नृत्य के लिगे जिस प्रकार की स्थितियों का वर्णन है उनका प्रतिपादन पंचम अध्याय में किया गया है और षष्ठ अध्याय में उनके विनियोगों का निर्देश है। इनमें एक का नाम 'सप्तमस्थिति' है। इसका वास्तविक नाम सम्पादन करने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि कुछ स्थलों पर इसका नाम 'चान्द्रिक' है और कुछ स्थलों पर 'चाण्डिक'। प्रथम सात स्थितियों के मूल लेखकों के रूप में सात देवियों अथवा सात शक्तियों का नाम आता है—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा। इनमें सप्तम स्थिति की देवी 'चामुण्डा' है। चामुण्डा का एक नाम 'चण्डिका' भी है।

---

१. अभिनयनर्पण ४७४-२७५।   २. वही २७४–२८२।

३. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १०।१०७–१११.

४. नाट्यशास्श (गायकवाड़) १२।१६२-१७४।

चण्डिका के अभिनय में इस स्थिति का विनियोग होता है। अतः इसका चाण्डिक नाम ही उपयुक्त प्रतीत होता है 'चान्द्रिक' नहीं।

चारी--

'चारी' करणों का ही एक मुख्य तत्त्व है। नृत्य में चारी का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। भरत ने नाटचशास्त्र में पाद, जंघा, उरु एवं कटि के द्वारा किये जाने वाले अभिनय के समानीकरण को 'चारी' कहा है।[१] किन्तु साथ ही हस्त, शिर एवं वक्षःस्थल का भी सामंजस्य अपेक्षित है। भरत का कहना है कि 'जो यह नाटचतत्त्व प्रस्तुत किया गया है उसका आधार चारी ही है। चारी के बिना कोई अङ्ग प्रवृत्त नही होता। चारी से ही नृत्य प्रस्तुत किया जाता है, सभी चेष्टाएँ चारी से ही होती हैं, चारी से शस्त्र छोड़े जाते हैं और चारी का प्रयोग युद्ध में होता है।[२] चारी का प्रयोग विशेष रूप से नृत्त में होता है और नाटच में भी उसका विनियोग माना जाता है। नाटचशास्त्र के अनुसार एक पैर के संचालन से जो अभिनय किया जाता है वह 'चारी' कहलाता है। दो पैरों के संचालन के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'करण' कहते हैं; दो, तीन, चार करणों क एक साथ सामंजस्य को 'खण्ड' कहते हैं और तीन, चार खण्डों के सम्मिश्रण से मण्डल की निष्पत्ति होती है।[३] नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में एक पैर से किये जाने वाले अभिनय को चारी कहा है।[४] अभिनयदर्पण में चारी का लक्षण नहीं दिया गया है। अभिनयदर्पण में आठ प्रकार की चारियों का उल्लेख है—चलन, चंक्रमण, सरण, वेगिनी, कुट्टन, लुठित, लोलित और विषम।[५] भरतार्णव में 'चारी को दो वर्गो में विभाजित किया गया है—आकाशचारी और भूचारी। नाट्यशास्त्र में आकाशचारी के सोलह और भूचारी के सोलह भेद कुल बत्तीस भेद बताये गय हैं। भरत के अनुसार

---

२. एवं पादस्य जंघायाः उर्वोः कटचास्तथैव च।
समानकरणाच्चेष्टा सा चारीत्यभिधीयते ।। (नाट्यशास्त्र १०।१)

१. चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः ।। नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १०।६।

२. एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता।
द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत् ।।
करणानां समायोगः खण्ड इत्यभिधीयते।
खण्डैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा संयुक्तैर्मण्डलं भवेत् ।। (नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १०।३-४)

३. यत्केवलेन पादेन नृत्तं चार्युदाहृता। (भरतार्णव ८।५२१)

४. अभिनयदर्पण २९९-३००।

समपाद, स्थितावर्त्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एलकाक्रीड़िता, बद्धा, उरूद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, उपस्यन्दिता, समोत्सारितमत्तली, मत्तली—ये सोलह भौमी चारी और अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, डोलापादा, आक्षिप्ता, आविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजंगभासिता, मृगलुप्ता, दण्डा, भ्रमरी ये सोलह आकाशचारी[1] के भेद होते हैं। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में कोहलादि आचार्यों के मतानुसार देशी चारियों का वर्णन हमें जिनमें पैंतीस भौमचारी और उन्नीस आकाशिकी चारी का विस्तृत रूप से वर्णन है[2]। जिसमें सङ्गीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कोहल के अनुसार पचीस चारियों की चर्चा की है, जो 'मधुपचारी' के नाम से जाने जाते हैं और जिनमें पदसंचालन का विशेष महत्त्व है[3]। अभिनयदर्पण में कुल आठ ही चारियों का उल्लेख है। वहां पर आकाशचारी और भूचारी इन भेदों की कल्पना नहीं की गई है। जब कि भरतार्णव भूचारी और आकाशचारी इन दोनों भेदों की परिकल्पना है। वहां आकाशचारी के नौ तथा भूचारी के सोलह भेद बताये गये हैं। भूमितल से ऊपर वायुमण्डल में उठकर होने वाले संचरणों को आकाशचारी कहते हैं। भरतार्णव के अनुसार सम्प्रेङ्खणचारी, सारिकाचारी, अग्रलुप्ताचारी, विद्युल्लताचारी, खड्गबन्धाचारी, रेखाबन्धाचारी, लुठितोल्ललिता चारी, कुण्डलावर्तकाचारी और विचित्राचारी ये नौ आकाशचारी हैं[4]। भूमितल पर होने वाले पैरों के संचरण को भूमिचारी कहते हैं। भरतार्णव में समपाद, चाषगति, स्थितावर्त्ता, विच्यवा, उरूद्वृत्ता, अड्डिता, वक्त्रबन्धा, जनिता, उत्स्यन्दिता, शकटास्या, अपस्यन्दिता, समोत्सारितमत्तली, मत्तली, अध्यर्धिका, एकाक्रीड़िता ये सोलह भूचारी बताये गये हैं[5]। भरतार्णव में आकाशचारी के जो नौ भेद बताये गये हैं वे पूर्वलिखित सब मतों से सर्वथा भिन्न हैं। कोहल ने कहा भी है कि चारियों की संख्या में नृत्यशिक्षकों के द्वारा आवश्यकतानुसार समुचित परिवर्तन किया जा सकता है[6]। यही कारण है विभिन्न विद्वानों ने चारियों की विभिन्न संख्यायें निर्दिष्ट की हैं।

आकाशचारी—

संप्रेङ्खणचारी में समपाद अर्थात् सामान्य स्थिति से पैरों से चलना आरम्भ किया जाता है तदनन्तर एक ओर से दूसरी ओर संचरण किया जाता

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १०।८–१३; संगीतरत्नाकर ४।९०२–९०७ तथा नृत्याध्याय ९५४–९५९।

२. संगीतरत्नाकर ४।९०८–९१६।

३. वही, भाग ४, पृष्ठ ३१३–३१७।

४. भरतार्णव ८।४९५–४९७।

५. वही ८।५१७–५२१।

६. संगीतरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ४, ३१७।

है। हाथ को कटि के पीछे रखा जाता है उनको आगे और पीछे की ओर चलाया जाता है। दृष्टि ऊपर की ओर रहती है और सम्पूर्ण क्रिया सामने की ओर पाँच बार दुहराई जाती है। विराम के पश्चात् पुनः यही क्रिया तिरछी दिशा की ओर दुहराई जाती है। सारिकाचारी को शैव नामक स्थानक (खड़ी हुई मुद्रा) से ही आरम्भ किया जाता है और उसी स्थिति में समाप्त किया जाता है। हाथों को शुकतुण्ड मुद्रा में रखा जाता है और उसे बार-बार आगे की ओर चलाया जाता है। इसमें दायां पैर आगे बढ़ता है और शेष क्रिया बायें पैर पर की जाती है। अग्रप्लुप्ता चारी में नर्त्तक निरालम्ब होकर संचरण करते हुए सामने की ओर प्लुतक्रिया करता है और क्षणभर के लिए 'आयत' स्थानक की मुद्रा में स्थित होता है। तदनन्तर पैरों के अग्रभाग पर धीरे-धीरे आगे की ओर संचरण करता है। दृष्टि समस्थिति में रहती है और दोनों पैरों के बल साथ-साथ आगे की ओर संचरण करने की क्रिया प्रारम्भ करके सात बार दुहराई जाती है। विद्युल्लीला चारी नर्त्तक समपाद (सामान्य स्थिति) से प्रारम्भ करके दायें पैर पर स्थित होकर बायें पैर को ऊपर की ओर प्रकम्पित (हिलाता) है। यही क्रिया पैरों को बदल-बदल कर भी की जाती है और ललित मुद्रा में परिस्थितियों के अनुसार हाथों को बांधा जाता है। 'ललित' मुद्रा का वर्णन भरतार्णव में उपलब्ध नहीं है किन्तु यह नाटचशास्त्र में वर्णित है। तदनुसार जब हाथों को सिर के पास पल्लव मुद्रा में बांधा जाता है तब उसे 'ललितमुद्रा' कहते हैं। जब पताकाहस्त को कलाई से स्वतन्त्रतापूर्वक लटका दिया जाता है तब उसे 'पल्लव' मुद्रा कहते हैं[1]। खड्गबन्धचारी में नर्तक ब्रह्मस्थानक से प्रारम्भ करके दोनों हाथों को कर्त्तरीमुख मुद्रा में बांध कर पहले दाहिने पैर की ओर से आगे की ओर संचरण करता है तत्पश्चात् पैरों की स्थिति परिवर्त्तित करते हुए उपर्युक्त क्रिया बायें पैर पर की जाती है। रेखबन्धचारी में विद्युल्लीला नामक चारी की उलटी क्रिया की जाती है। लुठितोललिता चारी में उत्तान-बंचित मुद्रा में बांधकर तथा पैरों को लुठित करके ऊपर की ओर हिलाया जाता है। यह क्रिया क्रमशः एक-एक करके दोनों पैरों से दुहराई जाती है। जिसमें पाँच पदसंचालन आगे की ओर और पाँच पीछे की ओर किये जाते हैं। कुण्ड-लावर्त्तका चारी में हाथों को सूची मुद्रा में कानों के पास बांधकर बायें पैर पर दाहिने पैर की ओर भूमि पर भ्रमण किया जाता है तदनन्तर पैरों की विषम-संचार की स्थिति में रखा जाता है अर्थात् पैर पर विश्राम लेते हुए तथा पैरों बदलते हुए तीन बार क्रिया को दुहराया जाता है। विचित्राचारी में हाथों को रेचित हस्तमुद्रा के अनुसार रखकर पैरों को स्थिरमुद्रा (आलीढ़ स्थानक) में रखा जाता है। तदनन्तर उनकी स्थिति प्रत्यालीढ़ स्थानक में परिवर्त्तित कर

१. नाटचशास्त्र (चौखम्बा) ९।१९६, १८३।

दी जाती है। इस प्रकार इन दोनों मुद्राओं को बारी-बारी नौ बार दुहराया जाता है[1]।

भूचारी—

भूचारी का वर्णन भरतार्णव, नाट्यशास्त्र, सङ्गीतरत्नाकर, नृत्याध्याय आदि ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। भरतार्णव के अनुसार आगे, पीछे एवं पार्श्व में पादों को श्लिष्ट करके रखना 'समपाद' चारी कहा जाता है। जब पैर को एक दूसरे से सटाकर रखा जाता है और क्रम से एक के बाद दूसरा पैर बालिश्त भर आगे की ओर संचालित किया जाता है तब उसे 'चाषगति' चारी कहते हैं। जब एकचरण गोला घुमाते हुए संचालित किया जाता है तदनन्तर दूसरा चरण भी पहले चरण के साथ संयुक्त कर दिया जाता है तो उसे 'स्थितावर्त्ता' चारी कहते हैं। जब एक साथ स्थित चरणों में से एक पैर को अलग कर उससे भूमि पर प्रहार किया जाय तब वह 'विच्यवा' चारी कहलाता है। जब एक चरण को इस प्रकार उठा लिया जाय कि घुटना झुक जाय और ऐसा प्रतीत हो कि एड़ी बाहर निकने के लिए तैयार है तब उस पैर को भूमि पर पंजे के बल ले आया जाय तो 'उद्वृत्ता' चारी कहते हैं। जब दोनों पैर मिलाकर रखे जाएँ और नर्तक पंजों के ही बल भूमि पर आगे और पीछे लघु-संचरण करे तो उसे 'अड्डिताचारी' कहते हैं। जब दाहिना एवं बायां पैर अनेक बार स्वस्तिक मुद्रा में रख कर जानु को हिलाए तो उसे 'वक्त्रबन्धा चारी' कहा जाता है। यदि एक हाथ को खटकामुख मुद्रा में वक्षःस्थल पर रखा जाय और रेचित द्वारा आगे की ओर धक्का जैसा दिया जाय तो उसे 'जनिता' चारी कहते हैं। जब शीघ्रतापूर्वक पैर को भीतर एवं बाहर की ओर संचालित किया जाता है जैसा कि रेचक में किया जाता है उसे 'उत्स्यन्दिता' चारी कहते हैं। जब बायें पैर को स्वाभाविक स्थिति में रखकर उस पर शरीर का भार डाल दिया जाता है और दूसरे पैर को पाँच बालिश्त की दूरी पर तिरछा करके रखा जाता है तब उसे 'स्यन्दिता' चारी कहते हैं। यदि शरीर को सौष्ठव सहित साधकर रखा जाय और पंजे को प्रसारित कर दिया जाय तो वह 'शकटास्या' चारी कहा जाता है। इसी प्रकार यदि स्यन्दिता चारी की क्रिया को पाद-विपर्यास करके किया जाय तो 'अपस्यन्दिता' चारी कहा जाता है। जब पहले पैरों को धीरे-धीरे संचालित किया जाता हैं और तदनन्तर शीघ्रता से पैरों का उत्सर्पण दोनों पादों को हिलाते हुए आगे की ओर संचालित किया जाय और उसी समय उद्वेषित एवं अपविद्ध हस्त की क्रिया भी की जाय तो 'मत्तलीचारी' कहा जाता है। इसी प्रकार यदि दायें पैर को पीछे की ओर और बायें पैर को इस प्रकार

---

१. भरतार्णव ८।४९८–५२६।

रखा जाय कि मानों वह पीछे की ओर जाने को प्रयत्नशील है तो उसे 'अध्यर्धिका' चारी कहते हैं। इसी प्रकार जब पहले पादों को धीरे-धीरे संचालित किया जाय तदनन्तर आगे की ओर एक सीमित पद रखा जाय तो उसे 'एड़काक्रीडिता' चारी कहा जाता है[1]। इस प्रकार भरतार्णव के अनुसार सोलह भूचारियों का लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में चारियों के साथ प्रयुक्त की जाने वाली हस्तमुद्राओं का भी उल्लेख किया है। भरतार्णव के अनुसार दोलाहस्त, त्रिपताका-हस्त, अर्धचन्द्र, हंसपक्ष, अर्धपताका, कर्त्तरीमुख, रेचित, अर्धरेचित, मुष्टिहस्त, शिखर, वैष्णव, नलिनीपद्मकोश, सिंहहस्त, कपित्थहस्त, और आविद्धवक्त्र ये पन्द्रह हस्तमुद्राएँ हैं।[2] जिनका प्रयोग नृत्य में चारी के साथ किया जाता है। नाटचशास्त्र, संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के चारीयुत हस्तमुद्राओं का पृथक् से वर्णन नहीं मिलता। भरतार्णव के अनुसार नृत्य में पादप्रचार (चारी) के साथ हस्तप्रचार का भी प्रयोग होता है। इस प्रकार चारियों के प्रयोग में कभी हस्तप्रचार की प्रधानता रहती है, कभी पादप्रचार की और कभी दोनों की प्रधानता रहती है। किन्तु जहाँ पादप्रचार की प्रधानता हो वह हाथ उसका अनुसरण करे, जहां हस्तप्रचार की प्रधानता हो वहाँ पाद उसका अनुसरण करे और जहां पर दोनों की प्रधानता हो वहाँ दोनों का समानरूप से प्रयोग करना चाहिए। नाटचशास्त्र के अनुसार जिस ओर पादप्रचार हो उसी ओर हस्त का भी प्रयोग होना चाहिए और जिस ओर हस्तप्रचार हो उसी ओर कटिप्रदेश का प्रयोग होना चाहिए।[3] इस प्रकार पाद की गति को समझकर तदनुसार चारी में अन्य अङ्गों का प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार चारी में पैर जा जाकर भूमि पर अवस्थित होता है उसी प्रकार हाथ भी अपनी क्रियाओं को कर करके कटि पर अवस्थित होता है। इस प्रकार चारी में पाद एवं हस्त के साथ कटि का प्रयोग भी आवश्यक बताया गया है। चारियों का प्रयोग विशेष रूप से नाटच एवं नृत्य में होता है किन्तु युद्ध, अस्त्रप्रहार तथा ललित आंगिक चेष्टाओं के प्रसंग में चारी का प्रयोग होता है। इस प्रकार नाटच एवं नृत्य में चारी के प्रयोग का सर्वाधिक महत्त्व है।

मण्डल:—

नाटचशास्त्र के अनुसार कई चारियों के संयोग से मण्डल की निष्पत्ति होती है।[4] अभिनयदर्पण में पादाभिनय के अन्तर्गत 'मण्डल' नामक एक पादभेद

१. भरतार्णव ८।५२७–५४३। २. वही ८।५२१–५२६।

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १०।४८; संगीतरत्नाकर ४-९६७–९६८.

४. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ११।१।

स्वीकार किया गया है। वहाँ दश प्रकार के मण्डल बताये गये हैं—स्थानक, आयत, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, प्रेङ्खण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची तथा पार्श्वसूची।[1] यदि दोनों पैरों की समानान्तर रेखा में अवस्थित करके दोनों हाथों को अर्धचन्द्र मुद्रा में कटि पर रखना 'स्थानक' मण्डल कहलाता है। यदि दोनों पैरों को चौकोर स्थिति में एक बालिश्त के अन्तर पर अवस्थित कर तथा दोनों घुटनों को तिरछा करके मोड़ दिया जाय तो 'आयत' पाद कहते हैं। यदि वाम कर में शिखर मुद्रा और दक्षिण कर में कटकामुख मुद्रा में धारण कर दक्षिण पाद को और वाम पाद को पीछे तीन बालिश्त के अन्तर पर अवस्थित करना 'आलीढ़' पाद कहा जाता है। यदि आलीढ़ पाद की मुद्रा को विपरीत क्रम में बदल दिया जाय तो 'प्रत्यालीढ़' मण्डल कहा जाता है। एक पैर को दूसरे पैर की एड़ी पास अवस्थित कर हाथों में कूर्महस्त मुद्रा धारण करना 'प्रेङ्खण' पाद कहा जाता है। यदि एक पाद को भूमि पर ताड़ित कर दूसरे पैर से तीन बालिश्त की दूरी पर अवस्थित कर दोनों जंघाओं को तिरछा करके झुका दिया जाय और एक हाथ को शिखर मुद्रा में वक्षःस्थल पर तथा दूसरा पताकाहस्त की मुद्रा में आगे बढ़ा दिया जाय तो 'प्रेरित' पाद कहा जाता है। यदि हाथों एवं पैरों को एक दूसरे के आर-पार करके रखा जाय तो 'स्वस्तिक' पाद कहा जाता है। जब दोनों पैरों को पंजे के बल खड़ा होकर बारी-बारी से एक-एक घुटना झुकाकर भूमि का स्पर्श किया जाय और दोनों हाथों में त्रिपाताका मुद्रा धारण किया जाय तो उसे 'मोटित' पाद कहेंगे। यदि दोनों पैरों के पंजों एवं घुटनों द्वारा भूमि का स्पर्श किया जाय तो 'समसूची' पाद कहा जाता है। इसी प्रकार यदि दोनों पैरों के पंजे से बैठकर एक पैर के घुटने को झुकाकर पार्श्वभूमि का स्पर्श किया जाय तो 'पार्श्वसूची' पाद कहा जाता है।[2] नाटचशास्त्र में दस भूमि का और दस आकाशीय मण्डलों का वर्णन है।[3] जिनका प्रयोग युद्ध आदि के अभिनय में किया जाता है।

उत्प्लवन—

उछल कर किये जाने वाले नृत्य को 'उत्प्लवन' कहते हैं। अभिनयदर्पण में पादभेदों के अन्तर्गत 'उत्प्लवन' पादभेद का निरूपण किया गया है। जिसके पाँच भेद होते हैं—अलग, कर्त्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग।[4] दोनों हाथों में शिखरमुद्रा धारण करके उन्हें कटि पर स्थित कर दोनों पाद से उछलने की मुद्रा प्रस्तुत करना 'अलग' उत्प्लवन कहा जाता है। दोनों पैरों से उछलते समय वाम

१. अभिनयदर्पण, २६०–२६१।
२. वहीं, २६२–२७३।
३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), अध्याय ११।
४. अभिनयदर्पण, २८२–२८३।

पाद के पीछे कर्त्तरी हस्तमुद्रा और दक्षिण पाद के पीछे शिखर हस्तमुद्रा धारण करना 'कर्त्तरी' उत्प्लवन कहलाता हैं। दोनों पैरों से उछलकर पुनः दोनों को एक साथ भूमि पर अवस्थित करना तथा दोनों हाथों में त्रिपताका मुद्रा धारण करना 'अश्व' उत्प्लवन है। इसी प्रकार दोनों हाथों में कर्त्तरी मुद्रा धारण कर कर्त्तरी उत्प्लवन के समान बारी-बारी दोनों पार्श्वों से उछलना 'मोटित' उत्प्लवन कहा जाता है। दोनों पैरों की एड़ियों को क्रमशः कटि पर रखकर साथ ही दोनों के मध्य में दोनों हाथों में 'अर्धचन्द्र' मुद्रा धारण करना 'कृपालग' उत्प्लवन कहा जाता है[1]।

भ्रमरी—

घूमती हुई चक्करदार गति से नृत्य करना 'भ्रमरी' कहलाती है। इसमें नर्तक नृत्य करते हुए अपने स्थान पर चक्राकार घूमता है। अभिनयदर्पण में भ्रमरी के सात प्रकार बताये हैं—उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एकपाद, कुंचित, आकाश और अंग।[2] घूम घूमकर उछलना 'उत्प्लुत' भ्रमरी कहा जाता है। दोनों हाथों में त्रिपताका मुद्रा धारण कर दोनों पैरों से भूमि पर चक्र के समान घूमना 'चक्रभ्रमरी' है। यदि एक पैर को दूसरे पैर पर आर-पार करके एक घुटने को पृथ्वी पर अवस्थित कर दोनों हाथों को पूरा फैलाकर वेग से घुमाया जाय तो 'गरुड़' भ्रमरी कहते हैं। एक पैर के बल खड़े होकर चक्राकार घूमना 'एकपाद' भ्रमरी है। घुटने झुकाकर शरीर को चारों ओर घुमाना 'कुंचित' भ्रमरी कहा जाता है। दोनों पैरों को चौड़ा फैलाकर उछलकर सम्पूर्ण शरीर को घुमाना 'आकाशभ्रमरी' है। दोनों पैरों को एक बालिश्त के अन्तर पर रखकर शरीर को घुमाकर पूर्वावस्था में स्थिर होना 'अंगभ्रमरी' कहा जाता है।[3] नृत्य में भ्रमरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गतिप्रचार—

नाटच एवं नृत्य में पात्रों द्वारा विभिन्न प्रकार की गतियों का कलात्मक ढंग से प्रयोग किया जाता है। अभिनयदर्पण में दस प्रकार की गतियों का उल्लेख है जिनके नाम हैं—हंसी, मयूरी, मृगी, गजलीला, तुरंगिणी, सिंही, भुजंगी, मंडूकी, वीरा और मानवी।[4] नाटचशास्त्र के अनुसार पात्र जब रंगमंच पर प्रवेश करता है तो वह वहां कलात्मक ढंग से नानाविध गतियों (चालों) से चलता है। अंग-संचालन की क्रिया को गति कहते हैं। गति दो प्रकार की होती है—चलित और स्थित। जब नर्तक रंगमंच पर अपने स्थान को छोड़कर किसी

१. वही, २८४–२८८।
२. वही, २९०–२९१।
३. अभिनयदर्पण २९२–२९७।
४. वही ३०९–३१०।

भी दिशा में चलता हुआ नृत्य करता है तो वह 'चलित गति' कहा जाता है और जब अपने स्थान पर स्थित रह अंग संचालन करता है तो 'स्थित गति' कहलाता है। इसमें नर्तक तो अपने स्थान पर स्थिर रहता है किन्तु उसके अङ्ग नृत्य करते रहते हैं।

करण—

सभी अंगहारों की निष्पत्ति करणों से होती है अतः अंगहारों के पूर्व करणों का ज्ञान होना आवश्यक है। नृत्य में हस्त एवं पादों की गतियों को 'करण' कहा गया है[1]। नाटचशास्त्र में एक सौ आठ प्रकार के करणों का उल्लेख है।[2] इनमें हस्तपादादि का संचालन, शिरःसंचालन, सोद्देश्य दृष्टिपात आदि का संयोजन होता है। करणों में प्रायः बायां हाथ वक्षःस्थल पर दांया हाथ चरणों की स्थिति के अनुसार प्रयुक्त किया जाता जाता है। स्थानक, चारी एवं नृत्त हस्त जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है, ये मातृकाएँ होती हैं। इनके संयोजन से 'करण' बनते हैं।[3] इन करणों का उपयोग विशेष रूप से नृत्य के अभ्यास में किया जाता है किन्तु कभी कभी नाटच के मध्य बचे हुए समय की पूर्त्ति के लिए भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त युद्ध, बाहुयुद्ध तथा नृत्यसौष्ठव के लिए भी करणों का प्रयोग होता है।[4] इनकी क्रियान्विति का दर्शन 'चिदम्बरम्' एवं 'तंजोर' के मन्दिरों की मूर्त्तिकलाओं में किये जा सकते हैं। चिदम्बरम् के मन्दिर में नटराज मन्दिर के पूर्व और पश्चिम के गोपुरों पर चट्टानों को काटकर 'करण' बनाये गये हैं। प्रत्येक चित्र में नीचे नाटचशास्त्र के तत्सम्बन्धी श्लोक भी दिये गये हैं। इसी प्रकार तंजोर के मन्दिर में एक दूसरी कृति है······इसकी ड्योढ़ी में चारों ओर करणों की स्थितियां खोदी गयी हैं जो संख्या में लगभग इक्यासी हैं। इनके अतिरिक्त सत्ताइस करण और भी हैं परन्तु वे अपने रूप में उत्कीर्ण नहीं हैं। इन स्थितियों में प्रत्येक के चार हाथ हैं जो शिव के नृत्य को सूचित करते हैं। प्रत्येक स्थिति लगभग तीन फुट की है। नाटच के वर्णन में ये चिदम्बरम् के मन्दिर से भी बढ़कर हैं।[5] इन करणों का विस्तृत विवेचन अभिनव-भारती में किया गया है जिसके आधार पर शार्ंगदेव ने संगीतरत्नाकर में करणों का विवेचन किया है। करण दो अवस्थाओं में गुजरते हैं—चलित और स्थित। इनमें 'चलित' करणों में चारियों का प्रयोग होता है। इनमें शरीर के अङ्गों के

---

१. सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः।
हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्॥ (नाटचशास्त्र ४।२९-३०)

२. नाटचशास्त्र (चौखम्बा) ४।३४–५५। ३. वही ५७–६०।

४. अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ ९४।

५. भारतीय साहित्य (संगीत परम्परा और भरतार्णव), पृष्ठ ७२।

अंगों की विभिन्न चेष्टाएँ होती रहती हैं और 'स्थित' करणों में स्थानकों का प्रयोग होता है जिनमें नर्त्तक एक स्थान पर स्थित रहते हुए विविध करणों का प्रयोग करता है। शिव ने इन करणों का उपदेश नन्दिकेश्वर को दिया था और नन्दिकेश्वर ने ताण्डव नृत्त में उनका संयोजन किया था।

अंगहार—

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में अंगहारों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। अंगहारों की प्रयोगविधि शिव ने तण्डु (नन्दिकेश्वर) को बताई थी और नन्दिकेश्वर ने भरत को सिखाया था। नाटचशास्त्र में बताया गया है कि समस्त अंगहारों की निष्पत्ति करणों के द्वारा होती है। नृत्यों में हस्त एवं पाद की स्थितियों को कारण कहा गया है। छः, सात, आठ तथा नौ करणों के मेल से अंगहार बनते हैं[1]। नृत्य करते समय अंगहारों के तरह-तरह के प्रयोग होते हैं। एक अंगहार में कई कारण होते हैं अतः हाथ, पैर और कटि आदि के बहुत से संचालन मिलकर एक अंगहार बनते हैं। अभिवगुप्त के अनुसार अंगों का समुचित संचालन 'अंगहार' कहलाता है। भरतार्णव में चित्र-विचित्र ताल, लय एवं करणों के संयोग से अंगहारों की निष्पत्ति बनाई गई है[2]। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में अंगहारों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विद्वानों के मत में प्रातःकालीन कार्यक्रम में किये जानेवाले नृत्य को अंगहार कहा जाता है[3]। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि अभिनय के एक भाग की समाप्ति के पश्चात् हाव-भाव युक्त मुद्राओं में किये जाने वाले नर्तन (नृतिक्रम) को अंगहार कहते हैं[4]। भरतार्णव में नौ प्रकार के अंगहारों का वर्णन है। इनमें प्रत्येक अंगहार का सम्बन्ध रस से जोड़ा गया है और ये अंगहार सौन्दर्यशास्त्र से भी सम्बद्ध है। भरतार्णव में जो नौ अंगहार दिखाये गये हैं। वस्तुतः ये और भी विशेष हो सकते हैं। नाटचशास्त्र आदि ग्रन्थों में

---

१. सर्वेषामंगहाराणां निष्पत्तिः करणेर्यतः। (नाटचशास्त्र ४।२९)
षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा।
करणैरिह संयुक्ता अंगहाराः प्रकीर्त्तिताः॥ (नाटचशास्त्र ४।३३)

२. आश्चर्यशब्दवचनैस्तत्तत्ताललयोद्यतैः।
करणानां मेलनं स्यादंगहारनृतिक्रमः॥ (भरतार्णव ९।५७९)

३. वदन्ति केचिद्विबुधा भरतार्णवविचक्षणाः।
प्रातर्नृत्तप्रकटनैरंगहारो विधीयते॥ (भरतार्णव ९।५८०)

४. एवं वदन्ति चापरे तयोरुत्पत्तिरिष्यते।
अर्थाभिनयमार्गेण संभूतो यो नृतिक्रमः॥ (भरतार्णव ९।५८१)

बत्तीस प्रकार के अंगहार बताये गये हैं[१]। तालों की विशिष्ट गतियों के आधार पर उनको दो वर्गों में विभाजित किया जाता है, चाहे उनमें तीन पाद-प्रचार हो अथवा चार। प्रत्येक वर्ग में सोलह अंगहार होते हैं। इस प्रकार कुल बत्तीस अंगहार होते हैं। इनमें सोलह त्र्यस्र तालों को तीन प्रकार के लय के ठेकों के साथ निष्पादित किया गया है और चतुरस्र तालों को चार प्रकार की लय की ठेकों सहित निष्पादित किया गया है। प्रत्येक अंगहार तथा नृत्य के चालन को निरन्तर क्रियाशील रखने वाली एवं स्थिति को प्रदर्शित करने वाली जो-जो वर्ण्य तालें हैं वे नाटयशास्त्र एवं अन्य प्राचीन पुस्तकों में प्राप्त नहीं होती, किन्तु वे एक हस्तलेख में सुरक्षित प्राप्त होती हैं जो कि सरस्वती महल, तंजौर में है। उसका नाम 'सङ्गीत-मुक्तावली' है और उसके लेखक आचार्य देवेन्द्र हैं। परन्तु जो अंगहार भरतार्णव में दृष्टिगोचर होते हैं वे इनसे पूर्णतया भिन्न हैं। भरतार्णव में वर्णित अंगहारों में विशिष्ट हाव-भावों का प्रदर्शन तथा प्रत्येक रूप का अपना सोद्देश्य प्रयोग अन्तर्निहित है। इन अंगहारों का नामकरण भी एक निश्चित वर्ण्यविषय तथा वर्ण्य रस के आधार पर किया गया है।

भरतार्णव में ललित, विक्रम, कारुणिक, विचित्र, विकल, भीम, विकृत, उग्रतर और शान्तज ये नौ प्रकार के अंगहार बताये गये हैं[२]। ये क्रमशः शृंगार, वीर करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्तरस को सूचित करते हैं। ये अंगहार विशुद्ध नृत्य के समाप्ति-भाग होते हैं जो कि मूलतः शिव एवं पार्वती के नृत्य के नियत भाग हैं। विशुद्ध नृत्य में हाथ की मुद्राओं का सामान्मतः निश्चित महत्त्व नहीं होता जैसा कि अभिनय अथवा भावों के प्रदर्शन में होता है। वे केवल नृत्य की शोभा की बृद्धि में सहायक होते हैं। किन्तु प्रत्येक अंगहार में अपना एक संवेगात्मक तत्त्व होता है अतः अंगहारों का विभिन्न रूप में उपर्युक्त वर्गीकरण सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है। नाटयशास्त्र एवं परवर्ती ग्रन्थों में जो बत्तीस प्रकार के अङ्गहार बताये गये हैं वे उतने सरल सहज नहीं हैं जितने कि भरतार्णव में प्रस्तुत नौ की संख्या में वर्गीकृत अङ्गहार। उन बत्तीस अङ्गहारों में सौन्दर्यशास्त्र विषयक तत्व को ढूढने का यदि प्रयत्न किया जाय

---

१. 'संगीत मुक्तावली' नामक दो हस्तलेख एक ही लेखक के प्राप्त हुए हैं। इनमें प्रथम तो ताड़पत्र पर लिखित है, जो विषय की सैद्धान्तिक रीतियों का प्रतिपान करता है। दूसरा सामान्य कागज पर लिखित है जो सिद्धान्त की अपेक्षा प्रयोगात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। यह ताल और अंगहार विषय पर एकमात्र पुस्तक है।

(भारतीय साहित्य (संगीत परम्परा और भारतार्ण) पृष्ठ ७२ से उद्धृत)

२. भरतार्णव ९।५४४–५४८।

तो यहां प्रस्तुत किये गये अङ्गहारों के नौ प्रकार उस प्रयत्न की दिशा में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अङ्गहार शब्द जो कि नाटचशास्त्र एवं अन्य पुस्तकों में प्रयुक्त हैं वह एक पारिभाषिक सीमा है, जिसमें नृत्य की आठ, नौ, दश और अधिक इकाईयों तथा परमशिव द्वारा नृत्य में परीक्षित एकसौ आठ करणों का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक करणों में स्थितियों का मिश्रण हस्तपादादि का संचालन, शिर का संचालन और सोद्देश्य दृष्टिपात का संयोजन होता है। नृत्य के अभ्यास में करणों की आवश्यकता अनिवार्य है। इनमें तंजौर प्रदेश में चिदम्बर में विद्यमान मन्दिरों की कला प्रसिद्ध है[1]।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटचशास्त्र एवं अन्य पुस्तकों में निर्दिष्ट बत्तीस अङ्गहार शिव की देन हैं और भरतार्णव में वर्णित अङ्गहार पार्वती की देन हैं। किन्तु कुछ विद्वान् भरतार्णव में वर्णित अङ्गहारों को भी शिव की देन मानते हैं। वस्तुतः भरतार्णव का अङ्गहार वर्णन रसपरक है। नाटच में जो नौ रस बताये गये हैं उन्हीं को दृष्टि में रखकर इन नौ अङ्गहारों का विवेचन किया गया है और इसे नृत्य का रूप माना गया है। नाटचशास्त्र का अङ्गहार किसी और उद्देश्य से किया गया प्रतीत होता है।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नन्दिकेश्वर के मतानुसार 'रेचित' नामक अङ्गहार का उल्लेख है। रेचित नामक अङ्गहारों के प्रयोग से सभी उक्त आधारों के अनन्त प्रकारों का अभिनय होता है जैसा कि नन्दिकेश्वर ने कहा है कि 'रेचित नामक जो अङ्गहार हैं उनके प्रयोग से देवगण प्रसन्न होते हैं अतः ताण्डव में उनकी योजना करनी चाहिए[2]। उपर्युक्त कथन के आधार पर ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने उक्त नौ अङ्गहारों के अतिरिक्त अन्य अङ्गहारों का भी विवेचन किया होगा जिनमें 'रेचित' नामक अङ्गहार भी एक रहा होगा

१. 'चिदम्बरम्' के मन्दिर में नटराज मन्दिर के पूर्व और पश्चिम के गोपुरों पर चट्टानों को काटकर 'करण' बनाये गये हैं। प्रत्येक चित्र के नीचे नाटचशास्त्र के तत्सम्बन्धी श्लोक भी दिये गये हैं। इसी प्रकार तन्जौर के मन्दिर में एक दूसरी कृति है।······ इसकी डचोढ़ी में चारों ओर करण खोदे गये है जिनकी संख्या लगभग इक्यासी है। इसके अतिरिक्त सत्ताइस करण और भी हैं किन्तु अपने रूप में उत्कीर्ण नहीं हैं। इन स्थितियों में प्रत्येक के चार हाथ हैं जो शिव के नृत्य को सूचित करते हैं। प्रत्येक स्थिति लगभग नौ फुट की है। नाटच के वर्णन में ये चिदम्बरम् के मन्दिर से भी बढ़कर है। (भारतीय साहित्य संगीत परम्परा और भरतार्णव पृ० ७२)

२. रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत् ॥
(अभिनव भारती, भाग १, पृष्ठ १६९)

जिसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में किया है। किन्तु नन्दिकेश्वर के वे अन्य अङ्गहार कौन-कौन थे इस सम्बन्ध में अन्यत्र कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु नाटचशास्त्र के प्रसंगों से ज्ञात होता है कि भरत को अङ्गहारों का उपदेष्टा नन्दिकेश्वर ही था। अतः भरत द्वारा प्रतिपादित अङ्गहार नन्दिकेश्वर-सम्मत अङ्गहार ही होंगे। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मत में अन्य अङ्गहारों का होना सम्भव है।

श्रृंगनाटच—

भरतार्णव में बताया गया है कि द्विविध चारी, अङ्गहार और स्थानकों के संयोग से जो नृत्य प्रस्तुत किया जाता है उसे 'श्रृंगनाटच' कहते हैं[१]। कहा जाता है कि किसी समय वसन्त ऋतु में भगवान् शंकर ने मनोरम उद्यानों से सुशोभित कैलाश पर्वत के शृंग (शिखर) पर पार्वती की प्रार्थना पर ताल के बोलों एवं स्थानकों के साथ नृत्य किया था[२], इस कारण उसे 'श्रृंगनाटच' कहा गया है। इस नाटच में प्रारम्भ में आकाशचारी की ओर अन्त में भूचारी की योजना होती है। मध्य में अङ्गहारों का प्रयोग होता है। इस प्रकार अङ्गहारों की संख्या के अनुसार इसके भी नौ प्रकार होते हैं। इन नौ श्रृंगनाटचों में प्रथम श्रृंगनाटच में तुरंगलील, कन्दर्प और त्रिभिन्न नामक तालों का कलात्मक बोलों के द्वारा क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। द्वितीय श्रृंगनाटच से उसी प्रकार कलात्मक शब्दों के द्वारा प्रतिताल तथा रंगताल का क्रमशः प्रयोग करे। तृतीय श्रृंगनाटच में उसी प्रकार विन्दुमाली, नन्दन और क्रीड़ातालों का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य शृंगनाटचों में भी तालों का यथाक्रम सन्नियोजन कर नर्तन करना चाहिए[३]। नन्दिकेश्वर ने श्रृंगनाटच में प्रयुक्त होने वाले स्थानकों का वर्णन इस प्रकार किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार आयतादि सप्त स्थानकों की उत्पत्ति सप्त मातृकाओं[४] द्वारा मानी गई है। वैष्णव और समपाद स्थानक विष्णु द्वारा निर्मित हैं। वैशाख और मण्डल नामक स्थानकों की उत्पत्ति विशाख के द्वारा हुई है। आलीढ़ और प्रत्यालीढ़ दोनों भृंगी (शिव का गण) द्वारा रचित हैं। स्वस्तिक, वर्धमानक और नन्द्यावर्त ये तीन स्थानक नन्दिकेश्वर के द्वारा निर्मित हैं। चतुरस्र और पार्ष्णिपीड़ इन दोनों की उत्पत्ति नारद द्वारा

१. चारीद्वयैरंगहारैः स्थानकानां तु मेलनात् ।
शृङ्गनाटचमिदं सर्वे वदन्ति सुमते बुधाः ॥ (भरतार्णव ११।६३७)

२. भरतार्णव ११।६६२–६६७ । ३. भरतार्णव ११।६७४ ।

४. ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा ये सात मातृकाएँ हैं ।

हुई है। समपाद स्थानक तुम्बुरु द्वारा निर्मित है। एक-एक पार्श्व, एकजानु और परिवृत्तक ये तीन स्थानक सूर्य द्वारा रचित हैं। पृष्ठोत्तानताल और एक-पाद ये दोनों स्थानक चन्द्रमा के द्वारा निर्मित हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा के द्वारा निर्मित ब्रह्मा, विष्णु के द्वारा निर्मित वैष्णव, शिव के द्वारा रचित शैव और गरुड़ के द्वारा निर्मित गारुड़ स्थानक हैं। इसी प्रकार समसूची तथा कूर्मासन की उत्पत्ति शास्ता, विषमसूची की उत्पत्ति कुबेर और खण्डसूची की उत्पत्ति कैलाशगिरि के द्वारा हुई है। शिव ने उन सबको उसी प्रकार स्वीकार कर लिया है। गारुड़ स्थानक को छोड़कर शेष सभी स्थान सप्तलास्यों में प्रयुक्त होते हैं। गारुड़ नामक स्थानक तो केवल शृंगनाटच में प्रयुक्त होता है[1]। नन्दिकेश्वर ने नौ शृंगनाटचों में चारी, अङ्गहार एवं स्थानकों के संयोजन की विधि निम्न प्रकार बताई है।

प्रथम शृंगनाटच में पहले समप्रेङ्खणचारी में 'आयत' स्थानक का प्रयोग होता है, पश्चात् प्रथम ललित अंगहार में 'अवहित्थ' स्थानक तथा अन्त में समपाद नामक भूचारी में अश्वक्रान्त नामक स्थानक का प्रयोग होता है। इसी प्रकार द्वितीय शृंगनाटच में पहले सारिकाचारी में मोटित स्थानक, तत्पश्चात् प्रथम विक्रम अंगहार में विनिवृत्त स्थानक और अन्त में चाषगति चारी में 'ऐन्द्र' स्थानक का प्रयोग होता है। तृतीय शृंगनाटच में अग्रप्लुता चारी में चाण्डिक स्थानक तदनन्तर कारुणिक अंगहार में वैष्णव स्थानक तथा अन्त में स्थितावर्ता भूचारी में समपाद स्थानक प्रयुक्त होता है। चतुर्थ शृंगनाटच में विद्युल्लीला चारी में वैशाख स्थानक तदनन्तर प्रथम विचित्र अंगहार में मण्डल स्थानक और अन्त में विच्यवा भूचारी में 'आलीढ़' स्थानक का प्रयोग होता है। पंचम शृंग-नाटच में पहले खड्गबन्ध चारी में प्रत्यालीढ़ स्थानक तत्पश्चात् मध्य में प्रथम विकल अंगहार में साम्यपाद स्थानक और ऊरूद्वृत्त नामक भूचारी में स्वस्तिक स्थानक प्रयुक्त होता है। षष्ठ शृंगनाटच में पहले रेखाबन्ध चारी में वर्धमान स्थानक, प्रथम भीम अंगहार में नन्दीय स्थानक और अन्त में अड्डित भूचारी में पार्ष्णिपीड़ नामक स्थानक का प्रयोग किया जाता है। सप्तम शृंगनाटच में पहले लुठितोल्ललिता चारी में एकपार्श्व स्थानक, विकृत (प्रथम) अंगहार में एक जानुक स्थानक और अन्त में वक्रबन्ध भूचारी में परिवृत्त स्थानक का प्रयोग होता है। अष्टम शृंगनाटच में पहले कुण्डलावर्त्तक चारी में पृष्ठोत्तानतल नामक स्थानक और अन्त में 'जनिता' भूचारी में 'ब्राह्म' स्थानक का प्रयोग होता है। इसी प्रकार नवम शृंगनाटच में विचित्र नामक आकाशचारी में वैष्णव स्थानक तत्पश्चात् शांतज (प्रथम) अंगहार में शैव स्थानक और अन्त में

१. भरतार्णव ११।६७६–६८६।

उत्स्यन्दिता भूचारी में 'गारुड़' स्थानक का प्रयोग होता है।[1] इस प्रकार इन शृङ्गनाटचों का सम्बन्ध आकाशचारी, भूचारी एवं अंगहारों से जोड़ा गया है। अंगहारों का नामकरण एवं संख्या निर्धारण रसों के आधार पर किया गया है। तदनुसार रसों के आधार पर ही नवविध शृंगनाटचों की भी परिकल्पना की गई है। इस प्रकार ये शृंगनाटच शिव की देन हैं और अंगहारों को दृष्टि में रखकर ही इनका विवेचन किया गया है।

सप्तलास्य

नाटचशास्त्र में दो प्रकार के नृत्यों का वर्णन किया गया है—ताण्डव और लास्य। ताण्डव का सम्बन्ध शिव से और लास्य का सम्बन्ध पार्वती से है। ताण्डव और लास्य की उद्भावना में शिव और पार्वती दोनों का योगदान रहा है। नाटचशास्त्र में तण्डु द्वारा उपदिष्ट पुरुष-प्रयोज्य उद्धत नृत्य को 'ताण्डव' नृत्त कहा गया है तथा पार्वती द्वारा उपदिष्ट स्त्रीप्रयोज्य सुकुमार नृत्य को 'लास्य' कहा गया है। 'ताण्डव' नृत्त वीररस प्रधान होता है और 'लास्य' में शृंगार रस की प्रधानता रहती है। ताण्डव नृत्य पुरुषों के लिए अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंगहारों का प्रदर्शन होता है जो स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर असौन्दर्य प्रकट करते है। 'लास्य' नृत्य कोमलता का प्रतीक है अतः उसका प्रयोग स्त्रियों के द्वारा होने पर ही लोक-रंजन करता है। वैसे ये दोनों नृत्य स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा किये जा सकते हैं। ताण्डव नृत्य में विराट् शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रदर्शन होता है। अतएव इसमें अंगसंचालन कठोर और आवेशपूर्ण होता है। इसमें पदाधात काफी शक्तिशाली होते हैं। शक्ति और तल्लीनता के साथ हस्तपाद का संचालन उसके विशेष गुण हैं। ताल और लय उसके प्राण है। शिव ने इस नृत्त का प्रथम उपदेश तण्डु को दिया और तण्डु ने भरत को शिक्षा दी, तत्पश्चात यह नृत्त मनुष्यों में प्रचलित हुआ। 'लास्य' नृत्य में सुकुमार भावों का प्रदर्शन होता है अतः इसमें अंगसंचालन कोमल एवं रंजक होता है। पार्वती ने इस नृत्य की शिक्षा बाणासुर की पुत्री उषा को दी थी, उषा ने गोपियों को सिखाया, गोपियों से सौराष्ट्र की स्त्रियों ने सीखा और वहां से समस्त भूमण्डल में प्रसारित हुआ।[2] श्रीकृष्ण ने इसे 'रास' रूप दिया जिससे अनेक प्रकार के नृत्यों का जन्म हुआ। 'रास' को 'हल्लीसक' भी कहते हैं। नाट्यशास्त्र में दस प्रकार के लास्यों का उल्लेख है—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिमूढक, सैन्धव, द्विमूढ़क, उत्तमोत्तक और उक्त-

---

१. भरतार्णव, एकादश अध्याय। २. अभिनयदर्पण, ५-७।

प्रयुक्त।[1] इसके अतिरिक्त भरत ने नाट्यशास्त्र में 'भावित' और 'विचित्रपद' नामक दो लास्यांगों का और उल्लेख किया है। लास्य के ये समस्त प्रकार स्त्री-प्रयोज्य ही माने जाते हैं क्योंकि इनमें कोमल भावों का प्रदर्शन होता है।

संगीतरत्नाकर में ताण्डव और लास्य दोनों प्रकार के नृत्तों के तीन-तीन प्रकार बताये गये हैं—विषम, विकट और लघु। इनमें भालों, छुरियों एवं बाणों के मध्य रस्सी से परिभ्रमण करना 'विषम' नृत्त है। रंग-विरंगी विकृत वेश-भूषा के साथ नृत्य करना 'विकट' नृत्त कहा जाता है और अल्प साधन का अवलम्बन कर उछल-उछल कर नृत्य करना 'लघु' नृत्त कहलाता है।[2] इनके अतिरिक्त ताण्डव और लास्य के अन्य प्रकार भी मिलते हैं। तदनुसार ताण्डव के दो भेद हैं—'पेलवि' और 'बहुरूपक'। इनमें अंगसंचालन को 'पेलवि' और छेद भेदादि विविध भावों से सम्पन्न अभिनय 'बहुरूपक' कहलाता है। इसी प्रकार लास्य के भी दो भेद होते हैं—'छुरित' और 'यौवत'। इनमें नाना भावों को प्रदर्शित करते हुए नायक-नायिका का परस्पर आलिंगनादिपूर्वक नृत्य करना 'छुरित तथा अकेली नायिका का नृत्य 'यौवत' कहलाता है।[3] किन्तु भरतार्णव में जो ताण्डव एव लास्य वर्णन दृष्टिगोचर होता है वह इनसे पूर्णतया भिन्न है। भरतार्णव में 'ताण्डव' और 'लास्य' शब्द का प्रयोग पुरुष और स्त्री के मिले जुले नृत्य के लिए किया गया प्रतीत होता है। वहाँ नृत्य के रूपों का सात के समूह के रूप में वर्णन किया गया है जिसे 'सप्तलास्य' कहते हैं। वे सात की संख्या में निर्दिष्ट हैं—शुद्धनाट्य, देशीनाट्य, प्रेरणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली दण्डिक और कलश।[4]

ताण्डव

भरतार्णव में ताण्डव के मुख्यतः दो प्रकार बताये गये हैं—शुद्धनाट्य एवं देशीनाट्य। इनमें शुद्धनाट्य के अन्तर्गत सात प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं। उनके नाम हैं—दक्षिणभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजंगभ्रमण, विद्युत्-भ्रमण, लताभ्रमण और ऊर्ध्व-ताण्डव।[5] ये सात शुद्ध ताण्डव कहे जाते हैं।

---

१. लास्यं दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशलक्षणम्। नाट्यशास्त्र (काव्यमाला) १८।१८२–१९३।

२. विषमं विकटं लघ्वित्येतद्भेदत्रयं विदुः। संगीतरत्नाकर ४।३१।

३. नर्तननिर्णय।

४. भरतार्णव, १३।७३०।

५. दक्षिणभ्रमणं पूर्वं वामस्य भ्रमणं पुनः।
लीलाभ्रमणमेव स्यात् भुजंगभ्रमणं ततः॥
विद्युद्भ्रमणमेव स्याल्लताभ्रमणमेव च।
ऊर्ध्वताण्डवमित्याहुः सप्तधा ताण्डवक्रमः॥ (भरतार्णव, १३।७०९-७१०)

इनमें से प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। चाल चलने का ढंग और खड़े होने की स्थिति का संयोग 'गति' है। भरतार्णव में शुद्धनाट्य के लिए छः प्रकार की गतियों का निर्देश है। मयूरगति, राजहंसगति, कृष्णसारगति, गजगति, सिंहगति और शुकगति ये छः प्रकार की गतियां हैं।[1] इनमें 'दक्षिणभ्रमण' नामक ताण्डव तीन गतियों से मिश्रित होता है। शेष ताण्डवों में दो ताण्डवों के मध्य एक गति होती है। इस प्रकार छः ताण्डवों के मध्य तीन गतियां होती हैं। गतियों के अन्त में करणों का प्रयोग होता है। हस्तपाद की संचालन क्रिया के संयोग को 'करण' कहते हैं। करणों के अन्त में चारी का प्रयोग होता है। भरतार्णव में मयूरललित, हरिणप्लुत, गंगावतरण, करिहस्त, सिंहविक्रीडित और कीरभूषण— ये छः प्रकार के करण और करण के अन्त में प्रयुक्त होने वाले समपाद, स्थितावर्त्त, ऊरूद्वृत्त, वक्त्रवन्धक, स्यन्दिता और उत्स्यन्दिता— ये छः प्रकार के 'चारी' निर्दिष्ट हैं।[2] प्रत्येक ताण्डव ताल से युक्त होता है और प्रत्येक ताल के लिए वाद्य-नियमों का निर्देश है। दक्षिण-भ्रमण' नामक ताण्डव तीन गतियों, तीन करणों, तीन चारियों और तीन तालों से मिश्रित होता है। शेष छः शुद्ध ताण्डवों में प्रत्येक दो ताण्डवों के मध्य एक एक गति, एक करण, एक चारी और एक ताल होता है। इस प्रकार शुद्धनाट्य के सात ताण्डवों के छः गतियों, छः करण, छः चारी और छः तालों का निर्देश है।

दक्षिणभ्रमण-ताण्डव—

'दक्षिणभ्रमण' नामक ताण्डव गतित्रय, करणत्रय, चारीत्रय और तालत्रय से युक्त होता है। जब नर्तक वाम पाद पर स्थित होकर और दक्षिणपाद को मोड़कर तथा कर्तरी हस्तमुद्रा में दक्षिण भाग से भ्रमण करता है तब 'दक्षिण-

---

१. मयूरगतिरादौ स्याद्राजहंसगतिस्तथा।
कृष्णसारगतिः पश्चात् कीर्त्तिता भरतादिभिः॥
गजस्य गतिराख्याता तदनन्तरमेव च।
सिंहस्य च गतिः कार्या ताण्डवं परिकल्पितम्॥ (भरतार्णव, १३।७१२-७१३)

२. मयूरललिते चारीं समपादाभिधानकम्।
हरिणप्लुतके चारीं स्थितावर्त्तां तथोदिताम्॥
गङ्गावतरणं चारीमुरूद्वृताभिधानकाम्।
करिहस्ताख्यकरणं चारीं तां वक्त्रबन्धकाम्॥
सिंहविक्रीडितं चारीं स्यंदितेति प्रकीर्त्तिताम्।
कीरभूषणकं चारीमुत्स्यन्दितप्रकीर्त्तिताम्॥ (भरतार्णव, १३।७१८-७२०)

भ्रमण' ताण्डव कहलाता है ।[1] दक्षिणभ्रमण ताण्डव में मयूरगति का प्रयोग होता है । मयूरगति में दोनों हाथ कर्त्तरीमुद्रा में होते हैं और 'शैव' स्थानक तथा वाम पाद से सरण होता है । इसमें 'मल्लिकामोद' नामक ताल प्रयुक्त होता है । इसमें दो लघु और चार द्रुत होते हैं । मयूरगति के अन्त में मयूरललित करण[2] और समपाद चारी[3] का प्रयोग होता है । तत्पश्चात् दक्षिणभ्रण में दूसरी हंस-गति' का प्रयोग होता है । इसमें दोनों हाथ पक्षवंचित मुद्रायुक्त, समपाद, स्थानक और पीछे की ओर विषम संचरण होता है[4] । तथा 'हंसनाद' ताल प्रयुक्त होता है । इसमें क्रमशः एक लघु, एक प्लुत, दो द्रुत तथा अन्त में एक प्लुत होता है । हंसगति के अन्त में 'हरिणप्लुत' करण[5] और 'स्थितावर्त्ता' चारी[6] का प्रयोग होता है । तत्पश्चात् पुनः इस ताण्डव में तीसरी 'कृष्णसार' गति का प्रयोग होता हैं । इसमें दोनों हाथ मृगशीर्ष मुद्रा में और पैर उद्वृत्ता पादस्थिति में होते हैं[7] तथा 'झम्पा' नामक ताल का प्रयोग होता है । इस ताल में एक द्रुत, एक द्रुतविराम एवं अन्त में एक लघु होता है । कृष्णसारगति के अन्त में ''गंगावतरण' नामक करण[8] तथा 'ऊरूद्वृत्ता' नामक चारी[9] का प्रयोग होता है । इस प्रकार दक्षिणभ्रमण ताण्डव में तीन गतियों, तीन करणों, तीन चारियों तथा तीन तालों का प्रयोग होता है ।

---

१. स्थित्वा वामपादेनैव कुंचितो दक्षिणः पदः ।
हस्तौ तु कर्त्तरीयुक्तौ भ्रमणं दक्षिणांगतः ।।
दक्षिणभ्रमणाख्यं च ताण्डवं परिकल्पितम् । (भरतार्णव १४.७९०-७९१)

२. वृश्चिकस्थ तु पादेन हस्तावपि च रेचितौ ।
विवर्त्तनं त्रिकस्यापि मयूरललितं भवेत् ।। (भरतार्णव ७९३)

३. पश्चात् पुरस्तात् पार्श्वे वा पादयोः श्लिष्टयोर्यदा ।
चलनं स्यात् तदा चारी समपादोदितं बुधैः ।। (भरतार्णव ७९४)

४. भरतार्णव ७९५ ।

५. अतिक्रान्तपदं कृत्वा क्षिपेदुत्प्लुतिपूर्वकम् ।
ऊर्ध्वं न्यस्यांचिता जङ्घा यत्र तद्धरिणप्लुतम् ।। (भरतार्णव ७९६)

६. अंघ्रिणा क्षितिघृष्टेन विधायान्तरमण्डलम् ।
तदन्यमुत्क्षिपेद्यत्र स्थितावर्ताथ सा स्मृता ।। (भरतार्णव ७९६)

७. भरतार्णव, ७९८ ।

८. हस्तावंजलिसंयुक्तौ स्थित्वा तु समपादके ।
अग्रतो नमितं गात्रं गंगावतरणं भवेत् ।। (भरतार्णव ७९९)

९. पाणिर्बहिर्मुखो यत्र पादोऽग्रतलसंचरः ।
जंघा तु कुंचितः किंचिदूरूद्वृत्तेति सा मता ।। (भरतार्णव ८००)

वामभ्रमण एवं लोलाभ्रमण—

शुद्धनाट्य का दूसरा प्रकार 'वामभ्रमण' है। यदि 'दक्षिणभ्रमण' ताण्डव की प्रक्रिया में क्रम-विपर्यास अर्थात् वाम भाग से भ्रमण किया जाता है तो उसे 'वामभ्रमण ताण्डव कहते हैं'[1]। शुद्धनाट्य का तीसरा प्रकार 'लीलाभ्रमण' है। इस ताण्डव में वामहस्त शिखर मुद्रा में बाहुओं के मध्य स्थित रहता है और दक्षिणहस्त पताकामुद्रा में रहता है। इसमें वामभाग से भ्रमण होता है और दक्षिणपाद झुका हुआ रहता है[2]। इन दोनों ताण्डवों के मध्य 'गजगति' नामक गति का प्रयोग होता है। इस गति में आगे से अथवा पीछे से दोनों हाथ 'पद्म-कोश' मुद्रा में अधोमुख और दोनों पैर कुट्टनयुत (जोर से भूमि पर रखना) स्थिति में होते हैं[3]। इस गति के लिए पूर्ण 'कंकालताल' का प्रयोग होता है। पूर्ण कंकालताल में चार द्रुत, एक गुरु और अन्त में लघु होता है और पाँच मात्राएँ होती हैं[4]। गजगति के लिए दूसरे प्रकार का नृत्य 'गजराज' नाम से अभिहित किया जाता है। इस गति में 'करिहस्त' करण और 'वक्त्रबन्धा' नामक चारी का प्रयोग हाता है। करिहस्त करण में 'समपाद' स्थानक की मुद्रा में खड़े होकर दोनों हाथों से 'करिहस्त' मुद्रा बनाई जाती है और दृष्टि अनुवृत्त रहती है[5]। इसमें 'वक्त्रबन्धा' चारी का प्रयोग होता है। इस चारी में दोनों पाद बार बार स्वस्तिकाकृति मुद्रा में रखे जाते हैं और जानु (घुटने) हिलाये जाते हैं[6]।

भुजंगभ्रमण एवं विद्युत्भ्रमण—

'भजंगभ्रमण' ताण्डव में दक्षिण पादतल वाम जंघा का सहारा लेकर टिका हुआ होता है, कटिप्रदेश कुछ झुक जाता है, नर्तक वामपाद पर स्थित

---

१. एतदेव विपर्यासाद्वामभ्रमणताण्डवम्। (वही ८०१)

२. वामपाणिस्तु शिखरो बाहुमध्यमुपाश्रितः।
पताको दक्षिणे हस्ते भ्रमणं वामभागतः।
दक्षिणांघ्रिः कुंचितः स्याल्लीलाभ्रमणताण्डवे ॥ (वही ८०५–८०६)

३. अग्रतः पृष्ठतो वापि पद्मकोशावधोमुखौ।
पादौ तु कुट्टनयुतौ गजस्य गतिरीरिता ॥ (भरतार्णव १४:८०१) ८०२)

४. पूर्णे द्रुतचतुष्केण गुरुणा लघुना क्रमात्। (भरतार्णव १४।४७६)

५. करिहस्तयुतौ हस्तौ समपदस्थितिर्भवेत्।
अनुवृत्तदृशा ज्ञेयं करणं करिहस्तकम् ॥ (भरतार्णव १४।८०३)

६. सव्यापसव्यौ च चरणावसकृत् स्वस्तिकाकृती।
जानुदेशे प्रचलितौ वक्त्रबन्धेति सा मता ॥ (भरतार्णव १४।८०४)

रहता है और हाथ 'नागबन्ध' मुद्रा में बाँधे जाते हैं[१]। 'विद्युत्भ्रमण' ताण्डव में नर्तक दोनों पैर एक साथ कुछ ऊपर की ओर उठाकर एक साथ उछालकर नीचे की ओर आते हुए वामपाद को घुमाता है तथा इसी क्रम को दक्षिण अंग से तीन बार करता है और हाथों को 'चतुर' हस्तमुद्रा में स्थित शिर को ऊपर नीचे तीन बार हिलाता है[२]। इन दोनों ताण्डवों के मध्य 'सिंहगति' नामक गति का प्रयोग होता है। इस गति में हाथ सिंहमुख' मुद्रा में और उत्प्लवन-युक्त रहते हैं तथा नर्तक दक्षिणपाद से भूमि पर संचरण करता है और पैरों को परिवर्त्तित करते हुए संचरण की पुनरावृत्ति करता है[३] इस गति के लिए 'सिंहविक्रम' नामक ताल प्रयुक्त होता है जिसमें तीन गुरु, एक लघु, एक प्लुत, एक लघु, एक गुरु और अन्त में एक प्लुत होता है[४]। इसमें कुल सोलह मात्राएँ होती हैं। इस भ्रमण में सिंहविक्रीडित करण और उत्स्यन्दिता चारी का प्रयोग होता है। सिंहविक्रीडित करण में पाद बाहर की ओर निकले हुए और हस्त 'सिंहमुख' मुद्रा में स्थित रहकर झुके हुए होते हैं[५]। इसमें उत्स्यन्दिता चारी का प्रयोग होता है। इस चारी में पैर अन्दर या बाहर की ओर मुड़ते रहते हैं तथा हाथ 'रेचक' मुद्रा में होते हैं जिसमें शीघ्रता से संचालन किया जाता है[६]।

लताभ्रमण एवं ऊर्ध्वताण्डव—

लताभ्रमण ताण्डव में अभिनेता अपने वामपाद पर स्थित रहकर हाथों को 'बाणहस्त' मुद्रा के साथ फैलाता है और दक्षिण अंग से सात या पाँच बार भ्रमण

१. वामजंघां समालम्ब्य दक्षिणाङ्घ्रेस्तु पश्चिमा।
कटिस्तु कुंचिता किञ्चिद् वामपादस्थितिर्भवेत्॥
हस्तौ तु नागबन्धाख्यौ ताण्डवे भुजगाह्वये।
अंगेन भावयेच्छब्दनाटिकालक्षणं क्रमात्॥ (भरतार्णव १४।८०६–८०७)

२. उत्थाय किंचित्पादाभ्यां किंचदूर्ध्वं युतौ पादौ।
तदा स्थित्वा भुवि तदा वामपादः प्रकुंचितः॥
भ्रमणं दक्षिणांगेन विरचय्य त्रिधा ततः।
चतुरामिवहस्तौ च शिरसा कम्पितं भवेत्॥
विद्युत्भ्रमणनाम्ना तत्ताण्डवं परिकीर्त्तितम्। (भरतार्णव १४।८१२–८१४)

३. भरतार्णव १४।८०८–८०९।

४. सिंहविक्रमसंज्ञकः गत्रयं लपलागपौ (भरतार्णव, पृष्ठ ४०७)

५. विष्क्रान्तचरणः पश्चात् कुंचितौ यत्र चेत्करौ।
सिंहारकौ सम्प्रयोक्तव्यौ सिंहविक्रीडितं तु तत्॥ (भरतार्णव, ८१०)

६. अङ्घ्रेर्विवर्तनं शीघ्रमन्तर्वा बहिरेव वा।
हस्तौ रेचकनामानौ यत्र सोत्स्यन्दिता मता॥ (भरतार्णव, ८११)

करता है तथा साथ ही दक्षिणपाद को फैलाकर तथा झुकाकर घुमाता है।[1] 'ऊर्ध्वताण्डव' नामक सप्तम भेद में अभिनेता वामपाद पर स्थित रहकर उल्लोकित दृष्टि से वामपाद को ऊपर उठाता है और उसे दाहिने कान के सामने की ओर स्थित कर दाहिने हाथ में शिखर मुद्रा बनाकर उसे वक्षःस्थल पर रखता है और वामहस्त से भी शिखरमुद्रा बनाकर दक्षिणपाद को आलिंगित कर उसे शिर पर रखता है।[2] इन दोनों प्रकार के ताण्डवों के मध्य 'शुकगति' नामक गति का प्रयोग किया जाता है। शुकगति में दो हाथों को शुकतुण्ड मुद्रा में वक्षःस्थल से आठ अंगुल पर रखा जाता है और वर्धमान नामक स्थानक पर स्थित होकर 'सरण' नामक पादभेद से गति की जाती है।[3] इस गति में 'कोकिलप्रिया' नामक ताल का प्रयोग होता है जिसमें एक गुरु, एक लघु, एक प्लुत और छः मात्राएँ होती हैं।[4] इसमें 'कीरभूषण' नामक करण और 'स्यन्दिता' नामक चारी का प्रयोग किया जाता है। 'कीरभूषण' नामक करण में हाथों को अर्धचन्द्र मुद्रा में ऊपर की ओर रेचित कर (फेंक कर) हिलाया जाता है और पाद सम अवस्था में श्लिष्ट रहते हैं तथा दृष्टि भी सम रहती है।[5] 'स्यन्दिता' चारी में वामपाद समस्थिति में रखा जाता है और दक्षिणपाद तिरछा करके पंच तालान्तर पर प्रसारित कर दिया जाता है।[6] अंगूठे से छोटी अंगुली तक की दूरी को तालान्तर कहते हैं। ऊर्ध्वताण्डव में 'झम्पा' ताल का प्रयोग किया जाता है जिसमें एक द्रुत

---

१. स्थित्वा वामांघ्रिणा भूमौ बाणहस्तौ प्रसारितौ।
सप्तधा पंचधा वापि भ्रमणं दक्षिणांगतः॥
दक्षिणांघ्रिं प्रसारितं कुंचितं भ्रामयेत्तदा
लताभ्रमणनाम्ना तत्ताण्डवं परिकीर्तितम्। (भरतार्णव, १४।८१५-८१६)

२. भरतार्णव, १४।८२१-८२४।

३. शुकतुण्डाभिधौ हस्तौ वक्षसोऽष्टाङ्गुलिस्थितौ।
स्थानेन वर्धमानेन स्थित्वा चैव ततः परम्॥
सरणाभिधपादाभ्यां पानं शुकगतिर्भवेत्। (भरतार्णव, १४।८१७-८१८)

४. कोकिलप्रियताले स्यात् क्रमाद् गुरुलघुप्लुताः॥ (भरतार्णव, ७।४६५)

५. अर्धचन्द्रकरौ चोर्ध्वं रेचितत्वात् प्रचालितौ।
पादौ श्लिष्टौ समौ भूमौ समदृष्ट्या समन्वितम्॥
एवंविधं गुणैर्युक्तं करणं कीरभूषणम्। (भरतार्णव, ८१६-८२०)

६. वामः समो निषण्णोऽत्र यत्रान्योऽङ्घ्रिः प्रसारितः।
पंचतालान्तरं तिर्यग्यत्र सा स्यन्दिता मता॥ (भरतार्णव, ८२०-८२१)

एक द्रुत विराम तथा एक लघु और २१/४ मात्राएँ होती हैं।[१] इस प्रकार शुद्ध-नाटच के प्रकारों का वर्णन किया गया है। अब देशीनाट्य का निरूपण कर रहे हैं।

देशीनाटच

'देशीनाट्य' में पाँच प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं– निकुंचित, कुंचित, आकुंचित, पार्श्वकुंचित और अर्धकुंचित ये पाँच प्रकार के देशी ताण्डव हैं।[२] इनमें प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी एवं ताल से युक्त होता है। भरतार्णव में देशीनाट्य के लिए पाँच प्रकार की गतियों का निर्देश है। उनके नाम हैं— केकिनी, राजहंसी, हरिणी, करिणी और सारिका।[३] गतियों के अन्त में करण एवं चारी का प्रयोग होता है। अतः पाँच प्रकार के देशी ताण्डवों के लिए पाँच प्रकार के करण एवं पाँच प्रकार के चारी बताये गये हैं। मान्मथ, सौन्दर, वारुण, गजविक्रीडित और चान्द्र ये पाँच प्रकार के करण हैं और चाषगता, विच्यता, अड्डिता, जनिता और शकटास्य ये पाँच प्रकार के चारी निर्दिष्ट हैं।[४] भरतार्णव में निर्दिष्ट निकुंचित आदि पाँच प्रकार के देशी ताण्डव के लिए पाँच प्रकार की गतियों तथा पाँच प्रकार के करण, पाँच प्रकार के चारी और पाँच प्रकार के तालों का निर्देश किया गया है और उनके प्रयोग की विधियाँ बताई गई हैं।

निकुंचित—

देशीनाटच का प्रथम प्रकार 'निकुंचित-ताण्डव' है। इस ताण्डव में दोनों हाथों को 'पद्मकोश' मुद्रा में आगे और पीछे की ओर अधोमुख रखा जाता है।

---

१. व्योमद्वयं विरामान्तं लश्च झंपाभिधे भवेत्। (भरतार्णव ७।४८२)

२. निकुंचितं कुंचितं च सम्यगाकुंचितं तथा।
पार्श्वकुंचितमेव स्यादर्धकुंचितकं तथा॥ (भरतार्णव १३।७२१-२२)

३. केकिनी मतिरादौ स्याद् राजहंसीगतिस्तथा।
हरिणीगतिराख्याता करिणीगतिरेव च॥
सारिकागतिरारख्याता ………………॥ (भरतार्णव १३।७२३-७२४)

४. मान्मथं करणं चारीं नाम्ना चाषगताभिधाम्।
सौन्दरं करणं चारीं विच्यवामपि तादृशीम्॥
वारुणं करणं चारीं नाम्नाप्यड्डितसंज्ञकाम्।
गजविक्रीड़ितं चारीं जनितामपि कीर्त्तिताम्॥
चान्द्रं च करणं चारीं शकटाख्यां तथेरिताम्। (वही १३।७२६-७२८)

दक्षिणपाद झुका हुआ और दूसरे जानु पर टिका हुआ रहता है और दृष्टि सम रहती है।[१] इस ताण्डव में 'मयूरी' गति का प्रयोग होता है। मयूरी गति में अभिनेता 'नागबन्ध' नामक स्थानक मुद्रा में खड़े होकर और दोनों हाथों को 'कर्त्तरी'मुद्रा में स्थित कर 'सरण' नामक पाद-संचालन किया जाता है अथवा पंजों के बल भूमि पर संचरण किया जाता है।[२] मयूरी गति के लिए 'राजनारायण' नामक ताल का प्रयोग होता है जिसमें दो द्रुत, एक लघु, एक गुरु; एक लघु और अन्त में एक गुरु होता है[३]। इसमें कुल सात मात्राएँ होती हैं। इसके साथ 'मन्मथ' नामक करण का प्रयोग होता है। मन्मथ करण में नर्तक 'आलीढ़' नामक स्थानक में स्थित होकर 'त्रिपताका' हस्तमुद्रा में वामहस्त प्रसारित किया जाता है और दक्षिणहस्त कन्धे पर रखा जाता है। क्रम से शरीर को झुकाकर फिर उठाकर स्थित किया जाता है।[४] इसके साथ 'चाषगति' नामक चारी का प्रयोग किया जाता है। इस चारी में दक्षिणपाद आगे की ओर वितस्तिमात्र बढ़ाकर प्रसारित किया जाता है और इसी क्रम से पद-संचालन किया जाता रहता है।[५] इस चारी के साथ 'वामपाद' चारी का संयोग किया जाता है जैसा कि दक्षिणभ्रमण में 'मयूरगति' के साथ किया जाता है।

कुञ्चित-ताण्डव—

देशीनाटच का द्वितीय प्रकार 'कुंचित' ताण्डव है। इस ताण्डव में हाथ 'संदंश' मुद्रा में स्थित कर सामने तथा पीछे की ओर अधोमुख रखा जाता है। इसमें वामपाद को झुकाकर दक्षिणपाद के जानु के मध्यभाग पर रखा जाता

---

१. पद्मकोशाभिधौ हस्तौ पुरः पश्चादधोमुखौ।
दक्षिणः कुंचितः पादो जानुदेशमुपागतः॥
समदृष्ट्या समायुक्तं तन्निकुंचितमुच्यते।
(भरतार्णव १४।८३०-८३१)

२. हस्तौ तु कर्त्तरीकाख्यौ नागबन्धस्थितिर्भवेत्।
पादाग्राभ्यां तु सरणं मयूरीगतिरीरिता॥
(भरतार्णव १४।७३२)

३. राजनारायणो विन्दुद्वितयं जगणो गुरुः।
(भरतार्णव १३।८३३)

४. आलीढ़स्थानकं यत्र त्रिपताको करो तथा।
करः प्रसारिते वामः करोऽन्यो सनिवेशितः॥
पर्यायेण नतं गात्रं उन्नतं तत्तु मान्मथम्।
(भरतार्णव १४।८३४-३५)

५. वितस्तिमात्रप्रसृतो दक्षिणश्चरणोऽग्रतः।
अनेनैव क्रमेण स्याच्चारी चाषगतिर्मता॥ (वही १४।८३५-८३६)

है[1]। इस ताण्डव के लिए 'चाचपुट' ताल प्रयुक्त होता है। इस ताल में एक गुरु, दो लघु और अन्त में एक गुरु होता है। इसमें छः मात्राएँ होनी हैं। इसके साथ 'हंसिनी' गति का प्रयोग किया जाता है। इस गति में नर्तक हाथ से 'हंसपक्ष' हस्तमुद्रा बनाकर तथा 'मण्डल' नामक स्थानक पर स्थित होकर नृत्य प्रारम्भ करता है और एक ओर से दूसरी और वामपाद से संचरण करता है। इस गति के लिए 'हंसलील' नामक ताल का प्रयोग होता है जिसमें दो लघु और अन्त में एक विराम होता है। इसके साथ 'सौन्दर' नामक करण का प्रयोग होता है। इस करण में नर्तक वाम चरण पर स्थित होता है और दूसरा चरण घुमाकर झुका हुआ तथा जानु के ऊपरी भाग पर रखा हुआ होता है। दोनों हाथों को एक दूसरे के सन्मुख या पार्श्व में स्थित करके 'चतुर' हस्तमुद्रा बनाई जाती है। इस करण के साथ 'त्रिचयवा' नामक चारी का प्रयोग किया जाता है। इस चारी में चरण पहले समस्थिति में रखे जाते हैं। तदनन्तर उनमें से एक चरण को पृथक् करके भूमि पर कुट्टन (ताड़न) किया जाता है और यही क्रम दूसरे चरण से भी पुनरावृत्त किया जाता है[2]।

आकुञ्चित-ताण्डव–

देशीनाट्य का तृतीय प्रकार 'आकुञ्चित' ताण्डव है। इस ताण्डव में दक्षिण चरण को तिर्यक् रूप से घुमाकर वामपाद के अँगूठे पर रखा जाता है और हाथों से 'पताका' हस्तमुद्रा बनाई जाती है[3]। इस ताण्डव के लिए 'रङ्गताल' का प्रयोग होता है जिसमें चार द्रुत, एक गुरु तथा चार मात्राएँ होती हैं। इसके साथ 'हरिणी' गति का प्रयोग किया जाता है। इस गति में हाथ 'अर्धपताका' हस्तमुद्रा में होते हैं और नर्तक 'कूर्मासन' स्थानक की मुद्रा में नृत्य प्रारम्भ करता है तथा तिर्यक् रूप से फैलाकर वामपाद के अग्रभाग से बार-बार पद संचालन किया जाता है। इस गति के साथ 'सिंहनाद' नामक ताल प्रयुक्त होता है। इस ताल में एक लघु, दो गुरु तथा अन्त में एक लघु व एक गुरु होता है। इसमें कुल आठ मात्राएँ होती हैं। इसके साथ 'वारुण' करण का प्रयोग किया जाता है। 'वारुण' करण में नर्तक हाथों से कर्त्तरी-स्वस्तिक मुद्रा बनाकर

---

१. हस्तौ संदंशनामानौ पुनः पश्चादधोमुखौ।
दक्षिणायास्तु जंघाया मध्यमाश्रितकुंचितः ॥
वामपादः परिज्ञेयं कुंचिताभिधताण्डवम्। (भरतार्णव १४।८३६–८३७)

२. भरतार्णव, १४।८३८-८४२।

३. दक्षिणश्चरणस्तिर्यक् कुञ्चितो वामसक्थिमः।
पताकाख्यकरौ स्यातां तदा कुञ्चितताण्डवम् ॥ (भरतार्णव १४।८४३)

'वर्धमान' नामक स्थान में स्थित होता है और जानुवों को किंचित् झुकाकर बार-बार प्रसारित किया जाता है। इस करण के लिए 'अड्डिता' नामक चारी का प्रयोग होता है। 'अड्डिता' चारी में नर्तक पैर के अग्रभाग से एक दूसरे से श्लिष्ट करके आगे या पीछे संचरण करता है[1]।

पार्श्वकुञ्चित ताण्डव–

देशीनाटचका चतुर्थ प्रकार 'पार्श्वकुञ्चित ताण्डव' है। पार्श्वकुञ्चित ताण्डव में हाथ 'शुकतुण्ड' मुद्रा में स्थित होते हैं, शिर को ऊपर या नीचे की ओर हिलाया जाता है, दृष्टि पहले ऊपर की ओर और बाद में नीचे की ओर की जाती है, दक्षिणपाद कुञ्चित रहता है तथा चरण का पीछे का भाग वाम अंगुष्ठ पर स्थित कर दिया जाता है तब दृष्टि पार्श्व में की जाती है[2]। इस ताण्डव में 'विन्दु-मालि' नामक ताल का प्रयोग किया जाता है। इसमें दो गुरु के मध्य में चार विन्दु होते हैं और छः मात्राएँ होती हैं। इसके साथ 'करिणी' गति का प्रयोग किया जाता है। करिणी गति में हाथ करिहस्त मुद्रा में स्थित रखे जाते हैं, दक्षिणपाद समस्थिति में रखा जाता है और वामपाद भूमि पर अर्धचन्द्र लिखते हुए तीव्रता से आगे की ओर बढ़ता है। यह संचालन पीछ की ओर पैर को परिवर्तित करते हुए दोहराया जाता है। 'करिणी' गति के साथ 'गजलील' नामक ताल का प्रयोग किया जाता है। इस ताल में चार लघु और अन्त में एक विराम होता है। इसके साथ 'गजविक्रीडित' करण का प्रयोग होता है। इस करण में वामहस्त 'त्रिपताका' हस्तमुद्रा में कटिभाग पर स्थित रहता है और दक्षिणहस्त से 'लता' हस्तमुद्रा बनाई जाती है तथा चरण 'लुठित' मुद्रा में संचालित होते हैं। इस करण के साथ 'जनिता' चारी का प्रयोग किया जाता है। जनिता चारी में एक हाथ को 'खटकामुख' मुद्रा में वक्षःस्थल के पार्श्वभाग में रखा जाता है और दूसरे हाथ को 'रेचित' मुद्रा में रखा जाता है तथा पाद को 'अग्रतलसंचर' मुद्रा में संचालित किया जाता है[3]।

अर्धकुञ्चित-ताण्डव–

देशी-नाटच का पंचम प्रकार 'अर्धकुञ्चित-ताण्डव' है। अर्धकुञ्चित-ताण्डव में हाथों को 'खटकामुख' मुद्रा में बार-बार कम्पित किया जाता है। इसमें वामपाद

---

१. भरतार्णव, १४।८४४-८४८।

२. हस्तौ तु शुकतुण्डाख्यौ शिरोऽप्याकुञ्चितं भवेत्।
उल्लोकिता च दृष्टिः स्यादवलोकितमेव च॥
कुञ्चितो दक्षिणाङ्घ्रिः स्याद्वामोरौ पश्चिमाश्रिताः।
प्रलोकितं ततः कुर्यात्पार्श्वं ताण्डव-नर्तने॥ (भरतार्णव, १४-८४८-८४९)

३. भरतार्णव, १४।८५०-८५६।

निर्यक रूप से कुञ्चित तथा दूसरे पाद (दक्षिणपाद) के जानु पर स्थित रहता है और दृष्टि वामभाग की ओर रहती है[1]। इस ताण्डव में 'कोकिलप्रिय' नामक ताल प्रयुक्त होता है। इस ताल में एक गुरु, एक लघु तथा एक प्लुत होता है। इसमें कुल छ मात्राएँ होती हैं। इसके साथ 'सारिका' गति का प्रयोग होता है। सारिकागति में दक्षिणहस्त 'अर्धचन्द्र' मुद्रा में और वामहस्त 'शुकतुण्ड' मुद्रा में स्थित रहता है। 'वैशाख' स्थानक से प्रारम्भ करके दक्षिणपाद को शरीर के साथ वामहस्त से श्लिष्ट करके रखा जाता है और इसी मुद्रा में वामपाद भूमि से संश्लिष्ट होकर संचरण करता है। इस गति के लिए 'कन्दर्प' नामक ताल का प्रयोग किया जाता है। इस ताल में दो द्रुत, एक लघु और दो गुरु होते हैं। इसमें ४ मात्राएँ होती हैं। कुछ विद्वान् सारिकागति के लिए 'परिक्रम' ताल का प्रयोग बताते हैं। इस ताल में दो द्रुत, दो लघु और अन्त में एक गुरु होता हैं। इसके साथ 'चान्द्र' करण का प्रयोग होता है। यह करण 'अड्डिता' चारी (जो स्खलित पादभेद से अनुसरित होती है) से प्रारम्भ होता है। इसमें हस्त 'ऊर्ध्व-मण्डल' मुद्रा में होते हैं और तीव्रता के साथ हाथों से 'रेचित' हस्तमुद्रा बनाई जाती है। इसके साथ 'शकटास्या' चारी में चरण का अग्रभाग प्रसारित कर दिया जाता है और शरीर को 'सौष्ठव' मुद्रा में रखा जाता है[2]। इस प्रकार देशी नाटच के पाँच प्रकारों का विवेचन किया गया है।

चायलंकारनटन—

सप्तलास्यों के अन्तर्गत शुद्ध और देशी नाटच से भिन्न प्रेरणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलश—ये जो पांच लास्य बताये गये हैं, वे क्रमशः ब्रह्मा, सरस्वती, विष्णु और लक्ष्मी द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। इनमें प्रेरणी की ब्रह्मा से, प्रेङ्खणी की सरस्वती से, कुण्डली की विष्णु से और दण्डिक एवं कलश की महालक्ष्मी से उत्पत्ति कही गयी हैं[3]। पेरुणी से कलश पर्यन्त ये पाँचों लास्य शब्दों के बोल द्वारा नर्तन किये जाते हैं और अन्त में करण एवं चारी की योजना होती

---

१. खटकामुखहस्तौ स्याच्चलितौ च पुनः पुनः।
वामांघ्रिः कुञ्चितस्तिर्यग्दक्षिणां जंघिकां गतः॥
वीक्षणं वामभागे स्यादर्धकुञ्चित-ताण्डवे॥
भरतार्णव, (१४।८५७-८५८)

२. भरतार्णव, १४।८५८-८६२।

३. पेरुणीं पद्मसंभूतः प्रेङ्खणीं शारदापि च
कुण्डलीनाटचकलनां कलयामास माधवः॥
दण्डिकाकलशे नाट्ये ननर्त कमलालया॥ (भरतार्णव, ७६०-६१)

है। भरतार्णव में इन पंच लास्यों के लिए हेरम्ब, शङ्ख, नारायण, विष्णुक्रान्त और गरुड़प्लुत ये पाँच प्रकार के करण और अपस्यन्दित, समोत्सारितमण्डली, मत्तलिका, अर्ध्यचिका, एड़काक्रीडिता ये पाँच चारी निर्दिष्ट किये गये हैं[१]। भरतार्णव में इन पाँचों को लास्य कहा गया है।

प्रेरणी या पेरुणी—

'प्रेरणी' नृत्य में नर्तक शरीर में श्वेत भस्मादि का लेप करता है। उसके बाल स्कन्धों पर बिखरे हुए होते हैं। जघाएं घर्घरिकाजाल से सुशोभित होती हैं और वह पेरुणी के पञ्चाङ्गों में कुशल तथा ताल, लय, कला आदि में विचक्षण होता है[२]। प्रेक्षकों को मोहित करने वाले इसे प्रेरणी नृत्य कहते हैं। नृत्तरत्नावली के अनुसार पेरुणी नृत्य में नर्तक भस्मादि धारण, वाराटिका के आभूषणों से अलंकृत, मुण्डित, घघरिकाजालयुत एवं चार, छः या आठ सहायकों से युक्त होता है[३]। इस नर्तन म 'ब्रह्मानन्द' ताल का प्रयोग किया जाता है। यह निम्न नृत्य बोलों के द्वारा नर्तन किया जाता है—

"घरिकुकुकुणांझणकुकुकुथा–किटतरिजगणांतोथरिकुथझंकिटतकतकझेंकि-रथोंगथा–तकजककुकुणककुथा–जहकिटतकजनकुझे–जकतकजनझेंझझें किटातत्तत-कुथरिकिणथातकिटतलंगिकिण्णतनुजगनटझें – किण्णकिटथोंगाकितकिटकुकुजेथरि-किणकिणकिटकुकुधा।"

पेरुणी नर्तन में 'ब्राह्म' नामक स्थानक तथा 'कपित्थ' एवं 'शिखर' नामक हस्तमुद्राओं का क्रमशः प्रयोग किया जाता है। तदनन्तर 'हेरम्ब' करण एवं 'अपस्यन्दिता' नामक चारी का प्रयोग होता है। 'हेरम्ब' करण में दोनों हाथ पहले हृदय पर रखे जाते हैं तत्पश्चात् 'पार्श्वमण्डल' मुद्रा वाम एव दक्षिण भाग की ओर से शीघ्रता से बनाई जाती है। इसमें हाथों का ही अनुसरण करता हुआ शरीर भी संचालित होता है। 'पेरुणी' में इस करण के साथ 'अपस्यन्दिता' चारी का प्रयोग किया जाता है। इस चारी में वाम चरण समस्थित में रखा जाता है और शरीर का भार उस पर आधारित रहता है। द्वितीय पाद पाँच तालान्तर

---

१. भरतार्णव १३।७५३-७५६।

२. भस्मादिश्वेतलिप्तांगो बिभ्रत्स्कन्धाशखं शिरः।
भ्राजत्घर्घरिकाजालजङ्घः शारीरपेशलः॥
पञ्चाङ्गकुशलस्तालकलालयविचक्षणः ॥
सभाजनमनोहारी नृत्तश्च प्रेरणी मतः॥
(भरतार्णव)

३. नृत्तरत्नावली ७।३८-४१।

पर तिर्यक् रूप से प्रसारित किया जाता है[1]। नृत्तरत्नावली के अनुसार इस नर्तन में वाद्यों का प्रयोग भी किया जाता है।

'प्रेरणी' नर्तन के पाँच अंग होते हैं—घर्घर, विषय, भावाश्रय, कविचारक और गीत[2]। नृत्तरत्नावली में भी प्रेरणी के पाँच ही भेद बताये गये हैं किन्तु उनके नामों में अन्तर है। नृत्तरत्नावली के अनुसार नृत्त, कैवार, घर्घर, विकट और गीत पेरुणी के ये पांच अंग होते हैं[3]। इनमें घर्घर और गीत दोनों ग्रन्थों में कथित है। शेष तीन अलग हैं। इनकी परिभाषाओं में भी अन्तर पाया जाता है। जहाँ पर समनायक के शौर्यादि गुणों की स्तुति की जाती है उसे 'कैवार' कहते हैं। 'घर्घर' एक वादन है जिसका वादन ताल के साथ और विना ताल के भी किया जाता है। उसके सात भेद होते हैं—चावड़, पडिबाड़, रुन्ध, सिरमिर, खलुहुल, अलग्न-पाट और सिरपिटी[4]। किन्तु भरतार्णव में 'घर्घर' के छः प्रकार बताये गये हैं—परिपाट, चापदम, शिरपिट्टि, अलगपाट, चिरिहिरा और खुलुहुल[5]। इनमें से तीन भेद भरतार्णव और रत्नावली में एक से मिलते हैं किन्तु उनके लक्षणों में अन्तर पाया जाता है। पेरुणी का द्वितीय अंग 'विषम' है। इसमें उत्प्लुतिपूर्वक करण का प्रयोग होता है। विकृतियों का निराकरण होना 'भावाश्रय' है। उदात्तगुणोपेत 'नायक' का वर्णन 'कविचार' कहा जाता है। इसमें सालग शूड गीत का प्रयोग होता है।

प्रेङ्खणी––

पञ्चलास्यों में द्वितीय लास्य 'प्रेङ्खणी' है। कारणों से युक्त भ्रमरी एवं भिन्न-भिन्न चारियों से युक्त उद्धत नृत्त को 'प्रेङ्खणी' कहते हैं। रज्जु पर संचरण करने वाले, छुरिका (तलवार) पर नर्तन करने वाले एवं अस्त्रों के प्रयोग में

---

१. भरतार्णव १४।८६५-८६८।

२. घर्घरो विषमं भावाश्रयश्च कविचारकः।
गीतं चेति समाचष्टे पञ्चाङ्गानि हरिप्रियः॥
(भरतार्णव १३।७३३)

३. प्रेरणांगानि पञ्च स्युर्नृत्तकैवारघर्घराः।
विकटं गीतमित्येषां क्रमाल्लक्ष्म प्रचक्ष्महे॥
(नृत्तरत्नावली ७।४३)

४ चावडः पडिवाडाख्यो रुन्धः सिरमिराभिधः।
ततः खलुहुला लग्नपाटौ सिरपिटी ततः॥
(नृत्तरत्नावली ७।४७)

५. नृत्तरत्नावली ७।४६-५४; २. भरतार्णव १३।७३४।

कुशल नर्तक को 'कोल्लारिक' कहते हैं[1]। 'प्रेङ्खणी' लास्य में 'राजविद्याधर' ताल का प्रयोग होता है। इस ताल में एक लघु, एक गुरु तथा दो द्रुत होते हैं और कुल चार मात्राएँ होती हैं। यह निम्नलिखित नृत्त-बोलों के द्वारा नर्तन किया जाता है—

"था तत्ततकुकुंझे–जकतरितटझे–जककुंजककुंथरिजनकुथा – जहाकिण्णुकिट्टथा–झेंझें तरिकिटा–तकुतलंगितघिकुकुणांतककुथरिजंतरिकुंकुथाकिटझे।"

इस नृत्य, जिसका नर्तन सर्वप्रथम भगवती सरस्वती ने भगवान् शिव की सन्निधि में किया था, में दोनों हाथों से क्रमशः कपित्थ हस्तमुद्रा और शिखरमुद्रा बनाई जाती है। इसमें 'शंख' करण एवं 'समोत्सारितमत्तली' चारी का प्रयोग होता है। 'शंख' करण में 'ब्राह्म' स्थानक होता है। हाथों को 'सन्दंश' मुद्रा बना कर रेचित किया जाता है। फिर केशपाश से प्रारम्भ करके 'लुठित' मुद्रा बनाई जाती है और 'समोत्सारितमत्तली' चारी में पहले पहले पादों को धीरे-धीरे संचालित किया जाता है, तत्पाश्चात् उपसर्पण अर्थात् शीघ्रगति से पादसंचालन किया जाता है।[2]

कुण्डली–

पंचलास्यों के अन्तर्गत तृतीय लास्य 'कुंडली' है। इस नृत्त में हाथ 'उत्तानवंचित' मुद्रा मे रखे जाते हैं और 'वैष्णव' नामक स्थानक का प्रयोग होता है। दोनों हाथ क्रमशः 'वरद' और 'अभय' मुद्रा मे रहते हैं। पाद-सचालन एवं हस्तमुद्राओं के परिवर्तन द्वारा इसका निर्णय किया जाता हैं। इसमें पाद नृत्य-शब्दों का अनुसरण करते हैं। इस नृत्य के लिए 'लक्ष्मांश' नामक ताल का प्रयोग होता है जिसमें एक द्रुत और दो लघु होते हैं। इसमें २½ मात्राएँ होती हैं। इसके नृत्य-शब्द इस प्रकार हैं—

'जहकिटथों–परिकुंथकझें–किण्णांकुतटकुझें।'

'कुण्डली' नृत्य में 'नारायण' करण का प्रयोग होता है। इस करण में हाथ 'उत्तानवंचित' मुद्रा में रहते हैं और 'वैष्णव' स्थानक होता है। इसके साथ 'मत्तल्लिका' चारी का प्रयोग होता है। इस चारी में दोनों चरणों को आगे की ओर उपसर्पण करते हुए संचालन किया जाता है और हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में रहते हैं।[3] भगवान् पुरुषोत्तम ने इस नृत्य का सर्वप्रथम नर्तन किया था।

---

१. भरतार्णव १३।७४३-७४५ तथा नृत्तरत्नावली ७।७९।

२. भरतार्णव १४।८६८–८७१।

३. भरतार्ण १४।८७१–८७६।

दण्डिक—

पंचलास्यों में 'दण्डिक' चतुर्थ लास्य है। इसे 'दण्डलास्य' भी कहते हैं। इस नृत्य में स्त्रियां मिलकर हाथ में दण्डा लेकर नृत्य करती हैं। इसमें द्वण्ड सोलह अंगुल लम्बा और मध्यमा अंगुली के बराबर मोटा होना चाहिए। प्रदेशीय नृत्यों में 'दण्डलास्य' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें 'पाट' अक्षरों से युक्त भ्रमरी नृत्य किया जाता है। पहले इसका सामान्य नृत्य किया जाता था फिर विनायक ताल के अनुसार नर्तन होता है। तदनन्तर छः प्रेक्षास्थानक, गतियों एवं अनेक पादविन्यासों के द्वारा 'दण्डलास्य' प्रारम्भ होता था।[1] इस नर्तन में नर्तक 'वैशाख' स्थानक में स्थित रहता है तथा 'कपित्थ' मुद्रा में दण्डिका ग्रहण करके पाद के अग्रभाग से लघु संचरण करता है। इस नाट्य में पाँच बार नर्तन किया जाता है। इस नाट्य में 'विजयानन्द' नामक ताल प्रयुक्त किया जाता है। इसमें दो लघु तथा तीन गुरु और आठ मात्राएँ होती है। इसके नृत्य शब्द निम्न प्रकार हैं—

'योजनकुतगुणककुढि ढिकुढिकुढिकुकु तहकिणं तरिकु जकातद्धिककुकिटत-ककिझे।'

'दण्डिका' नामक लास्य में 'अध्यर्धिका' नामक चारी का प्रयोग किया जाता है। इस चारी में नर्तक दक्षिणपाद को पीछे रखता है और वामपाद को पीछे ले जाने का प्रयास किया जाता है। दण्डिका लास्य में चारी के अन्त में करण का प्रयोग होता है। इसके साथ 'विष्णुक्रान्त' नामक करण प्रयुक्त होता है। इस करण में नर्तक वामपाद पर स्थित रहता है और दक्षिणपाद को गगनोन्मुख करके उठाता है।[2] इस लास्य का सर्वप्रथम नर्तन 'महालक्ष्मी' ने किया था, इसी लिए इस लास्य का देवता 'महालक्ष्मी' मानी जाती है।

कलशलास्यम्—

'कलश' पंचम लास्य है। इस लास्य के लिए 'जयमङ्गल' नामक ताल का प्रयोग किया जाता है। इस ताल में दो लघु एवं एक गुरु तदनन्तर दो लघु एवं एक गुरु होते हैं। कुछ आठ मात्राएँ होती हैं। इस नाटच के लिस नृत्य के बोल इस प्रकार हैं—

'झककिटक-झककिटताझेझें-किण्णंकिटकुकुझें-थोंकणकुतटकिणकतककुढिकु-तघींझे।'

---

१. वही १३।७४५–७४८। २. वही १४। ८७७–८७८।

३. भरतार्णव १४।८७६–८८१।

'कलश' नामक नाटच में 'गरुड़प्लुत' नामक करण का प्रयोग होता है। इस करण में दक्षिणपाद पीछे की ओर प्रसारित किया जाता तथा उठाया जाता है और हाथ में 'पताका' हस्तमुद्रा बनाकर उसे आगे की ओर प्रसारित किया जाता है। इसके साथ 'एड़काक्रीडिता' चारी का प्रयोग किया जाता है। इस चारी में पहले पाद को धीरे धीरे संचालित किया जाता है तदनन्तर आगे की ओर शीघ्रता से संचालित किया जाता है।[1] इस नाटच का सर्वप्रथम नर्तन भगवती महालक्ष्मी ने किया था। अतः वे इसकी 'देवता' मानी जाती है। पेरुणी से कलश पर्यन्त पंचलास्यों में प्रथम में केवल शब्दनाटिका होनी चाहिए और अन्त में करण तथा चारी की योजना करनी चाहिए।

नन्दिकेश्वर का कथन है कि पेरुणी से लेकर कलश पर्यन्त पंचलास्यों का सम्मिश्रण 'चारीदर्पण' कहलाता है। सप्तलास्यों में गति, करण, चारी से युक्त जो शुद्ध एवं देशी ताण्डव निर्दिष्ट हैं उनका संयोग 'चारीभूषण' कहलाता है। इनमें शुद्धनाटच शिव के द्वारा और देशीनाट्य पार्वती के द्वारा प्रयुक्त किया गया था। क्योंकि नन्दिकेश्वर ने देशी एवं शुद्ध नाट्यों की उत्पत्ति पार्वती तथा शिव के द्वारा बतायी गई है।[2] भरतार्णव में 'ताण्डव एवं 'लास्य' शब्दों का प्रयोग पुरुष और स्त्री के मिले-जुले नृत्य के लिए किया गया प्रतीत होता है। उन सबके सम्मिलित रूप को 'सप्तलास्य' कहा गया है। प्रारम्भ के जो दो रूप देशी एवं शुद्ध निर्दिष्ट हैं उनके मौलिक तत्त्वों को 'ताण्डव' कहा गया है और शेष पाँच रूपों को 'लास्य' कहा गया है। इनमें शुद्ध एवं देशी ताण्डव के नर्तन में यदि किसी प्रकार की त्रुटि या अस्पष्टता रह जाती है तो उसकी पुष्टि 'चारीभूषण' के द्वारा ली जाती है। शुद्धनाटच में भूचारी एवं आकाशचारी के लिए छः छः तालें होती हैं। प्रत्येक ताल नृत्य के बोलों द्वारा पुष्ट किये जाते हैं। देशीनाटच में पूर्ण कंकालताल प्रयुक्त होता है। पेरुणी से कलश पर्यन्त पंचलास्यों के मिश्रित रूप 'चारीदर्पण' में वे तालें प्रयुक्त होती हैं जो दर्पणताल से प्रारम्भ होती हैं। ये तालें पवित्रता की सूचक होती हैं। इनके क्रम में चार्यलंकारनटनों के करण, करणताल एवं वीरविक्रमताल प्रयुक्त होते हैं। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में कैलासपर्वत पर देवों, गन्धर्वों, योगियों, सिद्धों, यक्षों, रुद्रगणों, असुरों एवं किन्नरों आदि के द्वारा समायोजित नृत्योत्सवों में विविध प्रकार के करण प्रकल्पित हुए। ये करण नृत्य के बोलों के साथ समादृत हुए और नृत्योत्सव के पूर्ण हो जाने पर नन्दिकेश्वर ने रुचि के अनुकूल चयन कर व्यावहारिकता के अनुकूल तालों, नृत्य

---

२. वही १४।८८२–८८५.

१. शुद्धलास्यं शिवश्चक्रे देशिनीं पार्वती तथा। (भरतार्णव १३।७६०)

के बोलों, उनके नाम, प्रकार एवं संचालनों का प्रयोग किया और ये ही करण-भूषण या करणों के अलंकरण कहलाये। इनकी प्रथम शिक्षा बृहस्पति को दी गई।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने सप्तलास्यों के रूप में ताण्डव और लास्य नृत्यों की जो परिकल्पना की है संगीतशास्त्र के इतिहास में वह अद्वितीय एवं मौलिक है। ताण्डव और लास्य इन दोनों नृत्यों का प्रयोग नाट्य में पूर्वरङ्ग के आदि में किया जाता है। इन दोनों का नाट्य से इतना गहरा सम्बन्ध है कि इन्हें भी नाट्य ही कहा जा सकता है क्योंकि ये दोनों ही नटकर्म के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। भरत ने ताण्डव एवं लास्य का वर्णन किया है किन्तु उनका वह वर्णन इतना विस्तृत एवं वैज्ञानिक नहीं है जितना नन्दिकेश्वर का। नन्दिकेश्वर ने सप्तलास्यों के आदि, मध्य अथवा अन्त में पुष्पांजलि का विधान बताया है।

●

सप्तम अध्याय

गीत एवं वाद्य

सङ्गीत—

'सङ्गीत' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'गै' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है सम्यक् रूप से गाया हुआ (सम्यक् गीतम्) अर्थात् अङ्गभूत क्रियाओं अर्थात् नृत्य-वादन के साथ किया हुआ कार्य (सम्यक् गायन) सङ्गीत कहलाता है।

सङ्गीत साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों मिलकर सङ्गीत कहलाते हैं[1]। जिसमें गीत की प्रधानता रहती है, वाद्य उसका अनुकारक और नृत्य उपरंजक होता है। भरत ने नाटचशास्त्र में गीत को नाटक के प्रमुख अङ्गों में अन्यतम अङ्ग कहा है और वादन एवं नर्तन दोनों को उसका अनुगामी बताया है[2]। कालिदास ने मेघदूत में सङ्गीत के उपादानों में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों की आवश्यकता का निर्देश किया है[3]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गीत, वाद्य, नृत्य और नाटच का उल्लेख सहचरी कला के रूप में किया गया है[4]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में वाद्य एवं नृत्य को गीत का अनुगामी बताया गया है और नृत्यकला के अध्ययन के लिए गीत एवं वाद्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक बताया गया है[5]। सङ्गीतदर्पणकार भी नृत्य, गीत एवं वाद्य तीनों के सम्मिलित रूप को सङ्गीत कहा है[6]।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में रूपक द्वारा बताया गया है कि सङ्गीत उस वृषभ के समान है जिसके चार श्रृङ्ग हैं—स्वर, गीत, वाद्य और ताल। तीन चरण हैं—गीत, नृत्य और वाद्य। दो शिर हैं—श्रोत्र-वाद्यादि उपकरण और

---

१. गीतं वाद्यं च नृत्तं च त्रयं संगीतमुच्यते। (संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय १।२१)

२. नाटचशास्त्र भाग ४,२६०–२६५।

३. पूर्वमेघ ५६।

४. कौटलीय अर्थशास्त्र २।२७।

५. विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।३५।

६. गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते। (संगीतदर्पण १।३)

७. चत्वारि भृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥ (ऋग्वेद)

गात्रवीणा। सात हाथ हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। वह वृषभ तीन स्थानों ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत (अथवा मन्द्र, मध्य, तार) में बँधा हुआ है। शब्द करता हुआ सङ्गीतरूप वह महादेव मनुष्यों में प्रतिष्ठित है। नाटचशालाओं में रंग-मंच पर इनका प्रयोग प्राचीनकाल से ही किया जाता रहा है। नाट्य में पूर्वरङ्ग का मंगलाचरण गीत, वाद्य एवं नृत्य से ही प्रारम्भ किया जाता है। केवल मंगलाचरण ही नहीं, बल्कि नाटक के मध्य एवं अन्त में भी गीत वाद्यादि का प्रयोग होता है। नाटक में अवसरानुकूल गीत-वाद्यादि की योजना का अपना अलग महत्त्व है। नाटक में किसी भी प्रकार से उत्पन्न हुई नीरसता एवं अवरुद्धता के निराकरण के लिए गीत-वाद्यादि की योजना रंजक एवं रुचिकर सिद्ध हो सकती है। युद्ध, मृत्यु आदि की कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनका प्रदर्शन रंग-मंच पर सम्भव नहीं है उनका स्पष्ट संकेत गीत-वाद्यादि के द्वारा किया जा सकता है। पात्रों के चरित्र के उभार के लिए गीत-वाद्यादि का प्रयोग गुणकारी बताया गया है। जैसे, नाटच की नायक-नायिका यदि शिव-पार्वती हैं तो उनके लिए ताण्डव एवं लास्य नृत्यों की योजना आवश्यक रूप से करणीय है। यदि नाटक के नायक श्रीकृष्ण हैं तो वंशी-वादन अधिक गुणकारी सिद्ध होगा। यदि प्रकृति का मनोरम दृश्य प्रदर्शित करना है तो उस समय सुकोमल, सरस एवं मधुर स्वर-लहरी की योजना सहायक सिद्ध होगी। इसी प्रकार पात्रों के हर्ष-शोकादि मनःस्थितियों के प्रकाशन के लिए करुण एवं उल्लासयुक्त स्वरों की सृष्टि करने वाला गीत-वाद्य उपकारक सिद्ध होगा। इस प्रकार नाटच में चाहे शृंगार रस प्रधान हो, अथवा हास्य, या वीर? नाटक के इतिवृत्त के अनुरूप ही गीत-वाद्यादि का आयोजन किया जाता है। यही कारण है कि नन्दिकेश्वर ने भी नाटच-विधान के अन्तर्गत गीत, वाद्य, नृत्य आदि सांगीतिक तत्त्वों पर भी विचार किया है। उन्होंने माहेश्वर के चौदह सूत्रों के आधार पर स्वर, गीत, ताल आदि सांगीतिक तत्त्वों का विवेचन किया है। इस प्रकार इस दिशा में एक मौलिक विचार प्रस्तुत कर उन्होंने सङ्गीत के क्षेत्र को एक सुष्ठु परिवेश प्रदान किया है। अभिनयदर्पण के अनुसार ब्रह्मा के चारों वेदों से क्रमशः पाठ्य, अभिनय, गीत एवं रस को ग्रहण कर नाटचवेद की रचना की है जो धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष का प्रदायक है[1]। इससे स्पष्ट है कि नाटचवेद के सृजन के लिए गीत भी उतना ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जितना की पाठ्य, अभिनय एवं रस। अभिनयदर्पण में कहा गया है कि नर्तकी को गीत, वाद्य एवं ताल के अनुवर्तन में कुशल होना

१. ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात्।
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः ॥
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मार्थकाममोक्षदम्। (अभिनयदर्पण ७-८)

चाहिए। उसके लिए आवश्यक गुणों में 'गायन-विद्या में निपुणता' एक प्रमुख गुण बताया गया है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाट्य में गीत, वाद्यादि का महत्त्व अपरिहरणीय है। अभिनवगुप्त ने तो गीत (गान) को नाट्य का सामान्य अंग न मान कर प्राणतत्त्व माना है[2]। शारदातनय ने भी गीत (गेय) को नाट्य-प्रयोग का प्राण बताया है[3]। यह बात ठीक भी लगती है; क्योंकि गीत केवल दर्शकों का मनोरंजन मात्र ही नहीं करता, बल्कि उन्हें रसानुभूति कराने में भी सहायक होता है। विद्वानों का कथन है कि संगीत एक वह कला है जिसके द्वारा प्रेक्षकों के हृदय में स्थित राग-द्वेषादि सब दब जाते हैं और मानव में शुद्ध सत्त्व का उदय होता है उस समय राग-द्वेष आदि से विनिर्मुक्त मानव-हृदय स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है और उसकी चेतना आनन्द रूप हो जाती है। यह आनन्दानुभूति ही रसानुभूति है और आनन्द ही 'रस' है[4]। यही आनन्द गीत की आत्मा है। यदि कोई गायक गीत के द्वारा इस आनन्द की सृष्टि नहीं कर सकता तो उसका गीत निर्जीव है। तभी तो याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जो इस आनन्दरूप गीत का अभ्यास करते हैं वे तप आदि के कष्ट का अनुभव किये बिना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं[5]। इस प्रकार भारतीय संगीत मोक्ष का साधन है, ईश्वर का स्वरूप है, सुखद होने के कारण ब्रह्मानन्द हैं, सत् है, चित् है और आनन्द रूप हैं।

सङ्गीत के प्रकार—

नन्दिकेश्वर ने संगीत के दो प्रकार बतायें हैं—मार्ग और देशी[6]। 'मार्ग' शब्द 'मार्ग्' अन्वेषणे धातु से अच् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है 'खोजा गया'। 'मृज् शुद्धौ' धातु से भी 'घञ्' प्रत्यय होकर 'मार्ग' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'शुद्ध या संस्कार किया गया'। शाङ्र्गदेव ने 'मार्ग' और देशी की परिभाषा इस प्रकार की है कि जिस संगीत को ब्रह्मादि ने खोजा और भरतादि ने शम्भु के सामने प्रयोग किया उसे 'मार्ग' संगीत कहते हैं, और जो विभिन्न देशों में जनरुचि के अनुसार हृदयरञ्जक होता है वह 'देशी'

---

१. अभिनयदर्पण २४–२७।

२. प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य। (अभिनवभारती, बड़ौदा संस्करण, पृष्ठ ३८६)।

३. गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वाग्गेयमुच्यते। (भावप्रकाशन (शारदातनय), पृष्ठ १८१)।

४. रसो वै सः (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवली, ७)

५. वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स विन्दति॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।११५)

६. मार्गं देशीं च यो वेत्ति स गान्धर्वोऽभिधीयते। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण—१)

है[1]। संगीतदर्पणकार दामोदरपण्डित उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करते हुए कहते है कि ब्रह्मा जी ने जिस संगीत को खोज कर निकाला है और भरत ने शिव के सामने जिसका प्रयोग किया है, वह मार्ग संगीत है और जो संगीत देश के भिन्न-भिन्न भागों में वहाँ के लोगों के रुच्यनुसार लोकानुरञ्जन करता आया है उसे 'देशी' कहते हैं[2]। इस प्रकार 'मार्गसंगीत' शास्त्रीय एवं नियमबद्ध था और 'देशीसंगीत' नियमों से परे जनसाधारण के मनोरञ्जन के लिए प्रयुक्त होता है। मार्गसंगीत देवलोक में देवताओं मुनियों से सम्बद्ध था, उसका प्रयोजन देव-परितोष था।

नन्दिकेश्वर के अनुसार मार्ग और देशी को जानने वाला 'गान्धर्व' कहा जाता था[3]। गान्धर्व में स्वरादि ज्ञान आवश्यक था। यह साम से भिन्न था। साम का अर्थ गान अथवा गीति है। प्राचीनकाल में सामगान की एक परम्परा रही है। पहिले यज्ञ-यागादि में सामगान होता था। बाद में दैनन्दिन जीवन का अङ्ग बन गया था। गान्धर्व सम्यक् रूप ये गाये जाने वाले गीत का बोधक है जो स्वर और ताल से समन्वित पदसमूह पर आश्रित होता है। दत्तिल का कथन है कि जो पदाश्रित स्वर से युक्त होता हुआ ताल में निबद्ध और अवधानपूर्वक प्रयुक्त होता है, उसे 'गान्धर्व' कहते[4]। गान्धर्व गन्धर्वों से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार गान्धर्व स्वरतालपदात्मक होता है।

नन्दिकेश्वर के अनुसार हृद्य (मनोहर) शब्द, राग-रागाङ्ग में निपुणता, भाषाङ्ग में विचक्षणता, क्रियाङ्गोपाङ्ग का ज्ञान, प्रबन्धगान में निपुणता, विविध

---

१. मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गं स उच्यते।
यो मार्गितो विरञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः।
देशे-देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम्॥
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते।
(संगीतरत्नाकर १।१।२१–२४)

२. मार्गदेशीविभागेन संगीतं द्विविधं मतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च॥
महादेवस्य पुरतः तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्।
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्यात् लोकानुरञ्जनम्॥
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते। (संगीतदर्पण १।३–५)

३. मार्गं देशीं च यो वेत्ति स गान्धर्वोऽभिधीयते। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्—१)

४. पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमित्यभिधीयते॥ (दत्तिलम्–३)

कलापों का तत्त्वज्ञान, सभी स्थानों में गायन-प्रयोग में अनायास गति, कण्ठ की मधुरता, ताल का ज्ञान, अवधान की पूर्णता, श्रम को जीतने वाला, शुद्ध छाया और लय का ज्ञान, काकु का ज्ञान, सब दोषों से रहित होना, ग्रह और मोक्ष में विचक्षणता. ये गायक के गुण कहे गये हैं। इनमें उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त गायक उत्तम होता है, कुछ गुणों से हीन गायक मध्यम गायक होता है और समस्त गुणों से हीन अर्थात् दोषयुक्त गायक अधम गायक होता है[१]।

नन्दिकेश्वर के अनुसार गायक पाँच प्रकार के होते हैं—शिक्षाकार, अनुकार, रसिक, रञ्जक और भावक[२]। इनमें बिना किसी कमी के शिक्षा देने में कुशल गायक शिक्षाकार कहलाता है। किसी दूसरे गायक का अनुकरण करने वाला गायक 'अनुकार' कहलाता है। रसानुभव करने वाला गायक 'रसिक' और श्रोताओं का अनुरञ्जन करने वाला 'रञ्जक' कहलाता है। गीत का अतिशय आधान करने वाला गायक 'भावक' कहा जाता है[३]। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने गायन के एकल, यमल, और बृन्दगायन ये तीन प्रकार बताये हैं। इनमें बिना किसी के सहायता के अकेला गाने वाला गायक 'एकल' कहलाता है। दूसरे के साथ मिलकर गाने वाला 'यमल' गायन कहा जाता है और जो गान समूह में गाया जाता है उसे 'बृन्दगायन' कहते हैं[४]।

नन्दिकेश्वर ने गायन के पचीस दोष बताये हैं—सन्दष्ट, उद्‌घृष्ट, सीत्कारी, भीत, शङ्कित, कम्पित, कराली, विकल, काकी, विताली, करभ, उद्भट, झोम्बक, तुम्बकी, वक्री, प्रसारी, विनिमीलक, नीरस, अपस्वर, अव्यक्त, स्थानभ्रष्ट, अव्यवस्थित, मिश्रक, अनवधान और सानुनासिक[५]। नन्दिकेश्वर के अनुसार ये गायन के पचीस दोष कहे गये हैं।

नाद—

'नाद शब्द 'णद् अव्यक्ते शब्दे' धातु से भाव अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है अव्यक्त—ध्वनि। यह ध्वनि ही नाद है, यही स्फोट का व्यञ्जक है। जब उस ध्वनि में वर्णो का स्पष्ट उच्चारण सन्निविष्ट होता है तब वह व्यक्त ध्वनि कहलाती है। नाद शब्द में दो अक्षर

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्—(श्लोक ४–८)

२. शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा।
भावकश्चेति गीतज्ञो पञ्चधा गायनं जगुः॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविरवण–९)

३. तदेव १०-११।

४. एकलो यमलो बृन्दगायनश्चेति त्रिधा।
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, श्लोक संख्या १२)

५. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्, १२–१५।

हैं—'न' और 'द'। इनमें नकार का अर्थ 'प्राण' है और दकार का अर्थ 'अग्नि'। इस प्रकार प्राण (वायु) और अग्नि के संयोग से जो शब्द (ध्वनि) उत्पन्न होता है, उसे नाद कहते है[1]। इसी नाद से वर्ण व्यक्त होता है, वर्ण से पद, पद से वचन और वचन से ही समस्त जागतिक व्यवहार चलता है अतः सारा जगत् इसी नाद के अधीन है[2]। यह समस्त जगत् नादात्मक है, इसके बिना न तो गीत की सत्ता है और न जगत् की; राग भी नाद के बिना सम्भव नहीं है[3]।

शारदातिलक में बताया गया है कि 'सच्चिदानन्द रूप विभूतित्रयी से सम्पन्न प्रजापति से सर्वप्रथम शक्ति का आविर्भाव होता है। वह शक्ति नाद को उत्पन्न करती है और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है[4]। बृहद्देशी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को नादरूप कहा गया है, और पराशक्ति भी नादरूपा है[5]।

शारदातनय के अनुसार इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना—इन तीन अभ्यन्तर नाड़ियों में से जब सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी अग्नि की शिखा के समाश्रित होती है तो वह प्राणों से संसृष्ट होकर 'नाद' नाम से स्पष्ट होती है[6]। नन्दिकेश्वर ने नादोत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया है कि आत्मा बुद्धि के साथ

---

१. सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुर्नीलसमप्रभः ॥ (शारदातिलक १।७)

२. नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपः पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः ॥ (बृहद्देशी पृ० ३)

३. नकारः प्राण इत्याहुः दकारश्चानलो मतः।
जातः प्राणाग्निसंयोगत्तेन नादोऽभिधीयते ॥ (बृहद्देशी, २२ तथा भरतकोष)
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोयात्तेन नादोऽभिधीयते ॥
(संगीतरत्नाकार १।३।६ संगीतदामोदर १।३९)

४. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसा व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥ (संगीतरत्नाकर १।२।२)

५. न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वराः।
न नादेन विना रागस्तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥
(बृहद्देशी १७–१७, भरतकोष, पृष्ठ ३२४ एवं संगीतदामोदर, पृष्ठ १६)

६. इड़ा पिंगला चेति सुषुम्ना चेति नामतः।
सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी शिखां वह्नेः समाश्रिता ॥
शिखा प्राणेन संसृष्टा नादाख्यां लभते स्फुटम्। (भावप्रकाशन, पृष्ठ १८४)

मिलकर मन को प्रेरित करता है, मन कायाग्नि को आहत करता है, वह आहत अग्नि वायु को प्रेरित करती है और वह उरःस्थान में संचरित होता हुआ 'मन्द्र' स्वर को उत्पन्न करता है। वही वायु कण्ठ स्थान में संचरित होकर 'मध्य' स्वर को उत्पन्न करता है और वही वायु शिरःस्थानगत होकर 'तार' स्वर को उत्पन्न करता है। वही वायु मूर्धा से आहत होकर मुख में पहुँच कर वर्णों को उत्पन्न करता है[1]। पाणिनीयशिक्षा में नाद एवं वर्णोक्ति के सम्बन्ध में बताया गया है कि आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर मन को विवक्षाधीन अर्थों के साथ युक्त करता है। वह मन शरीरस्थित अग्नि पर आघात करता है वह आहत अग्नि वायु को प्रेरणा देती है, वह वायु हृदय प्रदेश में संचरण करता हुआ मन्द्रस्वर (नाद) को उत्पन्न करता है, वही वायु उदीर्ण होकर मूर्धा से आहत होकर मुखयन्त्र में पहुँचकर वर्णों को उत्पन्न करता है । नन्दिकेश्वरकृत निरूपण का शारदातनय पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार शिव के डमरू से नाद की उत्पत्ति हुई है। इसी को शब्दब्रह्म या नादब्रह्म भी कहा गया है। शाङ्र्गदेव ने नाद और ब्रह्म को एक माना है। इसी नाद से सांगीतिक स्वरों की उत्पत्ति हुई है। नागेशभट्ट भी सांगीतिक स्वरों का मूल कारण नाद या स्फोट मानते हैं[3] यह नादब्रह्म ही वर्णमाला के अक्षरों को अभिव्यक्त करता है। अतः उसे 'परावाक' कहते हैं। वह एकात्म परावाक् समस्त ध्वनियों का कारण है। वह अपने तीन अवस्थाओं को प्रकट करता है—पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी।[4] इन तीन प्रकार की ध्वनियों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। इनमें स्थूल पश्यन्ती के अन्तर्गत ही ये सांगीतिक स्वर तथा आलाप होते हैं। जब वही स्वर उत्पादन की इच्छा के विषय होते हैं तब सूक्ष्म-पश्यन्ती से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु जब वे इस प्रकार की इच्छा के विषय भी नहीं बनते तब वे परा-पश्यन्ती से सम्बद्ध होते हैं।[5] नाद दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है—आहतनाद और अनाहतनाद।[6] इनमें हृदयाकाश में

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण (नन्दिकेश्वर)

२. आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायानिमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
(पाणिनीयशिक्षा–६)

३. लघुमंजूषा, पृष्ठ ३६९ । ४. नन्दिकेश्वरकाशिका, पृष्ठ २-३ ।

५. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृष्ठ ५८७ ।

६. आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।
(संगीतरत्नाकर १।२।३) संगीतदर्पण १।१५

रहने वाला अनाहत नाद योगियों द्वारा गम्य होता है और शेष सभी नाद आहत होते हैं। इनमें अनाहतनाद का सम्बन्ध हठयोगियों से है वे मोक्ष प्राप्त करने के लिए शब्दब्रह्म की उपासना करते हैं, किन्तु अनाहतनाद का संगीत से सम्बन्ध नही है, क्योंकि अनाहतनाद रञ्जक नहीं होता (न तु रञ्जकम्) और आहतनाद व्यवहार में रञ्जक बनकर भवभञ्जक भी बन जाता है[1]। आहतनाद आघातोत्पन्न ध्वनि है। यह मधुर एवं मनोरंजक होता है। यह नाद भी दो प्रकार का होता है—संगीतोपयोगी तथा तद्व्यतिरिक्त। वस्तुतः संगीतोपयोगी नाद ही 'नाद' है। इसी संगीतोपयोगी ध्वनि (नाद) का आरोहाबरोह भावों का उद्बोधक होता है और नियत अवधान देने पर सांगीतिक स्वरों का स्थान ग्रहण कर लेता है। नाटक मे अभिनेता जब आरोहावरोह आदि का स्पर्श मात्र करता है तब उसे 'संवाद' कहते हैं और जब वह ध्वनि के आरोहावरोह आदि पर पूर्ण अवधान[2] दे देता है तब वह संवाद न होकर 'गान' हो जाता है।[3] नाद के आरोहावरोह के अनुरूप उसके तीन प्रकार बताये गये हैं—मन्द्र, मध्य और तार। इनको नादस्थान कहते हैं। इनका स्थान क्रमशः हृदय, कण्ठ और मूर्द्धा माना गया है। इन्हीं से स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है। अर्थात् हृदय में मन्द्र, कण्ठ में मध्य और मूर्द्धा में तार नाद है। दामोदरपण्डित का कथन है कि बालक पशु, पक्षी, मृग आदि सभी नाद से सन्तुष्ट होते हैं, अतः नाद के महत्त्व को कौन वर्णन कर सकता है? क्योंकि नाद एक अथाह सागर है जिसकी सीमाएँ अज्ञात हैं, स्वयं सरस्वती भी नाद के किनारों से अभिज्ञ हैं। इसीलिए मानों सरस्वती इस नाद रूपी अथाह सागर में डूब जाने के भय से अपने वक्षःस्थल पर तुम्बिका को धारण किये हुए है।[4] इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् नादाधीन है। प्रत्येक मानव को स्वरलहरी इस नादरूपी अथाह सागर में हिलोरे लेती है। इस प्रकार संगीत और नाद अन्योन्याश्रित हैं।

श्रुति—

'श्रूयते इति श्रुतिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भी ध्वनि कानों को सुनाई दे, उसे 'श्रुति' कहते हैं। 'श्रुति' शब्द श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से क्तिन्

१. स नादस्त्वाहतो लोके रञ्जको भवभञ्जकः। (संगीतदर्पण १-१६)
२. अवधानं नाम मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणामैकाग्रयम् (शिंगभूपाल)।
३. अभिनवभारती (अभिनवगुप्त)
४. पशुः शिशुर्मृगो वापि नादेन परितुष्यति।
अतो नादस्य माहात्म्यं व्याख्यातुं केन शक्यते॥
नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥ (संगीतदर्पण १।३२)

प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'जो सुनने योग्य हो'। संगीत-रत्नाकर में 'श्रूयते इति श्रुतिः' यह परिभाषा दी गई है अर्थात् जो शब्द कान से सुना जाता है वह 'श्रुति' कहलाती है। दामोदरपण्डित के अनुसार प्रथमाघात से अनुभव हुए विना जो ह्रस्व (हंकार) नाद उत्पन्न होता है उसे श्रुति समझनी चाहिए।[१] अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्येक ध्वनि श्रुति है चाहे वह रञ्जक हो या अरंजक हो; क्योंकि सुनाई तो सभी देती हैं।[२] इस प्रकार रंजक या अरंजक अनुरणनात्मक ध्वनि 'श्रुति' है। ध्वनि ही कर्णगोचर अथवा श्रवणीय होने के कारण 'श्रुति' कही जाती है। यदि वह ध्वनि रंजक है तो 'स्वर' है और यदि अरंजक ध्वनि है तो वह स्वर नहीं, बल्कि श्रवणीय होने से 'श्रुति' है। इससे स्पष्ट है कि आघात से उत्पन्न प्रत्येक ध्वनि 'श्रुति' है और उसका रंजक अनुरणन 'स्वर'। नन्दिकेश्वर भी श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य प्रत्येक ध्वनि को 'श्रुति' कहते हैं (श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत्)। नन्दिकेश्वर का कथन है कि संगीत में नाद के तीन भेद होते हैं—मन्द्र, मध्य और तार। इनमें मन्द्र का हृदय, मध्य का कण्ठ और तार का मूर्धा स्थान है। अतः श्रुतियां भी तीन प्रकार की होती हैं। इन श्रुतियों के आधार पर ही स्वरों के दो प्रकार माने गये हैं—शुद्धस्वर तथा विकृतस्वर। तदनुसार जो स्वर श्रुतियों पर आधारित होते हैं वे 'शुद्धस्वर' कहे जाते हैं और जो स्वर श्रुतियों पर आधारित नहीं होते वे विकृत या अशुद्ध स्वर कहे जाते हैं।[३]

संगीतशास्त्र में कहा गया है कि एक सप्तक में बाइस श्रुतियाँ ही उत्पन्न हो सकती है। जैसा कि नन्दिकेश्वर ने कहा है कि आत्मा मन को प्रेरित करता है, मन शरीर में रहने वाली अग्नि को जगाता है, अग्नि उदरस्थ वायु को प्रेरित करती है। हृदय की ऊर्ध्वनाड़ी से संलग्न बाइस नाड़ियां हैं। उन पर वायु का आघात होने से बाइस ध्वनियां उच्च-उच्चतर रूप में उत्पन्न होती हैं। इसे 'मन्द्र-ध्वनि' कहते हैं। ये ही बाइस श्रुतियाँ कहलाती हैं। इसी प्रकार कण्ठ में इससे द्विगुण प्रमाण की अन्य बाइस ध्वनियां उत्पन्न होती हैं जिन्हें 'मध्य' ध्वनि कहते हैं और शिर में भी इससे भी द्विगुण प्रमाण की बाइस और ध्वनियां उत्पन्न होती हैं जिन्हें तारध्वनि कहते हैं। इन समस्त ध्वनियों को 'श्रुति' कहते हैं। इस प्रकार मन्द्र, मध्य, तार

---

१. श्रुश्रवणे चास्य धातोः क्तिप्रत्ययसमुद्भवः।
श्रुतिशब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भावसाधनः ॥ (मतंग—बृहद्देशी २६–२७)

२. संगीतदर्पण, ५१।

३. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, ३०। अभिनवभारती (गायकवाड़), चतुर्थ भाग, पृष्ठ ११-१५।

४. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ५४५।

इन तीन सप्तकों को मिलाकर छाछठ श्रुतियां उत्पन्न हो सकती हैं।[१] भरत, शाङ्र्गदेव आदि आचार्य भी श्रुतियों की संख्या बाइस स्वीकार करते हैं। संगीत-शास्त्र में इनका सम्बन्ध वीणा के तारों से जोड़ा गया है। मतंग ने श्रुतिवीणा' का उल्लेख किया है जिसमें बाइस तार होते हैं। शाङ्र्गदेव ने 'श्रुतिवीणा' के दो प्रकार बताये हैं—ध्रुववीणा और चलवीणा। इन दोनों में बाइस-बाइस तार होते हैं। इनमें ध्रुववीणा के बाइस तारों पर बाइस ध्वनियां (श्रुतियां) स्थिर रूप में सुनाई देती हैं और 'चलवीणा' में श्रुतियों को बदला जाता है। इस प्रकार भरत, दत्तिल, मतंग, शाङ्र्गदेव आदि आचार्य बाइस श्रुतियां मानते हैं किन्तु हनुमन्मतानुसार श्रुतियां अठारह होती है। शारदातनय के अनुसार धमनियां चौबीस होती हैं अतः श्रुतियां भी चौबीस मानी जानी चाहिए।[२] यूनानियों एवं ईरानियों के मत में भी श्रुतियां २४ होती है। इस प्रकार श्रुतियों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद पाया जाता है। कोई तीन कोई बाइस, कोई छाछठ और कोई अनन्त श्रुतियां स्वीकार करते हैं।[३] मतंग भरत के मत से नव श्रुतियाँ मानते है।[४] अभिनवगुप्त ने इनका खण्डन कर दिया है। वस्तुतः श्रुतियां बाइस ही है। मन्द्र, मध्य एवं तार इन ध्वनियों के आधार पर उनकी संख्या छाछठ भी मानी जा सकती है। पार्श्वदेव आदि आचार्यों ने ६६ श्रुतियाँ मानी है।

स्वर—

नाद का जो प्रथम श्रवण होता है उसे 'श्रुति' कहते हैं और श्रुतियों के अनन्तर जो अनुरणन होता है वह 'स्वर' कहलाता है। इस प्रकार श्रुतियों से उत्पन्न स्वर अनुरणनात्मक होता है जो मन का रंजन करने के कारण स्वर (स्वन्) कहलाता है[४]। मतंग स्वर शब्द को स्व उपपद पूर्वक 'राजृ दीप्तौ' धातु से निष्पन्न

---

५. संगीतशास्त्र, पृष्ठ १०।

१. भावप्रकाशन (शारदातनय), पृष्ठ १८६-१८७।

२. द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमन्ये प्रतिपादयन्ति॥
(कोहल—बृहद्देशी पृष्ठ ३) (शिंगूलपाल–संगीतरत्नाकर की टीका, पृ० ६८)

३. बृहद्देशी, २८।

४. (क) श्रुत्यन्तभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुर्चित्तं स स्वर उच्यते॥ (संगीतरत्नाकर १।२४-२५)

(ख) श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
योगाद्वा रूढ़ितो वापि स स्वरः श्रोतृरञ्जकः॥ (संगीतराज १७८-१९९)

मानते हैं जो स्वयं राजित होता है इसलिए उसे 'स्वर' कहते हैं[१]। नान्यदेव का भी कथन है कि जो अपने को स्वयं राजित करता है उसे 'स्वर' कहा जाता है[२]। अभिनवगुप्त के अनुसार जो स्वयं अपने में जाति, राग, भाषा आदि भेदों में राजित होता है वह 'स्वर' है[३]। उन्होंने इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का भी उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि मानव शरीर में नियत संख्यावाली अन्तराल श्रुति में प्राणवायु के द्वारा जो थोड़ा स्पर्श होता है उसके प्रभाव से श्रुतिस्थान पर स्निग्धता एवं रंजकता से युक्त जो धर्म अपनी आश्रयगत श्रुति का उपरंजक होता है, वही 'स्वर' है[४]। दूसरे विद्वानों का कथन है—षड्ज श्रुति ही स्वर है[५]। क्योंकि षड्ज से ही अन्य स्वर उत्पन्न होते हैं। नाक, कण्ठ, हृदय, जिह्वा, दन्त, दाढ़ आदि छः स्थानों से ध्वनित होने के कारण इसे 'षड्ज' कहते हैं। जब षड्ज स्वर की स्थापना हो गई तो उसके बाद ही ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद आदि छः स्वरों का रूप एवं नाम स्थिर हो सका। इसीलिए 'षड्ज' को छहों स्वरों का जनक कहा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि श्रुतियों का समूह ही स्वर है[६]। किन्तु अभिनवगुप्त अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुतिस्थान पर आघात से उत्पन्न शब्दों से प्रभावित अनुरणनरूप स्निग्ध एवं मधुर नाद ही स्वर है[७]। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये श्रुतियाँ ही स्वरों की जननी हैं। इन श्रुतियों के द्वारा ही षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर उत्पन्न होते

---

१. राजृदीप्तावस्य धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च।
स्वयं हि राजते यस्मात्तस्मात् स्वर इति स्मृतः ॥
(मतंग–वृहद्देशी श्लोक ६३-६४)।

२. स्वयमात्मानं रञ्जयति निपातनादिति स्वरनिरूपितः।
(नान्यदेव–भरतकोष, पृष्ठ ७५९)।

३. स्वयं स्वेष्वेव जातिरागभाषाभेदेषु राजन्त इति स्वराः।
(अभिनवभारती, भाग ४ पृष्ठ ११)।

४. तत्रान्तरालश्रुतिषु नियतसंख्याकासु ईषद्यो वायुना स्पर्शस्तन्महिम्ना यः स्वरः श्रुतिस्थाने स्निग्धत्वरक्तत्वलक्षणो धर्मः तस्याश्रयभूतायाः श्रुतेरुपरञ्जकः स एव स्वर इति केचित् ॥
(अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ११)।

५. षड्जश्रुतिरेवेत्यपरे। (अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ११)।

६. समूह इत्येके। (अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ११)।

७. वयं तु श्रुतिस्थानाभिघातप्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वर इति वक्ष्यामः। (अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ११)।

हैं[1]। इनमें प्रथम चार श्रुतियों से षड्ज स्वर उत्पन्न होता है और पंचम, षष्ठ एवं सप्तम श्रुतियों से ऋषभ स्वर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अष्टम एवं नवम श्रुतियों से गान्धार; दशम, एकादश, द्वादश एवं त्रयोदश—इन चार श्रुतियों से मध्यम; चतुर्दश, पञ्चदश, षोडश एवं सप्तदश—इन चार श्रुतियों से पञ्चम; अठारहवीं, उन्नीसवीं एवं बीसवीं श्रुतियों से धैवत तथा इक्कीसवीं एवं बाइसवीं श्रुतियों से निषाद की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार षड्ज की चार, ऋषभ की तीन, गान्धार की दो, मध्यम की चार, पञ्चम की चार, धैवत की तीन और निषाद की दो श्रुतियां होती हैं[2]। सामवेद में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र एवं अतिस्वार्य ये सात स्वर बताये गये हैं। ये क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद एवं पंचम के समान हैं[3]।

नन्दिकेश्वर शिव के चतुर्दश सूत्रों के आधार पर सप्तस्वरों का विवेचन सर्वथा मौलिकरूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार शिव के डमरू से चौदह सूत्र निकले हैं[4]। इनमें प्रथम चार सूत्रों[5] में नौ स्वर प्रतिपादित हैं जिनमें नन्दिकेश्वर के अनुसार द्वितीय सूत्र ऋ लृक् की ऋ लृ ये दोनों नपुंसक ध्वनियां हैं[6]। वास्तविक स्वर तो सात ही हैं। ये ही सात स्वर सांगीतिक स्वरों

---

१. श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥
(संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय, पृ० ७८-७९)।

२. षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तथा।
द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः।
चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा॥
द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात्··············॥ (नाट्यशास्त्र, २८।२५-२६)।

३. यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गान्धारः तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो वक्तव्यः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः॥
(नारदीयशिक्षा, १।५।१-२)।

४. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥ (नन्दिकेश्वरकाशिका, १)।

५. चत्वारि स्वरसूत्राणि स्वरास्तेषु नव स्मृताः। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २३)।

६. अइउण्। ऋऌक्। एओङ्। ऐऔच्। (सिद्धान्तकौमुदी, पृ० १)।

७. सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋऌ नपुंसकौ। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २४)।

के मूल आधार हैं। प्रथम सूत्र (अ इ उ ण्) में अ, इ, उ ये तीन लघुस्वर हैं। इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की एक इकाई है। इन्हीं को क्रमशः षड्ज, ऋषभ एवं गान्धार कहते हैं[1]। इसी प्रकार तृतीय सूत्र (एओङ्) में ए, ओ ये दो दीर्घ स्वर हैं, इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की दो इकाईयाँ हैं। इन्हें ही क्रमशः मध्यम एवं पंचम कहते हैं[2]। इसी प्रकार चतुर्थ सूत्र (ऐऔच्) में ऐ, औ ये दोनों अतिदीर्घ स्वर हैं। इनका उच्चारणकाल सांगीतिक समय की तीन इकाइयां हैं। इन्हें क्रमशः धैवत एवं निषाद कहा जाता है[3]। इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों के आधार पर सांगीतिक स्वरों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार मूलतः तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनमें उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर को उदात्त, नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त तथा मध्यवर्त्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वर स्वरित कहलाते हैं। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त (उच्चत्व और नीचैस्त्व) दोनों का समाहार होता है। चतुःश्रुति स्वर उदात्त से निषाद और गान्धार उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये अपने पूर्ववर्त्ती (द्विश्रुति एवं त्रिश्रुति) स्वरों की अपेक्षा उच्चतर होते हैं। द्विश्रुति स्वर अनुदात्त से ऋषभ एवं धैवत स्वर उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये त्रिश्रुति एवं चतुःश्रुति स्वरों की अपेक्षा नीचतर होते हैं। इसी प्रकार त्रिश्रुतिक स्वर स्वरित से षड्ज, मध्यम एवं पंचम स्वर उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये द्विश्रुतिक स्वरों की अपेक्षा उच्चतर तथा चतुःश्रुतिक स्वरों की अपेक्षा नीचतर होते हैं[4]। अभिनवगुप्त के अनुसार वस्तुतः तीन ही स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ और गान्धार। पञ्चम, धैवत और निषाद ये तीन स्वर षड्ज, ऋषभ एवं गान्धार के परिमाणों की आवृत्तिमात्र हैं और मध्यम तो इन स्वरों के मध्य में होने के कारण ध्रुवस्थानीय हैं। उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर उदात्त, नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त और मध्यवर्त्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वर स्वरित होते हैं। श्रोत्रिय स्वरित में ही कम्पत्व का व्यवहार करते हैं[5]। इस प्रकार स्वरों के क्रमशः दो

---

१. अइउण् सरिगाः स्मृताः। (रुद्रडमरूद्भवसूत्र विवरण २६)।

२. एओङ् मपौ······ (वही २६)।   ३. धनी ऐऔच् (वही २७)।

४. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण २८-२९)

५. तेन परमार्थतः त्रय एव स्वराः—सरिगाः, पधनयः। मध्यमस्तु ध्रुवस्थानीयो मध्यमत्वादेव। चतुःश्रुतिरुदात्तः उच्चत्वात्, द्विश्रुतिरनुदात्तः नीचैस्त्वात्, त्रिश्रुतिः स्वरितः मध्यवर्तितया समाहारत्वात्। तथा हि—स्वरित एव कम्पितत्वं व्यवहरन्ति श्रोत्रियाः
(अभिनवभारती, भाग ४, पृ० १४)।

त्रिक बनते हैं। तीन स्वरों के समूह को त्रिक कहते हैं। प्रथम त्रिक में षड्ज, ऋषभ और गान्धार है और द्वितीय त्रिक में पञ्चम, धैवत एवं निषाद हैं। मध्यम तो इन दोनों के मध्यवर्त्ती होने से ध्रुव स्थानीय हैं। पाणिनि और नारद इन्हीं तीन स्वरों को मान्य करते है और इन्ही से षड्जादि सप्त स्वरों की उत्पत्ति बताते हैं।

नन्दिकेश्वर सांगीतिक दृष्टि से तीन स्वर स्वीकार करते हैं—मन्द्र, मध्य और तार। प्रत्येक स्वर अपने पूर्व स्वर के परिमाण से दुगुना होता है। इस प्रकार मध्य स्वर मन्द्र स्वर से दुगुना और तार स्वर मध्य स्वर से दुगुना होता है[1]। इन्हीं तीनों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का अन्तर्भाव किया जा सकता है। हम मन्द्र स्वर को अनुदात्त, मध्य को स्वरित और तार को उदात्त कह सकते हैं। नन्दिकेश्वर ने इन तीन स्वरों का स्थान क्रमशः हृदय, कण्ठ और मूर्धा बताया है। जिन स्वरों के उच्चारण में हृदय पर जोर पड़ता है वे मन्द्र, कण्ठ पर जोर पड़ता है तो मध्य तथा मूर्धा पर यदि जोर पड़ता है तो 'तार' कहलाते हैं। ये ही स्वरों के उद्गमस्थान हैं। भरत के अनुसार स्वर चार प्रकार के होते हैं—वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी।

नन्दिकेश्वर ने श्रुति के आधार पर स्वर के दो भेद बताये हैं—शुद्धस्वर और विकृतस्वर। इनमें जो स्वर श्रुति का अनुसरण करते हैं और अपने स्थान से कभी च्युत नहीं होते, वे शुद्धस्वर कहे जाते हैं और जो श्रुति का अनुसरण नहीं करते और अपने स्थान से च्युत होते हैं उन्हें विकृतस्वर कहते है। नन्दिकेश्वर के अनुसार श्रुतियाँ २२ हैं। इनमें चार, सात, नौ, तेरह, सत्तरह, बीस और बाइस श्रुतियाँ प्रकृतिप्रदत्त शुद्धस्वर हैं। ये शुद्धस्वर सात हैं। इनमें वहाँ प्रकृतिप्रदत्त (शुद्ध) नष्ट हो जाते हैं, उन्हें विकृतस्वर कहते हैं[2]।

ग्राम—

स्वरों के समूह को 'ग्राम' कहते हैं। 'ग्राम' शब्द का अर्थ 'समूह' होता है। जिस प्रकार कुटुम्ब में सभी कुटुम्बी एक साथ मिलकर रहते हैं उसी प्रकार स्वरों का समूह 'ग्राम' कहलाता है[3]। स्वर सात प्रकार के होते हैं—षड्ज,

१. अस्माद्यद्द्विगुणं प्रोक्तं मन्द्रस्थानं तदुच्यते।
मन्द्रात्तु द्विगुणं मध्यं मध्यात्तारं तृतीयकम्॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण २७–२८)

२. चतुःसप्तांङ्कविधिसप्तदशविंशतिद्वाविंशतिरितिसप्तस्थानसंरक्षिताः शुद्धाः।
येषां शुद्धत्वहानिः स्यात्ते स्वरा विकृता मताः॥
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण–३०)

३. यथा कुटुम्बिनः सर्वेप्येकीभूता भवन्ति हि।
तथा स्वराणां सन्देहो 'ग्राम' इत्यभिधीयते॥
(संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय, पृष्ठ १०१)

ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन्हीं को **सरिगमपधनी** कहते हैं। अतः सात स्वरों के समूह को 'स्वर-सप्तक' भी कहते हैं। इसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान रहती हैं। इस विशिष्ट व्यवस्था के अनुसार स्थापित सात विशिष्ट स्वरों के सप्तक को 'ग्राम' कहते हैं। ग्राम को मूर्च्छनाओं का भी आधार कहा गया है। अतः स्वरों के उस समूह को ग्राम कहा जाता है जो मूर्च्छनाओं या स्वरसप्तकों का आश्रय हो[1]। मूल ग्राम का नाम 'षड्ज' ग्राम था। किन्तु कुछ स्वरों में पञ्चम का इतना उतार हो जाता है कि उसका सम्वाद ऋषभ के साथ होने लगता है। ऐसे पञ्चमयुक्त षड्जग्राम को मध्यम ग्राम कहा जाने लगा। इस प्रकार ग्राम दो होते हैं—षड्जग्राम और मध्यमग्राम। नन्दिकेश्वर ने षड्ज एवं मध्यम इन्हीं दो ग्रामों को स्वीकार किया है[2]। उन्होंने गान्धार ग्राम का उल्लेख नहीं किया है। भरत ने भी दो ग्रामों का उल्लेख किया है। इनमें षड्ज ग्राम में षड्ज की चार श्रुतियाँ, ऋषभ की तीन, गान्धार की दो, मध्य की चार, पञ्चम की चार, धैवत की तीन और निषाद की दो श्रुतियाँ होती हैं और मध्यम ग्राम में मध्यम की चार, पञ्चम की तीन, धैवत, की चार, निषाद की दो, षड्ज की चार, ऋषभ की तीन और गान्धार की दो श्रुतियाँ होती हैं[3]। मतंग ने षड्ज और मध्यम इन दो ग्रामों का उल्लेख किया है।[4] भरतादि के अनुसार शारदातनय ने षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम ये दो ग्राम ही माने हैं[5]। इस प्रकार दोनों ग्रामों में षड्जग्राम के षड्जादि सात स्वरों के समूह को 'षड्जसप्तक' और मध्यमग्राम के सात स्वरों के समूह को 'मध्यम-सप्तक' कहते हैं। इसमें प्रत्येक सप्तक के मन्द्र, मध्य और तार ये तीन स्थान होते हैं। इनमें प्रत्येक स्वर अपने पूर्व स्वर के परिमाण से दुगुना होता है। इसी प्रकार मन्द्र स्वर अतिमन्द्र स्वर से दुगुना होता है, मध्य स्वर मन्द्र स्वर से दुगुना और तारस्वर मध्यस्वर से दुगुना है।[6] इस प्रकार स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए ये तीन स्थान निश्चित हैं। कुछ आचार्य इनके अतिरिक्त 'गान्धारग्राम' को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार गान्धार ग्राम का लौकिक विनोद में

---

१. ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।
(संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्यायः, पृष्ठ ९९)

२. स्थानद्वयसमारम्भात् षड्जमध्यमग्रामयोः।
द्विविधा मूर्च्छनाः प्रोक्ताः·············· ॥ (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण ३१)

३. नाटयशास्त्र (चौखम्बा), २८।२३–२६।

४. षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल। (मतंग—भरतकोष पृष्ठ १८९)

५. भावप्रकाशन पृष्ठ १८८। ६. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम् २७-२८।

प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु सोमेश्वर ने लौकिक विनोद में उसका प्रयोग निषिद्ध बताया है। नारद के अनुसार गान्धार ग्राम का प्रयोग स्वर्ग में होता है।[१]

मूर्च्छना—

'मूर्च्छना' शब्द 'मूर्च्छ्' धातु से करण में घञ् (अ) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ मोह, समुच्छ्राय (उभरना या चमकना) होता है।[२] भरत के अनुसार क्रमयुक्त सात स्वरों की संज्ञा 'मूर्च्छना' है।[३] मतंग आरोहावरोह क्रम से प्रयुज्यमान स्वरसप्तकों को 'मूर्च्छवा' कहते हैं।[४] नान्यदेव का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय (आरोह) होता है उस स्वर की जब समाप्ति हो, तब 'मूर्च्छना' होती है। जैसे षड्जग्राम में प्रथम मूर्च्छना का स्वर-सन्निवेश 'स रि ग म प ध नि स' होने पर षड्ज मूर्च्छित होता है।[५] तुम्बुरु श्रुति की मृदुता (मार्दव) को मूर्च्छना' कहते हैं।[६] कोहल का मत है कि रागरूपी अमृत के ह्रद में गायकों एवं श्रोताओं के हृदय का निमग्न होना मूर्च्छना' है।[७] शार्ङ्गदेव सात स्वरों के क्रमशः आरोहावरोहक्रम को 'मूर्च्छना' कहते हैं।[८] नन्दिकेश्वर भी इसी मत को मानते हैं। वस्तुतः आरोहावरोह क्रम से

---

१. नारदेन तदनुसारिणा नान्यदेवेन (च) गान्धारग्रामजातरागा उपदिष्टाः, नारदेन यज्ञोपयोगिनः। नान्यदेवेन लौकिकविनोदे च ते प्रयोज्यन्ते। ते लौकिकप्रयोगेष्व-प्रशस्ता इति सोमेश्वरेणोक्तम्। गान्धारग्रामस्य केवलं स्वर्गे प्रयुक्तत्वं नारदेना-भिहितम्। (भरतकोष, पृ० ५४२)

२. मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मूर्छ्धातुस्ततो ल्युटि।
करणार्थे मूर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये॥ (भरतकोष, पृष्ठ ५०१)

३. क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिताः। (नाट्यशास्त्र, २८।३२)

४. आरोहणावरोहणक्रमेण स्वरसप्तकम्।
मूर्च्छनाशब्दवाच्यं विज्ञेयं तद्विचक्षणैः॥ (बृहद्देशी, श्लोक ९४–९५)

५. तत्र येनैव स्वरेणोच्छ्रायः प्रवर्तते, तेनैव स्वरेण यदा समाप्तिरपि भवति तदा मूर्च्छना जायते। यथा षड्जग्रामे प्रथमायां मूर्च्छनायां 'सरिगमपधनिस' इति स्वरसन्निवेशे सति षड्जो मूर्च्छति। (नान्यदेव–भरतकोष, पृष्ठ ५०२)

६. श्रुतेर्मार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः। (हरिपाल-भरतकोष, पृष्ठ ५००)

७. गायतां शृंण्वतां चापि भवेद्रागामृते ह्रदे।
मनसो मज्जनं यत् स्यान्मूर्च्छनेत्याह कोहलः॥ (हरिपाल–भरतकोष, पृष्ठ ५००)

८. क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···॥ (संगीतरत्नाकर, स्वराध्याय)

आरम्भ होने वाले सात स्वर मतंग द्विविध मूर्च्छना का प्रतिपादन करते हैं। वे सप्तस्वरमूर्च्छना भी मानते हैं और द्वादशस्वरमूर्च्छना भी।[1]

सप्तस्वरमूर्च्छनावाद—

सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के आधार ग्राम हैं। ग्राम दो होते हैं--षड्जग्राम और मध्यमग्राम। इनमें षड्जग्राम के सात स्वर और मध्यमग्राम के सात स्वर कुल चौदह स्वर होते हैं। इनमें प्रत्येक स्वर की चार-चार मूर्च्छनाएँ होती हैं। भरत ने सप्तस्वरमूर्च्छनाओं पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया है। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार सप्तस्वरमूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती है—पूर्णा, षाडवा, ओडुविता और साधारणा।[2] इनमें सात स्वरों से गाई जानेवाली मूर्च्छना 'पूर्णा, छः स्वरों से गाई जाने वाली षाड़वा, पाँच स्वरों से गाई जाने वाली औडुविता और काकलीनिनाद एवं अन्तरगान्धार से युक्त साधारणी मूर्च्छना होती है। मतंग और दत्तिल इसी मत को स्वीकार करते हैं।[3] शिगभूपाल ने प्रथम दृष्टि-कोण को मतंग एवं दत्तिल सम्मत बताया है, भरत सम्मत नहीं। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार मूर्च्छनाओं के चार भेद हैं—शुद्धा, काकलीसहिता, सान्तरा और साधारणकृता।[4] मतंग ने भी इसी मत का उल्लेख किया है।[5] शाङ्र्गदेव भी इसी मत को स्वीकार करते हैं।[6] इस प्रकार दो ग्रामों में प्रत्येक स्वर के चार-चार भेद

---

१. सा मूर्च्छना द्विविधा—सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति।
(बृहद्देशी, पृष्ठ २२)

२. एवमेताः स्वरक्रमयुक्ताः पूर्णाः षाडवौडुवीकृता, स्वरसाधारणकृताश्चेति मूर्च्छनाश्च-तुर्दश भवन्ति। (नाटचशास्त्र गायकवाड़; भाग ४, पृष्ठ २५)

३. मतंगदत्तिलौ तु मूर्च्छनानामन्यथा चातुर्विध्यमवादिष्टाम्। यदाह मतंगः—'तत्र सप्तस्वरा मूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा षाडवौडुविता साधारणी चेति। तत्र सप्तभिः स्वरैर्या गीयते सा पूर्णा, षड्भिः स्वरैर्या या गीयते सा षाडवा, पंचभिः स्वरैर्या या गीयते सौडुविता, काकल्यन्तरैः स्वरैर्या या गीयते सा साधारणी इति। दत्तिलोऽप्याह—

स्वरौ यावतिथौ स्यातां ग्रामयोः षड्जमध्यमौ।
मूर्च्छना तावतिथ्येव तद्ग्रामद्वितये तथा॥
सर्वास्ताः पंचषट्पूर्णासाधारणकृताः स्मृताः।

(संगीतरत्नाकर, शिगभूपाल की टीका, स्वरगताध्याय, पृष्ठ ११४)

४. षट्पंचकस्वरास्तासां षाडवौडुविताः स्मृताः।
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः॥
अन्तरस्वरसंयुक्ताः मूर्च्छना ग्रामयोः द्वयोः। (नाटचशास्त्र, २८।३२-३३)

५. बृहद्देशी, पृ० ३९। ६. संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय, पृष्ठ १०७।

होने के कारण छप्पन मूर्च्छनाएँ होती हैं। नन्दिकेश्वर के मतानुसार दो ग्राम होते है–षड्ज और मध्यम। इनमें षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएँ सात प्रकार की होती है उनके नाम भरतद्वारा कथित हैं। ये सात भेद पुनः सात भागों में विभक्त होते है जिन्हें तान कहते हैं। इस प्रकार ४९ तानें होती है। नन्दिकेश्वर के अनुसार तानभेद से मूर्च्छना सात प्रकार की होती है–आर्चिका, गाथिका, सामिका, स्वरान्तरा, औडुवा, षाड़वा और पूर्णा।[1] उनमें आर्चिका एक रूपा है, यह एक स्वर का सांगीतिक अलंकार है। गाथिका द्विरूपा, अर्थात् दो स्वर की सामिका त्रिरूपा, अर्थात् तीन स्वर की है। चार स्वरों से युक्त स्वरान्तरा २४ रूपों से युक्त होती है। पाँच स्वरों से गाई जाने वाली औडुवा १२० रूपों से युक्त होती है। छः स्वरों से गाई जाने वाली षाड़वा ७२० प्रकार की होती है और सात स्वरों से गाई जाने वाली पूर्णा ५०४० प्रकार की होती है।[2]

द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद—

भरत ने मूर्च्छनाओं का एकमात्र प्रयोजन मन्द्र, मध्य एवं तार स्थानों की प्राप्ति माना है किन्तु नन्दिकेश्वर मूर्च्छनाओं का प्रयोजन स्थान प्राप्ति के साथ-साथ जाति, राग आदि की सिद्धि भी मानते है। राग की सिद्धि एक स्थान के सात स्वरों में संभव नहीं है अतः उन्होंने मध्यसप्तक के स्वरों के आगे-पीछे मन्द्र एवं तार स्थान के कुछ स्वरों को जोड़कर बारह-बारह स्वरों के समूह बनाये। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के अनुसार जाति, राग भाषा आदि की सिद्धि के लिए तथा तार, मन्द्र आदि की सिद्धि के लिए द्वादश-स्वर-सम्पन्न-मूर्च्छना जाननी चाहिए[3]। इस प्रकार द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद के उद्भावक नन्दिकेश्वर माने जाते हैं। मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं का विवेचन किया है। उनका कहना है कि यद्यपि आचार्यों ने सप्तस्वर मूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है किन्तु मन्द्रादि तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना का प्रयोग बारह

---

१. आर्चिका गाथिका चैव सामिकाश्च स्वरान्तरा।
औड़वा, षाडवा पूर्णा सप्तधा मूर्च्छना मता॥
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण ३२)

२. तदेव ३३-३८।

३. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिद्धचर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये॥
(नन्दिकेश्वर–बृहद्देशी, पृष्ठ २२)

स्वरों के द्वारा किया गया है[1]। कोहल ने द्वादशस्वरमूर्च्छना की चर्चा तो नहीं की है किन्तु जाति, भाषा आदि की सिद्धि के लिए मूर्च्छना की स्थापना कर लक्ष्यानुसार स्वरक्रम की योजना को आवश्यक बताया है[2]। परवर्त्ती आचार्यों ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद को स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि नन्दिकेश्वर, कोहल, मतङ्ग आदि आचार्यो ने जो द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है वह हमें रुचिकर नहीं प्रतीत होता[3]; क्योंकि सप्तस्वरमूर्च्छना में आरोह की समाप्ति पर अग्रिम स्वर मूर्च्छना का आरम्भिक स्वर होने से क्रम बना रहता है किन्तु द्वादशस्वरमूर्च्छना में आरोह की समाप्ति पर अग्रिम स्वर मूर्च्छना के आरम्भिक स्वर के अतिरिक्त होने से क्रमभंग हो जाता है[4]। दूसरे नन्दिकेश्वर ने जाति, भाषा आदि एवं मन्द्र, तार आदि की सिद्धि के लिए जो द्वादशस्वरमूर्च्छना का विधान बताया है वह ठीक नहीं; क्योंकि 'नन्दयन्ती' जाति का रूप तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक उसमें मन्द्र, मध्य एवं तार 'ऋषभ' का प्रयोग न हो। अतः मन्द्र ऋषभ से तार ऋषभ तक स्वरों की संख्या पन्द्रह होने से द्वादशस्वरमूर्च्छना में 'नन्दयन्ती' की सिद्धि नहीं हो सकती[5]। अतः द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद निरर्थक है। अभिनवगुप्त द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद को मूर्च्छना ही

---

१. यद्यप्याचार्य्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः। (बृहद्देशी, पृष्ठ २२)

२. तथा चाह कोहलः—

योजनीयो बुधैर्नित्यं क्रमो लक्ष्यानुसारतः।
संस्थाप्य मूर्च्छना जातिरागभाषादिसिद्धये ॥ (कोहल–बृहद्देशी, पृष्ठ २२)

३. अत्र या मूर्च्छनाः प्राह द्वादशस्वरसम्भवाः।
मतङ्गोऽस्य मतं नैव सुन्दरं प्रतिभाति मे।
अत्रैव कोहलाचार्य्यो नन्दिकेश्वर एव च ॥
मतङ्गमनुसृत्यैवोचतुस्तदिह वर्ण्यते ॥
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
अत्र प्रतिसमाधत्ते खम्भाणकुलनन्दनः ॥ (कुम्भ–भरतकोष, पृष्ठ २८९)

४. क्रमात्स्वराणामारोहावरोहौ मूर्च्छनेति यत्।
लक्षणं तद् विहन्येत क्रमादारोहणाद् ऋते ॥ (कुम्भ–भरतकोष, पृष्ठ २८९)

५. यदुक्तं जातिभाषादितारमन्द्रादिसिद्धये।
द्वादशस्वरगुम्फेन मूर्च्छना स्यात्प्रयोजिका ॥
नन्दयन्त्यां तदव्याप्तेः तत्पञ्चदशसम्भवात् ॥ (कुम्भ–भरतकोष, पृष्ठ २८९)

नहीं मानते थे[१]। शार्ङ्गदेव ने भरतसम्मत सप्तस्वरमूर्च्छनावाद को स्वीकार किया है। उन्होंने मतङ्ग के मतानुसार जातियों की मूर्च्छना का निर्देश तो किया है किन्तु द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद की चर्चा तक नही की है। इस प्रकार परवर्त्ती अनेक आचार्यो ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद को नही माना है।

नन्दिकेश्वर का द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद परवर्त्ती आचार्यों को भले ही मान्य न हो, किन्तु वादन-सौकर्य में मूर्च्छना का प्रयोग सभी को मान्य रहा है। नन्दिकेश्वर मूर्च्छना का प्रयोजन जाति, राग, भाषा आदि की सिद्धि तथा तार-मन्द्रादि की सिद्धि मानते हैं[२]। अतः उनका मूर्च्छना परिमाण एक सप्तक की अपेक्षा पांच स्वर अधिक है; क्योंकि एक सप्तक में रागादि का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार ही द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि किसी भी राग का रूप स्पष्ट होने के लिए द्वादशस्वर आवश्यक हैं।

ध्रुवागान—

स्वर, वर्ण, पद, वाक्य आदि का समुचित चयन, अलङ्कारों का उचित प्रयोग, आंगिक भाव-भंगिमा एवं गीतों के उत्कर्ष के द्वारा 'ध्रुवागान' की रचना होती है, इसके प्रयोग के द्वारा नाटच के पात्रों की गति-चेष्टाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अतः अन्य गीतों की अपेक्षा नाटच में ध्रुवागान की अधिक उपयुक्तता प्रतीत होती है। नारद आदि के द्वारा अनेक प्रकार से गीत के जिन अङ्गों का विनियोग किया गया है, उन्हें 'ध्रुवा' कहते हैं[३]। इससे ज्ञात होता है कि नाटचशास्त्र की रचना के पूर्व ध्रुवागान का प्रचार था। नारद, तुम्बुरु, नन्दिकेश्वर आदि आचार्य इसकी विवेचना कर चुके थे। नन्दिकेश्वर का ग्रंथ उपलब्ध नहीं है अतः उनके मत का स्पष्ट विवेचन नहीं पाया जाता; किन्तु अभिनवभारती के साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर ने ध्रुवागान—

---

१. अत्र (यन्मतंगेन विवृता) द्वादशस्वरमूर्च्छना सा अभिनवादिभिरनादृता॥
(भरतकोष, पृष्ठ ४२४)

२. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिद्धयर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये॥
(नन्दिकेश्वर-बृहद्देशी २२)

३. ध्रुवेति संज्ञितानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः।
यान्यङ्गानीह मुक्तेषु तानि मे तन्निबोधत॥ (नाटचशास्त्र, ३२।१)

विषयक विवेचन किया था[1]। परवर्त्ती नाटककारों के ग्रंथों में ध्रुवागान का क्रियात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है। कालिदास, बाण, श्रीहर्ष, मुरारि, राजशेखर आदि के ग्रन्थों में ध्रुवागान के सम्बन्ध में विवेचन उपलब्ध है[2]। दामोदर के 'कुट्टिनीमत' में उल्लेख है कि प्रवेश तथा निर्गम के समय ध्रुवागीतों का गान होता था[3]। भरत ने ध्रुवागान के पांच प्रकार बताये हैं—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा[4]। नन्दिकेश्वर के अनुसार ध्रुवागानों का प्रयोग पूर्वरंग में किया जाता है। छः नर्तकियों के द्वारा इसका प्रयोग होता है। नाट्य के आरम्भ में पात्र रंगमंच पर आकर विविध रसों एवं अर्थों से युक्त जिस ध्रुवागान का प्रयोग किया जाता है उसे 'प्रावेशिकी' ध्रुवा कहते हैं[5]। नाट्य के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण के समय निष्क्राम के गुणों से युक्त जिस ध्रुवागान का प्रयोग होता है उसे 'नैष्क्रामिकी' ध्रुवा कहते हैं[6]। नाट्य में प्रवहमान प्रस्तुत रस का उल्लंघन करके जिस ध्रुवागान का प्रयोग होता है उसे 'आक्षेपिकी' ध्रुवा कहते हैं[7]। आक्षेपिकी ध्रुवा के प्रयोग में हुए क्रम-भंग का आक्षेप से परिवर्तन करके जिस ध्रुवागान के द्वारा रङ्गमंच पर प्रसन्नता का संचार किया जाता है उसे 'प्रासादिकी' ध्रुवा कहते हैं[8] प्रासादिकी के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरंजन एवं राग

---

१. तत्र च प्रावेशिक्यादिविधिः प्राग्वदेवेत्येवं।
नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्ग विधिर्निबद्धः ॥
(अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ १२२)

२. हर्षचरित, पृष्ठ २०; कादम्बरी, पृष्ठ १३१ तथा 'जनरल आफ म्यूजिक एकादमी, मद्रास, खण्ड २५, पृष्ठ ८५-८६।

३. प्रावेशिक्यवसाने द्विपदीग्रहणान्तरे विंशतिसूत्री।
निश्चक्राम गृहिण्या सार्धं निःसरणगीतेन ॥ (कुट्टिनीमत)

४. प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्।
गानं पंचविधं विद्यात ध्रुवायोगसमन्वितम् ॥ (नाट्यशास्त्र ३२।३१०)

५. नानारसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशे तु।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया सा ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ (नाट्यशास्त्र ३२।३११)

६. अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ॥ (नाट्यशास्त्र ३२।३१२)

७. क्रममुल्लंघ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ।
आक्षेपिकी ध्रुवासौ द्रुता स्थिता वापि विज्ञेया ॥ (नाट्यशास्त्रशास्त्र ३२।३१३)

८. या सा रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् कृतं प्रसादयति।
रागप्रसादजननीं विद्यात् प्रासादिकीं तां तु ॥ (नाट्यशास्त्र ३२।३१४)

का उद्‌बोधन होता है। नाटच के प्रयोग के समय पात्र के विषादयुक्त, मूर्च्छित एवं भ्रान्त तथा वस्त्र एवं आभरण आदि के अव्यवस्थित हो जाने पर दोष परिलक्षित होता है, उसे ढकने के लिए जो गान किया जाता है उसे 'अन्तरा' ध्रुवा कहते हैं[१]। इस गान के प्रयोग से दर्शकों का ध्यान गान की ओर आकर्षित हो जाता है और इससे दोष का प्रच्छादन हो जाता है। नन्दिकेश्वर ने प्रासादिकी ध्रुवा के स्थान पर परिवर्तनी ध्रुवा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यह प्रयोग छः नर्तकियों द्वारा किया जाता है। कीर्तिधर एवं अभिनवगुप्त का मत है कि भरत ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार ही ध्रुवानिरूपण किया है[२]। नाटच में ध्रुवागीतों का विशिष्ट स्थान रहा है। ध्रुवागीतों का उद्‌देश्य नाटचानुकूल भावों अभिव्यक्ति करना है जिनकी अभिव्यंजना कथोपकथन आदि उपादानों के द्वारा असंभाव्य थी।

मतंग का कथन है कि षड्‌जादि स्वरों और स्थायी आदि वर्णों से विभूषित वह ध्वनिविशेष राग है जिससे मनुष्यों के मन का रंजन होता है।[३] ध्रुवागान द्वारा राग का उद्‌बोधन होता है। रंजक स्वर-सन्दर्भ को गीत कहा गया है।[४] गीत कण्ठ, तन्त्री एवं सुषिर तीनों से उत्पन्न होते हैं। गीत का प्रभाव सहृदय व्यक्तियों पर ही नहीं, बल्कि बालकों पर भी पड़ता है। यहां तक तिर्यग्‌योनि में उत्पन्न प्राणी भी गीत से आनन्दमग्न हो जाते है। गीत के इस प्रभाव के कारण ही महर्षि भरत ने गीत को नाटच की शय्या कहा है।[५] गीत के द्वारा ही असहृदय मानव के हृदय की राग-द्वेष की ग्रन्थियां खुल जाती है और वह भी सहृदय के समान रसास्वादन करने लगता है। स्वतः रंजक होने से स्वर या राग संगीत के लिए आवश्यक तत्व हैं। राग या स्वर सन्निवेश के द्वारा गायक भावों की अभिव्यक्ति करता है। स्वरसन्निवेश ही गीत है।

---

५. विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्राभरणसंयमे ।
दोष-प्रच्छादना या च गीयते सान्तरा ध्रुवा ॥ (नाटचशास्त्र ३२।३१५)

१. तत्र च प्रावेशिक्यादिविधिः प्राग्वदेवेत्येवं नन्दिकेश्वर—
मतानुसारेणायं चित्रपूर्वरंविधिरिति निबद्धः ॥
(अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ १२२)

२. योऽसो ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।
रञ्जको जनचितानां स च राग उदाहृतः ॥
(मतंग–बृहद्देशी श्लोक २८१)

३. रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ॥
(संगीतरत्नाकर, रागाध्याय, पृष्ठ २१)

४. शय्या हि नाटचस्य वदन्ति गीतिम्········। (नाटशास्त्र ३२।४४१)

वाद्य

वाद्य संगीत की महत्त्वपूर्ण विधा है। वाद्यों के प्रयोग से गीत-प्रयोग और अधिक रागात्मक होता है। अतः गान के समुचित प्रयोग के लिए वाद्य-प्रयोग की नितान्त आवश्यकता है। गीत एवं वाद्य के समुचित प्रयोग होने पर नाट्य-प्रयोग में कोई विघ्न नहीं पड़ता। प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में अनेक प्रकार के वाद्य प्रचलित रहे हैं। वैदिकसाहित्य में बाण, अलाबु, दुन्दुभि, वेणु, आघाटि आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है :[1] उस समय गीत के साथ वाद्यों का प्रयोग होता था। वैदिक यज्ञविधान के समय सामगान के साथ वीणावादन का विधान विहित था। वीणा उस समय का प्रमुख वाद्य था। 'बाण' नामक वीणा वैदिक काल का सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण वाद्य था। इस वीणा में सौ तार होते थे। इसका वादन सप्त स्वरों द्वारा होता था। यह उदुम्बर की लकड़ी से बनायी जाती थी। बाण के अतिरिक्त अन्य वीणाओं के उल्लेख भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं। मृदंग या दुन्दुभि अवनद्ध वाद्यों में प्रमुख वाद्य था। 'वेणु' नामक वाद्य के स्वरों की तुलना सामगायकों के स्वरों से की गई है।[3] वाद्यों का सम्बन्ध स्वाति एवं नारद से बताया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वाति और नारद ने मृदंग, दुर्दुर आदि अवनद्ध वाद्यों, तन्त्रीवाद्यों एवं अन्य वाद्यों के विस्तारपूर्वक लक्षण एवं वादन क्रम बताये हैं।[4] नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है—तत, सुषिर, अवनद्ध एवं घन।[5] ये वाद्य विभिन्न शैलियों में बनाये एवं बजाये जाते थे। इनमें तार वाले तन्त्री-वाद्यों को 'ततवाद्य', चमड़े से मढ़े हुए मृदंग आदि वाद्यों को 'अवनद्धवाद्य', फूंककर बजाये जाने वाले वांसुरी आदि को 'सुषिरवाद्य' और धातु-निर्मित करताल आदि वाद्यों को 'घनवाद्य' कहते हैं। इनमें नाट्य-प्रयोग में कभी तत एवं सुषिर वाद्यों का, कभी-कभी अवनद्ध वाद्यों का और कभी-कभी सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था।

---

१. ऋग्वेद ८, २०, ८, २. ४३. ३; ६. ४७. २९-३१, १०. १४६. २ (सायणभाष्य) तैत्तिरीयसंहिता ७. ५. ९, वाजसनेयिसंहिता ३०. १९. २०, अथर्ववेद ४।३७।५ ऐतरेय आरण्यक ५. १. २।

२. पंचविंशब्राह्मण ५. ६. १२-१३ ऐतरेय आरण्यक ५. १. २।

३. यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः। (नारदीयशिक्षा १।५।१-२)

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ३४।२-३।

२. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥ (नाट्यशास्त्र, २८।१)

नन्दिकेश्वर ने उक्त चार प्रकार का विभाजन तो नहीं किया है किन्तु उनके ग्रन्थों में वीणा, मर्दल, दर्दुर, ढक्का, डमरू, दण्डिका आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। अभिनवभारती[1] में नन्दिकेश्वर के वाद्य-सम्बन्धी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उनके समय में सभी प्रकार के वाद्य प्रचलित थे। नन्दिकेश्वर स्वयं मृदङ्ग-वादन में विशेष कुशल थे। उन्हें मृदङ्ग का अधिदेवता बताया गया है। नन्दिकेश्वर ने केवल गीत एवं वाद्यों का उल्लेख ही नहीं किया है, बल्कि वाद्यों की स्थापना-विधि एवं पूजाविधान का भी उल्लेख किया है। उन्होंने गायकों एवं वादकों के बैठने के समुचित स्थानों का निर्धारण किया है।

नन्दिकेश्वर ने बताया है कि रंगमंच पर मध्य में नर्तकी और उसके बगल में नर्तक को खड़ा होना चाहिए। नर्त्तक और नर्तकी के दाहिने पार्श्व में तालधारी (मंजीरे वाले) और उसको दोनों पार्श्वों में दो मृदंगवादकों को स्थित होना चाहिए। उन दोनों के मध्य में गीतकार (गायक) और गायक के पास स्वरकार का स्थान होना चाहिए।[2] नन्दिकेश्वर ने बताया है कि पूर्वरंग में अभिनय के अधिष्ठातृ-देवों की स्तुति, वाद्य-यन्त्रों की पूजा, गुरु की वन्दना, और पुष्पांजलि का विधान कर तब अभिनय प्रारम्भ करना चाहिए।[3] अभिनय में प्रथम देवताओं की पूजा कर तब वाद्य-यन्त्रों की अर्चना करे। वाद्यों की अर्चना के समय ताल में ब्रह्मा का, ढक्का में विष्णु का, मृदंग में नन्दिकेश्वर का, वीणा में सरस्वती का, दण्डिका में नारद एवं तुम्बुरु का और दर्दुर वाद्य में वीरभद्र का ध्यान कर गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि से वाद्य-यन्त्रों की अर्चना करे।[4] नन्दिकेश्वर ने नाटच-प्रयोग की सफलता के लिए वाद्य का प्रयोग आवश्यक बताया है।

तन्त्रीवाद्य—

तन्त्रीवाद्यों में वीणा का सर्वाधिक महत्त्व है। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में सरस्वती को वीणा की अधिष्ठात्री देवता बताया गया है।[5] वीणा-वादन में नारद और तुम्बुरु प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध हैं। नन्दिकेश्वर ने नारद और तुम्बुरु का उल्लेख किया है। नारद ने 'संगीतमकरन्द' में वीणा के उन्नीस भेद बताये हैं। याज्ञवल्क्य ने बताया है कि 'वीणावादन का ज्ञान मोक्ष को प्राप्त करता है।[6] नाटच के पूर्वरंग-विधि में बहिर्गीतों के विधान में वीणावादन का प्रमुख

---

१. अभिनवभारती, भाग १. पृ० १६५ तथा भाग ४, पृ० ४१४, ४२०।

२. अभिनयदर्पण, २२।

३. वही, ३१, ३३, ३४।

४. भरतार्णव, १५।९५४-९५६।

५. वही १५।९५५।

६. वीणावाद्यतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं स विन्दति ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।११५)

स्थान था। उस समय वीणावादन अनेकविध बोलों एवं लयों के साथ किया जाता था।[1]

सुषिरवाद्य —

सुषिरवाद्यों मे 'वेणु' एक प्रमुख वाद्य है। वांसुरी-वादन में मतंग मुनि का मत प्रमाण माना जाता था। बांसुरी बांस की बनाई जाती थी। इसके स्वरों, ग्रामों आदि से सम्बद्ध नियम वीणा के समान होते हैं। जिस प्रकार वीणा के स्वर दूसरे में बदल जाते हैं उसी प्रकार वेणु में भी परिवर्तन किया जा सकता है। वंशीवादन में श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान था। उनके वंशी-वादन से चर-अचर सभी मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। वंशीवादन गायन तथा वीणा पर आधारित था और विभिन्न श्रुतियों, वर्ण एवं अलंकारों का वादन इस पर किया जाता था।

अवनद्धवाद्य —

नाटयशास्त्र में अवनद्ध वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। भरत ने अवनद्ध वाद्यों के लिये 'पुष्कर' संज्ञा दी है। नाटयशास्त्र में पुष्करवाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा वर्णित है। तदनुसार एक बार स्वाति मुनि पानी लाने के लिए एक सरोवर पर गये। वहां उन्होंने कमलों के पत्तों के ऊपर वर्षा की बूँदों का पड़ना देख रहे थे। उससे उत्पन्न ध्वनि को सुनकर वे आश्चर्य-चकित हुए। उसी ध्वनि के आधार पर ही पुष्कर वाद्यों की कल्पना की गई। भरतार्णव में मढ़े हुये वाद्यों में मृदंग, दर्दुर, ढक्का, डमरू, दण्डिका आदि वाद्यों का उल्लेख है। डमरू भगवान् शंकर का प्रमुख वाद्य था। नन्दिकेश्वर के अनुसार डमरु की ध्वनि से ही सांगीतिक स्वरों एवं तालों की उत्पत्ति हुई है। नन्दिकेश्वर का कहना है कि पुष्कर-वाद्य से रचित वाद्य-बृन्द सुशोभित नहीं होता।[3] नाटचप्रयोग में पुष्कर-वाद्यों के प्रयोग का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। नाटयशास्त्र में वाद्य को नाटच की शय्या कहा है।[4] वहाँ बताया गया है कि वाद्य और गीत के भली-भाँति प्रयोग होने पर नाटच-प्रयोग में विघ्न नही पड़ता। नाटच में न्यूनता की पूर्त्ति के लिए तथा नाटच की शोभा-वृद्धि के लिए वाद्यों का प्रयोग किया जाता था।

पुष्कर-वाद्यों के लिए अपर संज्ञा 'भाण्डवाद्य' भी है। नन्दिकेश्वर (तण्डु) के द्वारा प्रयुक्त 'ताण्डव' का प्रयोग गान तथा भाण्ड-वादन दोनों से समन्वित

---

१. नाटयशास्त्र (बड़ौदा) ५।८-११।

२. भरताणैव, अध्याय १५। ३. भरतार्णव १५।९५४-९५६।

४. शय्या हि नाटचस्य वदन्ति वाद्यम्।

(नाटयशास्त्र (गायकवाड़), ३४।२४५)

बताया गया है।[१] नाटचशास्त्र में बताया गया है कि रंगमंच पर नर्तकी के प्रवेश के समय तन्त्री और भाण्डवाद्य दोनों का वादन होता था।[२] भाण्डवाद्य का वादन अंगहारों के प्रयोग की दशा में आवश्यक बताया गया है।[३] भाण्ड-वादन में नन्दिकेश्वर का मत प्रमाणभूत माना गया है।[४] नाटचशास्त्र के अनुसार भाण्डवाद्य के प्रथम प्रयोक्ता स्वाति हैं।[५] भाण्डवाद्यों में मृदंग का प्रमुख स्थान है। भगवान् शिव ने नन्दिकेश्वर को मृदंग-वादन का उपदेश दिया था। नन्दिकेश्वर ने भगवान् शिव के संध्याकालीन नृत्त में मृदंग-वादन से संगत की थी।[६] अभिनवगुप्त ने ताण्डव नृत्त में नन्दिकेश्वर को मृदंग का प्रयोक्ता बताया है।[७] भरतार्णव में नन्दिकेश्वर को मृदंग का अधिष्ठातृ-देव बताया गया है।[८] मृदंग के तीन प्रकार होते हैं—आंगिक, आलिग्य और ऊर्ध्वग। इनमें कटि में बांध-कर बजाये जाने वाले वाद्य को 'आंगिक' कहते हैं और भूमि पर रखकर बजाये जाने योग्य वाद्य को 'आलिग्य' तथा छाती में बांधकर बजाये जाने योग्य वाद्य को 'ऊर्ध्वग' कहते हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार मृदंग पर बजाये जाने योग्य सोलह वर्णों का निर्देश है।[९] वे सोलह वर्ण इस प्रकार हैं—क ख ग घ ट ठ ड ढ त थ द ध म र ल ह। कुशल वादक इन्हीं वर्णाक्षरों के मेल से अनेक प्रकार के बोलों का निर्माण करते हैं। इन वर्णों की उत्पत्ति के लिए पांच प्रकार के कराघात बताये गये हैं—समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि और प्रदेशिनी। मृदंग के मुख पर आघात करते समय हस्त की स्थिति तीन प्रकार की होती है—निगृहीत, अर्धगृहीत और मुक्त।[१०] इन्हीं को त्रिप्रहार कहते हैं। कराघात करने पर जब हाथ को मृदंग के मुख से पृथक् नहीं किया जाता, तब वह 'निगृहीत' कहलाता है, जब अंशतः पृथक् किया जाता है तो 'अर्धनिगृहीत'

---

१. नाटचशास्त्र (चौखम्बा) ४।२६२.

२. वही ४।२७५। ३. वही ४।२७९।

४. एवं स्यात् वाद्यभाण्डानां सिद्धिः शास्त्रनिदर्शनात्।
नन्द्यादीनां मते तु तदाह भरतो यथा॥
(नन्दिकेश्वर–भरतभाष्य पृष्ठ २२२)

५. नाटचशास्त्र ३४।२। ६. वही ४।२५२–२५४।

७. नन्दिकेश्वरनियतस्थानं मृदङ्गः। (अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ १६५)

८. भरतार्णव १५।९५५।

९. षोडशस्वपि वर्णेषु भेदाः पञ्चदशोदिताः।
(नन्दिकेश्वर—अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ४२०)

१०. निगृहीतार्धनिगृहीतमुक्ताख्यं च मृदङ्गकम्।
प्रहारत्रितयं प्रोक्तं नन्दिने चन्द्रमौलिना॥ (संगीतदामोदर, पृष्ठ ५८)

पूर्णतः पृथक् होने पर 'मुक्त' कहलाता है। लय तीन प्रकार के होते हैं— द्रुत, मध्य और बिलम्बित। मृदंग पर प्रथम कराघात 'ग्रह' कहलाता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार ग्रह, मोक्ष और सन्धान तीन प्रकार के गत होते हैं[1] जिन्हें 'त्रिगत' कहते हैं। नन्दिकेश्वर ने मृदंग-वादन के लिए चार प्रकार के मार्गों का निर्देश दिया है--अहित, विकृष्ट, गोमुख और आलिप्त[2]। भरत ने 'विकृष्ट' के स्थान पर 'वितस्त' का उल्लेख किया है। अहित (अड्डित) मार्ग में हस्त के मूल का, विकृष्ट में अंगुली के मूल का और गोमुख मार्ग में अग्रहस्त के द्वारा प्रहार किया जाता है। 'आलिप्त' मार्ग में कनिष्ठिका से अंगुष्ठ पर्यन्त सभी अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है[3]। मृदङ्गवादक की चार कोटियाँ हैं—वादक, मुखरी, प्रतिमुखरी और गीतानुग। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में घर्घर (घर्घरिका) वाद्य का उल्लेख किया है। घर्घरिका-वादन का प्रयोग सप्तलास्यों में पेरुणी नामक लास्य में विहित बताया है। भरतार्णव में घर्घरिका-वादन के छः प्रकार बताये हैं[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर ने विभिन्न प्रकार के पुष्करवाद्यों का विवेचन किया था। उस समय नृत्त में वाद्यों के प्रयोग पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। मृदङ्ग-वादन उस समय का प्रमुख वाद्य था। विभिन्न अवसरों पर उसका वादन किया जाता था। मृदङ्ग एक प्राचीन वाद्य है। ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलता है[5]। मृदङ्ग देवताओं को अत्यन्त प्रिय वाद्य था। मृदङ्ग से अनेक पुष्कर वाद्यों का विकास हुआ है। पखावज, मुरज, तबला आदि इसी के विकसित रूप हैं।

घनवाद्य—

कांस्य (धातु) से निर्मित झांझ, करताल, घण्टा आदि वाद्य घनवाद्य कहलाते हैं। नन्दिकेश्वर ने घनवाद्य का विवेचन नहीं किया है किन्तु शार्ङ्गदेव ने घनवाद्य का उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव के अनुसार 'कांस्यताल' एक घनवाद्य है जो कांसे का बना हुआ होता है और एक आकार के दो वाद्य होते हैं। इस वाद्य के देवता नारद हैं।

---

१. ताड़ने ग्रहसन्धानमोक्षैर्मुखचतुष्टये।
   (नन्दिकेश्वर—अभिनवभारती, भाग ४, पृष्ठ ४२०)
   ग्रहो मोक्षः स्वसन्धानमित्युक्तं च गतत्रयम्। (संगीतदामोदर, पृष्ठ ५८)
२. अहिताख्या विकृष्टा च गोमुख्यालिप्तिका तथा।
   वादनस्य चतुर्मार्गा ईरिताश्चन्द्रमौलिना॥
   ... ...
   आलिप्तिका समाख्याता नन्दिने चन्द्रमौलिना॥ (संगीतदामोदर, पृष्ठ ५८)
३. संगीतदामोदर, पृष्ठ ५८। ४. भरतार्णव १३।७३४-७३५।
५. ऋग्वेद ५।३३।६।

अष्टम अध्याय

ताल-विवेचन

'ताल' शब्द प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु से अधिकरण अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होकर बनता है क्योंकि गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों ताल में ही प्रतिष्ठित रहते हैं[1] इसलिए इसे 'ताल' कहते हैं। गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों के सम्मिलित रूप को संगीत कहते हैं[2]। संगीत में एक आधार देना 'ताल' का काम है। ताल के द्वारा समय का अस्तित्व मापा जा सकता है। गीत को क्रिया के मान का नाम 'ताल' है। यह स्वर इतने समय तक गाना चाहिए, इतने समय तक विलम्बित, इतने समय तक द्रुत और इसने समय तक मध्य होना चाहिए, यह ज्ञान कराने के लिए हस्तांगुलि के आकुंचन, प्रसारण आदि क्रियाओं के द्वारा नर्तन एवं गायन करना चाहिए; इस प्रकार काल और क्रिया के प्रमाण को 'ताल' कहा जाता है[3]। संगीतरत्नाकार के अनुसार गुरु, लघु एवं प्लुत से समन्वित क्रिया के द्वारा गीत, वाद्य एवं नृत्य को परिमित करने वाला काल 'ताल' कहलाता है[4]। लघ्वादि से गुरु, लघु और प्लुत का ग्रहण होता है जो मार्ग तालों में क्रिया के मान को बताते हैं। इस प्रकार ताल के द्वारा गीत एवं क्रिया के ताल

---

१. (क) तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्थितः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, ५।२)

(ख) अकर्त्तरि च कारके घञि संज्ञायाम्। (अष्टाध्यायी ३।३१९)

२. गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते। (संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय, १।२१)

३. 'अयं स्वर इयत्कालं गेयः, इयत्कालं विलम्बितम्, इयत्कालं द्रुतम्, इयत्कालं मध्यमिति बोधयितुं ईदृशैर्हस्तैरंगुल्याकुंचनप्रसारणादिक्रियाभिर्नर्त्तितव्यं गातव्यं चेति कालक्रिययोः प्रामाण्यं तालः॥ (शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृष्ठ ६११)

४. कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम्।
गीतादेर्विदधत्तालः ························॥
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ ४)

का अवधारण होता है। भरत के अनुसार ताल का अवधारण न जानने वाला व्यक्ति न गायक होता है और न वादक[1]। परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि एक समय जब शिव 'ताण्डव' नृत्य कर रहे थे तो आनन्द विभोर होकर पार्वती भी नाचने लगी। शिव का नृत्य 'ताण्डव' (उद्धत) था और पार्वती का नृत्य 'लास्य' (सुकुमार)। ताण्डव से 'ता' और 'लास्य' से 'ल' आद्यक्षरों को लेकर 'ताल' की रचना हुई है[2]। भरतकोष में कहा गया है कि 'ता' शिव का प्रतीक है और 'ल' शक्ति का। शिव और शक्ति के समायोग से 'ताल' की उत्पत्ति होती है[3]। नन्दिकेश्वर ने ताल की व्यापकता बतलाते हुए रुद्रडमरूद्भवसूत्र विवरण में कहा हैं कि यह सारा जगत् ताल पर आधारित है[4]। ताल सब वस्तुओं को सुरक्षित रखता है। शिव जी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि ! जहाँ पर नाद की संभूति होती वहाँ ताल रहता है। यह ताल नादमय और सारा जगत् तालमय है। नन्दिकेश्वर ने संगीत के गीत, नृत्य एवं वाद्य तीनों विधाओं के लिए 'ताल' का महत्त्व स्वीकार किया है; क्योंकि वह गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों विधाओं को एक लयात्मक आधार प्रदान करता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार दोनों हाथों का संयोग और वियोग होने पर दश प्राणों से युक्त जो काल है उसे 'ताल' कहते हैं।

'तले भावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ताल' शब्द का अर्थ तल में होने वाला अर्थात् नीचे रहने वाला होता है। जैसे पूरे शरीर के नीचे रहकर शरीर को धारण करने के कारण पैर के नीचे के भाग को 'पादतल' कहते हैं। जैसे पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपने ऊपर धारण करती है, इसलिए उसे पृथ्वीतल, भूतल, अवनितल आदि कहते हैं। उसी प्रकार काल का जो क्रियात्मक आवृत होने वाला खण्ड गीत, वाद्य एवं नृत्य को अपने ऊपर धारण करता है, उसे 'ताल' कहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार सशब्द और निःशब्द क्रियाविशेष के योग से बनने वाला 'ताल' जो काल का विभाजक क्रियारूप और द्रव्यात्मक है, वही गीत की क्रिया के काल को नापने का साधन है। यहाँ क्रिया ही ताल या काल है[5]।

---

१. यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन कार्यं तालावधारणम् ॥

२. '............ताण्डवस्याद्यक्षरेण लास्यस्याद्यक्षरेण च मिलित्वा 'ताल' इति संज्ञा जाता। (शब्दकल्पद्रुम, खण्ड २, पृष्ठ ६११)

३. शिवशक्तिसमायोगात्तालनामाभिधीयते। (भरतकोष, पृष्ठ ८)

४. तालात्मकं जगत्सर्वं तालस्तु व्यापकः स्मृतः। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण ४३)

५. '............ शम्यादिसशब्दक्रियावापादिनिःशब्दक्रियाविशेषणयोगे सति यस्तालः परिच्छित्यात्मककालखण्डे क्रियारूपो द्रव्यात्मा स एव गीतक्रियाप्रमाणपरिच्छेदोपायः। अत्र क्रिया च तालः कालो वा।"(अभिनवभारती—गायकवाड़-३१ अध्याय पृ० १५१)

नन्दिकेश्वर ने ताल-विवेचन सर्वथा मौलिक रूप में किया है। उनके अनुसार माहेश्वर सूत्रों में प्रथम चार सूत्रों[1] से 'ताल' की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने माहेश्वर के प्रथम चार सूत्रों की व्याख्या 'ताल' के दृष्टिकोण से भी की है। उनके अनुसार चार सूत्रों में प्रथम सूत्र में तीन लघु हैं, लघु की एकमात्रा होती है, इस प्रकार प्रथम सूत्र में तीन मात्राएँ होती हैं। दूसरा सूत्र नपुंसक है। तीसरे सूत्र में दो गुरु है। गुरु की दो मात्रा होती है। इस प्रकार तृतीय सूत्र में चार मात्राएँ हैं। चतुर्थ सूत्र में दो प्लुत हैं। प्लुत की तीन मात्राएँ होती है, इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में छः मात्राएँ हैं[2]। उन्होने प्रथम माहेश्वरसूत्रों के उच्चारणकाल की इकाइयों का उल्लेख किया है और तत्पश्चात् स्वरताल एवं तिथिताल का वर्णन किया है। नन्दिकेश्वर के समय माहेश्वर के प्रथम दो सूत्रों के उच्चारण काल में लगने वाली इकाई के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित थे। प्रथम जो उक्त सूत्रों के अन्त में प्रयुक्त व्यञ्जन रूप अर्धाक्षरों की गणना नहीं करते हैं; उनके अनुसार दोनों सूत्रों के उच्चारण में समय की पाँच इकाइयाँ लगती हैं। दूसरे आचार्य जो दोनों सूत्रों के अन्त में प्रयुक्त व्यञ्जन स्वरूप अर्धाक्षरों की गणना करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि दोनों सूत्रों के उच्चारण के समय की छः इकाईयां लगती हैं[3]।

ताल के दस प्राण--

नन्दिकेश्वर ने ताल के दस प्राणों का उल्लेख किया है—काल, मार्ग, अंग, क्रिया, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार।

कालो मार्गक्रियाङ्गानि ग्रहो जातिकलालयाः।
यतिप्रस्तारकश्चेति तालप्राणाः दश स्मृताः[4] ॥

तेलगु भाषा के ग्रन्थ 'ताल-दशप्रमाणदीपिका' नामक ग्रन्थ में पोलुरी गोविन्द कवि ने जिन दश तालों की व्याख्या की है वे वहीं हैं जिनका उल्लेख नन्दिकेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। केवल 'क्रियांग' के विषय में मतभेद पाया जाता है। प्रोफेसर दानिली 'क्रियांग' को एक प्राण मानते हैं किन्तु क्रियांग को यदि हम एक प्राण मानते हैं तो प्राणों की संख्या नौ ही रहती है जबकि मूल ग्रन्थ के अनुसार प्राणों की संख्या दस होनी चाहिए[5]। संगीतदर्पण में

---

१. अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्। (सिद्धान्तकौमुदी, पृष्ठ १)

२. रुद्रमरुद्भवसूत्रविवरणम्, ४१-४२।

३. प्रथमसूत्रद्वयं पञ्चमात्रिकप्रस्तारे मतद्वयम्—प्रथममतं, द्वितीयमतं च। प्रथममते पञ्चमात्रिकम्, द्वितीयमते षाण्मात्रिकम्। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्)

४. रुद्रमरुद्भवसूत्रविवरण, ४४-४५।

५. तदेव।

इन्हीं दस प्राणों का उल्लेख किया गया है[1]। वस्तुतः क्रिया और अंग दोनों अलग-अलग प्राण हैं। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मत में ताल के दश प्राण होते हैं।

काल--

काल समय को कहते हैं। द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत एवं काकपाद के द्वारा काल का माप किया जाता है। इनमें द्रुत की अर्धमात्रा, लघु की एक मात्रा, गुरु की दो मात्रा, प्लुत की तीन मात्रा और काकपाद की चार मात्राकाल हैं[2]। काल से ही मात्राओं की रचना होती है। मात्रा ताल का ही एक भाग है; क्योंकि मात्राओं के योग से ही समस्त तालों की रचना हुई है। भरत के अनुसार कला, पात और लय से युक्त ताल ही घनवाद्य है और वह काल का प्रमाण है[3]। संगीत में काल को नापने का साधन ताल तथा माध्यम घनवाद्य है। इस प्रकार काल का मापक घनवाद्य और काल का परिच्छेद करने वाला क्रिया का सबसे सरल रूप दोनों हाथों को परस्पर टकराकर ताल देना है। टकराकर ध्वनि उत्पन्न करने के सिद्धान्त का ही विकसित रूप घनवाद्य है। इसलिए ताल प्रयोग में घनवाद्य ही लिया गया है।

मार्ग—

कालविभाजन का नाम 'मार्ग' है। अभिनवगुप्त के अनुसार निश्चित काल से युक्त कलाओं का समूह मार्ग कहा जाता है[4]। नाटचशास्त्र में तीन मार्ग निर्दिष्ट हैं—चित्र, वार्त्तिक और दक्षिण[5]। चित्रमार्ग में प्रत्येक खण्ड में १-१ क्रिया, वार्त्तिकमार्ग में २-२ क्रियाएँ और दक्षिणमार्ग में ४-४ क्रियाएँ हैं, इसलिए चित्रमार्ग को पूरा करने में जितना समय लगता है उससे दुगुना समय वार्त्तिक मार्ग के पूरा करने में और वार्त्तिक से दुगुना समय दक्षिणमार्ग के पूरा करने में लगता है। इसलिए कहा जा सकता है कि चित्रमार्ग सबसे छोटा होता है।

---

१. सङ्गीतदर्पण, पृष्ठ ११०।

२. (क) भरतार्णव, ७।५३१-५३३।

(ख) अर्धमात्रं द्रुतं ज्ञेयमेकमात्रं लघु स्मृतम्।
द्विमात्रं गुरुर्ज्ञेयं त्रिमात्रन्तु प्लुतं मतम् ॥ (संगीतदामोदर, पृष्ठ ४२)

३. तालो घन इति प्रोक्तः कलापातलयान्वितः।
कालस्य तु प्रमाणं वै विज्ञेयं तालयोगतः ॥ (नाटचशास्त्र ३१।१)

४. नियतकालकलासंपातश्च मार्ग उच्यते। (अभिनवभारती अध्याय ३१ पृ० १७४)

५. नाटचशास्त्र, ३१।६।

वार्त्तिकमार्ग उससे दुगुना और दक्षिणमार्ग उससे भी दुगुना लम्बा होता है। चित्रमार्ग (नर्तनमुद्रा) में एक गुरु दो कलाओं का होता है, वार्त्तिकमार्ग (गायनप्रकार) में उससे दुगुना अर्थात् कला की चार मात्राएँ होती है और दक्षिणमार्ग में उससे दुगुना अर्थात् कला की आठ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार चित्रमार्ग में एककल, वार्त्तिक मार्ग में द्विकल और दक्षिणमार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है। शार्ङ्गदेव ने भरतोक्त तीन मार्गों के अतिरिक्त ध्रुव नामक एक और मार्ग कहा है। ध्रुवमार्ग में एकमात्रा की कला होती है[1]। मतङ्ग ने शून्यमार्ग का भी उल्लेख किया है। जिसमें द्रुत अर्थात् अर्द्धमात्रा की कला होती है।

अंग–

ताल के काल की गणना करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले प्रामाणिक माप को 'अंग' कहते हैं। इन अंगों से ही अनेक प्रकार के तालों का निर्माण होता है। भरतार्णव में ताल के छः अंग बताये गये हैं– द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, काकपाद और विराम। इनमें द्रुत की अर्धमात्रा होती है। शास्त्र में इनकी अभिव्यक्ति व्योम, व्यञ्जन, विन्दु, तारक, नयन और वृत्त के द्वारा होती है। लघु की एकमात्रा होती है, सरल, ह्रस्व, व्यापक, इषु और दारित इसके अपरनाम हैं। गुरु की दो मात्राएँ होती हैं। इसे वक्र तथा चन्द्रजन्मा भी कहते हैं। प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं इसे सामोद्भव, त्र्यङ्ग और दीप्त भी कहते हैं। काकपाद की चार मात्राएँ होती हैं इसे निःशब्द भी कहते हैं। विराम का ज्ञान यति, चरण, पद, अङ्घ्रि, त्रुटि और बन्ध के द्वारा होती है। ताल में विराम (यति) का प्रयोग द्रुत और लघु के बाद होता है[2]। विराम को अनुद्रुत भी कहते हैं। अनुद्रुत का चिह्न अर्द्धचन्द्र (◡) है किन्तु द्रुत और लघु के साथ इसका प्रयोग एक आकड़े या तिरछी रेखा के द्वारा किया गया है जिसका स्पष्ट सङ्केत नन्दिकेश्वर के अनुसार निम्नलिखित चिह्न के रूप में दिया गया है—

१—द्रुत	= (पूर्णचन्द्र)	= ०
२—लघु	= (बाण)	= ।
३—गुरु	= (सर्पाकृति)	= S
४—प्लुत	= (त्र्यङ्ग)	= S̀
५—काकपाद	= (काक का पदचिह्न)	= +
६—अनुद्रुत (विराम)	= (अर्द्धचन्द्र)	= ◡
(क) अर्धद्रुत (द्रुतविराम)	=	= δ
(ख) अर्धलघु (लघुविराम)	=	= ˋ।

---

१. संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ ५।   २. भरतार्णव ७।४३०-४३४।

इस प्रकार ताल के छः अवयव (अङ्ग) होते हैं—अनुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत और काकपाद। ये ही ताल के षडङ्ग कहलाते है। इनमें अनुद्रुत के दो उपभेद होते हैं—अर्धद्रुत एवं अर्धलघु। इन्हीं को द्रुतविराम तथा लघुविराम भी कहते हैं। बायें हाथ पर दाहिने हाथ से एक बार पात या घात करना अनुद्रुत कहलाता है। इसका चिह्न अर्द्धचन्द्र (◡) और कालमान ताल की एक इकाई अर्थात् एक अक्षर काल (१) होता है। यह द्रुत का आधा होता है। द्रुतविराम में एक द्रुत तथा एक अनुद्रुत होता है। अर्थात् पहिले एक घात फिर द्रुत (विसर्जित) का प्रयोग फिर एक घात होता है। इसका चिह्न (ȣ) तथा कालमान तीन अक्षरकाल (३) होता है। द्रुत में पहिले एक घात होता है फिर दाहिने हाथ को एक बार खोल कर फैलाना होता है जिसे विसर्जितम् कहते हैं। द्रुत में दाहिनी हथेली सीधी रहती है और अनुद्रुत में दाहिनी हथेली औंधी रहती है। यही दोनों में अन्तर है। द्रुत का चिह्न पूर्णचन्द्र (०) और कालमान दो अक्षर काल (२) होता है। लघु में प्रथम अनुद्रुत की तरह एक बार घात होता है फिर छोटी उंगुली से प्रारम्भ कर गणना की जाती है। इसका चिह्न एक खड़ी लकीर (।) और कालमान चार अक्षरकाल (४) होता है। जातिभेद से इसके तीन, पाँच, सात और नौ अक्षर काल भी होते हैं जिन्हें तिस्र जाति (तीन अक्षरकाल) चतुरस्र जाति (चार अक्षरकाल) मिश्र जाति (सात अक्षरकाल) खण्ड जाति (पाँच अक्षरकाल) और संकीर्ण जाति (नौ अक्षरकाल) कहते हैं।

गुरु में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। प्रथम क्रिया में एक सशब्द चतुरस्र लघु और एक निःशब्द चतुरस्र लघु होता है। दूसरी क्रिया में प्रथम एक बार घात होता है फिर दाहिने हाथ की उंगुलियों को सङ्कुचित कर सातों अक्षरों की अवधि के लिये घड़ी की सुई के समान घुमाया जाता है। इसका चिह्न सर्पाकार (ऽ) और कालमान आठ अक्षर काल (८) होता है। प्लुत में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—प्रथम चार अक्षरों का एक घात फिर कृष्णा या सर्पिणी ध्रुवा क्रिया की जाती है। द्वितीय में एक गुरु की क्रिया प्रदर्शित करके फिर चार अक्षरकाल (४) के लिए हाथ को नीचे की ओर विसर्जित किया जाता है। इसका चिह्न (ऽ̀) तथा कालमान बारह अक्षरकाल (१२) होता है। काकपाद में प्रथम चार अक्षरों का एक घात फिर पताका, कृष्णा एवं सर्पिणी ध्रुवाक्रिया द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इसका चिह्न (+) तथा कालमान सोलह अक्षरों (१६) का होता है। काकपाद अलग, पहिले या बीच में, गुरु के आगे या पीछे अथवा प्लुत के साथ नहीं आता। किन्तु किसी ताल के अन्तिम भाग में लघु या द्रुत के साथ आता है। इनके अतिरिक्त एक लघुविराम भी होता है जिसका चिह्न (।̆) और कालमान पाँच अक्षरकाल (५) होता है।

क्रिया–

हाथ से ताल-प्रदर्शन की विधि को 'क्रिया' कहते हैं। क्रिया दो प्रकार की होती है—

(१) सशब्दा क्रिया।
(२) निःशब्दा क्रिया।

सशब्दा क्रिया–हाथ से ताली बजाना सशब्दा क्रिया है। सशब्दा क्रिया का दूसरा नाम 'पात' है। इस प्रकार ताल में 'पात' शब्द सशब्दा क्रिया का द्योतक है। सशब्दा क्रिया चार प्रकार की होती है—ध्रुवा, शम्या, ताल और सन्निपात।

ध्रुवा क्रिया में चुटकी बजाते हुए हाथ का पात होता है अर्थात् अंगूठे और बीच की उंगली से चुटकी बजाते हुए हाथ को नीचे की ओर ले जाना 'ध्रुवा' क्रिया है—

ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिकाशब्दपूर्वकः[1]।

नन्दिकेश्वर के अनुसार ध्रुवा क्रिया के संयोग से आठ क्रियाएँ होती हैं—ध्रुवा, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता[2]। ध्रुवा क्रिया का प्रयोग मार्गताल में स्वतन्त्र क्रिया के रूप में नहीं होता।

शम्या क्रिया में केवल दाहिने हाथ का पात होता है अर्थात् दाहिने हाथ से ताली देना शम्या क्रिया है और ताल में केवल बायें हाथ का पात होता है अर्थात् बायें हाथ से ताली बजाना 'ताल' क्रिया है—

शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु[3]।

सन्निपात क्रिया में दोनों हाथ का पात होता है अर्थात् दोनों हाथ से ताली बजाना 'सन्निपात' क्रिया है।

उभयोश्च समः पातः सन्निपात इतीरितः[4]।

निःशब्दा क्रिया—खाली हाथ से ताल प्रदर्शित करना निःशब्दा क्रिया है। निःशब्दा क्रिया में शब्द नहीं होता, इसमें बिना ध्वनि के संकेत होता है। निःशब्दा क्रिया का दूसरा नाम 'कला' है अर्थात् कला शब्द निःशब्द क्रिया का द्योतक है। निःशब्दा क्रिया भी चार प्रकार की होती है—अवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेशक।

अवाप शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक 'वप्' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ हैं विस्तार करना। अवाप क्रिया में हाथ को उत्तान कर अर्थात् हथेली को ऊपर उठा कर उंगुलियों का आकुंचन होता है—

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्।
२. तदेव।
३. तदेव।
४. तदेव।

तत्रावापस्तु विज्ञेय उत्तानाङ्गुलिकुञ्चनम्[1] ।

निष्क्राम शब्द 'निस्' उपसर्गपूर्वक 'क्रम्' धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होकर बनता है। निष्क्राम क्रिया में हाथ को अधोमुख कर नीचे की ओर उंगुलियों को फैलाना होता है—

निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्[1] ।

'विक्षेप' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है विशेष रूप से फेंकना अर्थात् हाथ को दाहिनी ओर फेंकना 'विक्षेप' है। विक्षेप क्रिया में उठे हुए हाथ की उंगुलियों को दक्षिण की ओर फेंकना होता है—

तस्य दक्षिणतः क्षेपो विक्षेपः कथितो बुधैः[2] ।

'प्रवेश' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु से घञ् (अ) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है प्रवेश करना। हाथ को स्वस्थान पर लाकर आकुंचन करना प्रवेश-क्रिया है अर्थात् प्रवेश-क्रिया में हाथ की उंगुलियों को नीचे की ओर ले जाकर सिकोड़ लेना होता है।

अङ्गुलिकुञ्चनं ज्ञेयं प्रवेशाख्यमधःस्तलम् ।[3]

सशब्द और निःशब्द क्रियाओं का प्रयोग केवल मार्गतालों में होता है। इनमें सशब्द क्रिया को 'पात' तथा निःशब्द क्रिया को 'कला' भी कहते हैं। 'पात' का अर्थ है 'गिरना'। गिरने में जो ध्वनि होती है वही सशब्द क्रिया का हेतु है। भाव यह कि सशब्द क्रिया में पात अर्थात् पतन क्रिया से उत्पन्न श्रव्य-ध्वनि पात क्रिया है। ताल प्रकरण में 'कला' शब्द का सशब्द और निःशब्द दोनों क्रियाओं में प्रयोग हो सकता है। किन्तु 'पात' का केवल सशब्द-क्रिया में ही प्रयोग होता है।[4] इस प्रकार सशब्द-क्रिया को पात और कला दोनों कहा जाता है और निःशब्द क्रिया को केवल 'कला' कहते हैं।

ग्रह—

ताल के प्रारम्भिक स्थान को ग्रह कहते हैं। ताल में ग्रह चार प्रकार के होते हैं—सम, विषम, अतीत और अनागत। जब गीत, वाद्य आदि और ताल समकाल अर्थात् एक ही समय पर प्रारम्भ किये जाते हैं तो उसे 'समग्रह' कहते हैं। जब अनियम अर्थात् विना नियम के गीतादि एवं ताल का प्रारम्भ होता है

---

१. तदेव। २. तदेव। ३. तदेव। ४. तदेव।

५. सशब्दक्रिया पातःकलेतिसंज्ञाद्वयेनोच्यते।
निःशब्दक्रिया तु कला संज्ञयैवोच्यते ॥ (कल्लिनाथ—संगीतरत्नाकर पृ० ५)

तब उसे 'विषमग्रह' कहते हैं। गीत, वाद्य आदि के पश्चात् जब ताल का आरम्भ होता है तब उसे 'अतीतग्रह' कहते हैं। जब गीत-वाद्यादि के पूर्व ताल का आरम्भ होता है तब उसे 'अनागतग्रह' कहते हैं। इन्हें क्रमशः समपाणि, विषमपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि भी कहते हैं। शार्ङ्गदेव के अनुसार ताल में तीन ग्रह होते हैं—सम, अतीत और अनागत। इनमें क्रमशः मध्य, द्रुत एवं विलम्बित लय होती है[1]। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने अतीत और अनागत ग्रहों का सम्बन्ध द्रुत एवं विलम्बित लय से जोड़ा है। उनका कहना है कि जिस प्रकार लोक में कोई मित्र किसी मित्र के साथ कहीं जाने को तैयार होता है किन्तु उसे पता चलता है कि उसका मित्र पहिले ही चला गया है तो वह उसका साथ पकड़ने के लिए द्रुत गति से जाता। इसके अतिरिक्त यदि आगे जाने वाले व्यक्ति को पता चल जाता है कि उसका मित्र पीछे आ रहा है तो वह उसे अपने साथ लेने के लिए विलम्बित गति से चलता है। इसी तरह जब मित्रस्थानीय ताल पहिले प्रारम्भ हो जाता है उसके साथ मिल जाने के लिए गीत की द्रुत लय होती है और यदि ताल पीछे रह जाता है तो गीत की लय विलम्बित होती है।[2] इस प्रकार अतीत और अनागत ग्रहों का सम्बन्ध द्रुत और विलम्बित से जोड़ा गया है। कुछ विद्वान् सम और विषम दो ही ग्रह मानते हैं और विषम के दो उपभेद मानते हैं—अतीत और अनागत। किन्तु इस मत में कोई मौलिकता प्रतीत नहीं होती।

जाति—

ताल के विभागों में जब मात्राओं की संख्या बदल जाती है तब ताल दूसरी जाति का हो जाता है। इस प्रकार गान और वाद्य के अन्तर्गत लघु एवं गुरु

---

१. समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः।
गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः॥
सोऽवपाणिरतीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते।
अनागतः प्राक् प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः॥
लयाः क्रमात् समादौ स्युर्मध्यद्रुतविलम्बिताः।
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृ० २७-२८)

२. यथा लोके कश्चन केनचिन्मित्रादिना सह कञ्चित् प्रदेशं प्रति गन्तुमुद्युक्तः स मित्रादिरात्मानमतीत्य पुरस्ताद् गच्छतीति श्रुत्वा तत्पश्चाद्देशे स्थितः तेन साम्यसिद्ध्यर्थं स्वयं द्रुतं गच्छति, यथा वा मित्राद्यागमनारम्भकाले स्वयमनागतः तद्देशात्पुरोद्देशे स्थित्वा गन्तुं प्रवृत्तः पश्चाद्देशे मित्रादिरागच्छतीति श्रुत्वा तस्य स्वसाम्यसिद्ध्यर्थं पदे पदे विलम्ब्य गच्छति तद्वदिति प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम्।
(संगीतरत्नाकर कल्लिनाथ की टीका ५।२८)

अक्षरों के क्रमानुसार ताल की दो जातियां होती हैं—त्र्यस्र और चतुरस्र। त्र्यस्र जाति वह है जिसमें एक गुरु, दो लघु तथा अन्त में एक गुरु (S।।S) होता है। चतुरस्र जाति वह जिसमें दो गुरु, एक लघु और अन्त में एक प्लुत (SS।ऽ) होता है। त्र्यस्र ताल चाचपुट है और चतुस्रताल चंचत्पुट। चाचपुट ताल की जाति त्र्यस्र है इसमें कुल छः मात्राएँ और छः अक्षर होते हैं। चंचत्पुट ताल की जाति चतुरस्र है इसमें कुछ आठ वर्ण और आठ मात्राएँ होती हैं।[1] इन्हीं दो तालों के सम्मिश्रण से षट्पितापुत्रक अथवा पंचपाणि नामक मिश्र ताल उत्पन्न होता है। षट्पितापुत्रक ताल में प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु तथा प्लुत (ऽ।SS।ऽ) होता है। इसमें बारह मात्राएँ एवं बारह अक्षर होते हैं।[2] इन्हीं तीन जातियों के अन्तर्गत समस्त ताल आते हैं।

कला—

एक काल प्रमाण का नाम 'कला' है। इस अर्थ में 'गुरु' कला का पर्याय है। ताल-भाग को भी कला कहते हैं। सशब्द और निःशब्द क्रियाएँ भी 'कला' कहलाती है। कला के तीन रूप हैं - एककल, द्विकल और चतुष्कल। भरत ने एककल को 'यथाक्षर' नाम से अभिहित किया है। एक अक्षर काल के मान के अनुसार सशब्द क्रियाएँ होने पर यथाक्षर (एककल) कहते हैं। वही दो स्वर (गुरु) से गाये जाने पर द्विकल तथा द्विकल से दुगुना अर्थात्-चार स्वर से गाये जाने पर चतुष्कल कहलाता है।[3] शार्ङ्गदेव ने 'यथाक्षर' को ही 'एककल' कहा है (अयमेककलः)। उनके अनुसार प्रत्येक अक्षर पर एक-एक क्रिया होने पर 'यथाक्षर' कहलाता है।[4] ताल के प्रकरण में द्विकल तथा चतुष्कल को समझने के लिए एककल नाम ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कला के इन तीन रूपों का ताल के तीन मार्गो से सम्बन्ध जोड़ा गया है। चित्रमार्ग का एककल से, वार्त्तिक-मार्ग का द्विकल से और दक्षिणमार्ग का चतुष्कल से सम्बन्ध है। ताल के आकार को प्रकट करने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। प्राचीनकाल में कला संख्या

---

१. नाटचशास्त्र ३१।८-१०। २. नाटचशास्त्र ३१।१६-१८।

३. यक्षाक्षरोऽथ द्विकलस्तथा चैव चतुष्कलः।
त्रयो भेदा हि तालस्य द्विगुणात् द्विगुणाः स्मृताः॥
यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथाक्षरः।
गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्॥
द्विर्भावाद् द्विकलस्यैव विज्ञेयस्तु चतुष्कलः।
(नाटचशास्त्र ३१।२५, ४१-४२)

४. नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः। अयमेककलः। (संगीतरत्नाकर ५।१९)

के आधार पर निम्नलिखित पाँच ताल प्रचलित रहे हैं—चंचत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक (पंचपाणि), संपक्वेष्टक और उद्वह। इन्हीं में प्रत्येक ताल के अंग को द्विगुण, चतुर्गुण, एवं अष्टगुण करके नये नये तालों की कल्पना की जाती थी। इनको द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल आदि नाम से भी व्यवहृत किया जाता था। चंचत्पुट ताल के कलाभेद के अनुसार, चतुष्कल, अष्टकल तथा षोडशकल भेद होते थे और चाचपुट ताल के कला-प्रस्तार के अनुसार त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल, चतुर्विंशतिकल, अष्टचत्वारिंशत्कल और षण्णवतिकल ये छः प्रकार होते थे।[1]

लय—

'लय' को ताल का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। ताल की गति को नियंत्रित करने का कार्य लय के द्वारा सम्पन्न होता है। गान एवं वादन के अन्तर्गत प्रचलित एक-सा कालमान 'लय' है। कालमान के अनुसार लय तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्य और बिलम्बित।[2] शीघ्रतम लय 'द्रुत' होता है; द्रुत से द्विगुण 'मध्य' और मध्य से द्विगुण 'विलम्बित' लय होती है। मार्गभेद से चिर, क्षिप्र और मध्य भावों के कारण लय के अनेक भेद हो जाते हैं[3]। इन लय-प्रकारों का प्रयोग अभीष्ट रस के परिपोष के लिए किया जाता है। शार्ङ्गदेव ने लय का मार्ग से सम्बन्ध बताया है। उनके अनुसार वह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। प्रथम मार्ग एक हो और लय भिन्न-भिन्न और द्वितीय लय एक सा हो और मार्ग भिन्न-भिन्न। प्रथम के सम्बन्ध में कल्लिनाथ का कथन है कि द्रुत लय से दुगुनी विश्रान्ति होने पर मध्य-लय और मध्य-लय से दुगुनी विश्रान्ति होने पर बिलम्बित लय होती है। द्वितीय के सम्बन्ध में उनका कहना है कि चित्र, वार्त्तिक और दक्षिण मार्गों में क्रमशः चिर, क्षिप्र और मध्य भाव होते हैं जिनके कारण लय अनेक प्रकार की होती है। जैसे चित्रमार्ग में एक क्रिया से बनने वाली लय 'द्रुत' है, वार्त्तिक मार्ग में दो क्रियाओं से बनने वाली लय 'मध्य' है और दक्षिणमार्ग में चार क्रियाओं से बनने वाली लय' बिलम्बित' कहलाती है[4]।

---

१. नाटचशास्त्र ३१।२७-२९।

२. त्रयो लयास्तु विज्ञेयाः द्रुतमध्यविलम्बिताः। (नाटचशास्त्र ३१.५)

३. क्रियान्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः॥
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ।
मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृ० २४)

४. संगीतरत्नाकर (तालाध्याय) कल्लिनाथटीका पृष्ठ २५।

ताल के तीन मार्ग हैं—चित्र, वार्त्तिक और दक्षिण। इनमें चित्र मार्ग सबसे छोटा होता है, वार्त्तिक उससे दुगुना और दक्षिण वार्त्तिक से भी दुगुना होता है। प्रत्येक में क्रियाओं का काल दस लघु अक्षर ही होता है किन्तु मार्ग क्रमशः दुगुना-दुगुना होता जाता है जिसे पूरा करने के लिए दुगुना-दुगुना समय लग जाता है। इस प्रकार चित्रमार्ग में द्रुत लय, वार्तिक मार्ग में मध्य लय और दक्षिण मार्ग में विलम्बित लय होता है।

यति—

तालशास्त्र में लय के प्रयोग के नियम को 'यति' कहते हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार द्रुत और लघु के अर्धभाग को 'यति' कहते हैं।[1] इसके प्रयोग के लिए कोई नियम नहीं है फिर भी सामान्यतः यह यदि लघु के बाद हो तो 'अर्धलघु' और यदि द्रुत के बाद हो तो 'अर्धद्रुत' कहलाती है। कुछ विद्वान् इसे अर्धद्रुत ही कहते हैं। चाहे वह द्रुत के बाद प्रयुक्त हो अथवा लघु के बाद। दोनों अवस्थाओं में उसे 'अर्धद्रुत' ही कहते हैं। यति का प्रयोग ताल के सुन्दर समापन के लिए होता है। नाटयशास्त्र के अनुसार ताल के द्वारा गीतक्रिया के काल का अवधारण होता है और यति के द्वारा लय का प्रवर्त्तन होता है। नाटयशास्त्र के अनुसार यति तीन प्रकार की होती है—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा[2] नाटयशास्त्र के अनुसार वाद्यप्रधानभूयिष्ठा चित्रा 'समा' यति होती है और कभी विलम्बित एवं कभी द्रुत गति वाद्यश्रुतप्रधान होने पर स्रोतोगता तथा गुरु-लघु अक्षरों से भावित होने पर लम्बिता गोपुच्छा यति होती है। शार्ङ्गदेव के अनुसार भी यति तीन प्रकार की होती है—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा।[3] आदि, मध्य एवं अन्त में लय की समानता होने पर 'समा' यति है। द्रुत, मध्य एवं विलम्बित लय के भेद से यह तीन प्रकार की होती हैं। आदि, मध्य और अन्त में यति द्रुत लय हो तो प्रथम प्रकार की समा यति होती है। इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त में यदि मध्य लय हो तो द्वितीय प्रकार की 'समा' यति तथा आदि, मध्य और लन्त में विलम्बित 'लय' होने पर तृतीय प्रकार

---

१. लघुद्रुतयोश्चापि विरामः परियुज्यते। (भरतार्णव ७।४३६)

२. समा स्रोतोगता चैव गोपुच्छेति यथाक्रमम्।
(नाटयशास्त्र ३१।५३३)

३. लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते।
समास्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा॥
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ २६)

की समा यति होती है। आदि में विलम्बित, मध्य में मध्य एवं अन्त में द्रुत लय (गति) वाली यति को 'स्रोतोवहा' कहते हैं। यह जल के समान प्रारम्भ में विलम्बित और क्रमशः द्रुत गति वाली होती जाती है। यह क्रमशः विलम्बित, मध्य और द्रुत गति के भेद से तीन प्रकार की होती है। आदि में द्रुत, मध्य में मध्य और अन्त में विलम्बित लय (गति) वाली यति 'गोपुच्छा' कहलाती है। अर्थात् जिस प्रकार गाय की पूँछ प्रारम्भ में चौड़ी और क्रमशः पतली होती जाता है उसी प्रकार प्रारम्भ में द्रुत और क्रमशः मध्य एवं मध्य से विलम्बित गति वाली यति गोपुच्छा कहलाती है। यह तीन प्रकार की होती है। आदि में द्रुत, मध्य में मध्य और अन्त में विलम्बित लय होने पर प्रथम प्रकार की गोपुच्छा यति होती है। आदि में द्रुत, मध्य में विलम्बित तथा अन्त में विलम्बित यति होने पर द्वितीय प्रकार की गोपुच्छा यति होती है तथा आदि में मध्य और मध्य एवं अन्त में विलम्बित लय होने पर तृतीय प्रकार की गोपुच्छा यति होती है[1]। इनके अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने मृदङ्ग और पिपीलिका नामक दो यतियों को और माना है।

प्रस्तार—

ताल के विभिन्न अंगों के विकास के विस्तार की कल्पना का मार्ग 'प्रस्तार' है। जिस प्रकार सात स्वरों के विस्तार से अनेक तानें उत्पन्न हुई हैं उसी प्रकार एक मात्रा से लेकर तेरह मात्राओं तक के प्रस्तार से अनेकविध तालें उत्पन्न होती हैं।

तालांग-घातादि—

'द्रुत' नामक तालांग के लिये एक तीव्रघात होना चाहिए। लघु के लिए केवल आघात होता है और गुरु के लिए विसर्ग-सहित आघात होता है। प्लुत के लिए आघात के पश्चात् हाथ से दबाकर भूमि पर छोड़ देना चाहिये। हंसपाद अंग में दोनों हाथों को दोनों पार्श्व में हिलाकर फिर उठाया जाय तदनन्तर उसे मध्य में लाना चाहिये। विराम को लघु एवं द्रुत के पश्चात् प्रयुक्त किया जाता है[2]। इसे द्रुत एवं लघु की अगली सीढ़ी कहा गया है। 'विराम' का प्रयोग ताल के सुन्दर समापन के लिये किया जाता है। इसके प्रयोग के समय के लिये कोई कठोर नियम नहीं है, तथापि सामान्यतः इसे लघु के पश्चात् प्रयोग होने पर अर्ध-लघु और द्रुत के बाद प्रयोग होने पर अर्धद्रुत कहा जाता है। कुछ विद्वान् विराम का समय सदैव अर्धद्रुत मानते हैं।

---

१. संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ २६।

२. भरतार्णव, ७।४३४-४३९.

ताल के प्रकार

नाटचशास्त्र के अनुसार ताल दो प्रकार का होता है—त्र्यस्र और चतुरस्र। इनमें त्र्यस्र को चाचपुट और चतुरस्र को चंचत्पुट कहते हैं[1]। इन दोनों के तीन-तीन भेद होते हैं—एककल, द्विकल और चतुष्कल[2]। चंचत्पुट ताल में दो गुरु, एक लघु और अन्त में एक प्लुत होता है। इसमें कुल आठ मात्राएँ होती हैं[3]। यह एककल चंचत्पुट का उदाहरण है। द्विकल चंचत्पुट में आठ गुरु एवं सोलह मात्राएँ होती हैं। इसी प्रकार चतुष्कल चंचत्पुट में सोलह गुरु अर्थात् बत्तीस मात्राएँ होती हैं[4]। इसी प्रकार 'चाचपुट' ताल में एक गुरु, दो लघु एवं अन्त में एक गुरु होता है। इसमें कुल छः मात्राएँ होती हैं[5]। यह एककल 'चाचपुट' का उदाहरण है। द्विकल चाचपुट में छः गुरु और बारह मात्राएँ होती हैं और चतुष्कल चाचपुट में बारह गुरु एवं चौबीस मात्राएँ होती हैं[6]। इन दो तालों के सम्मिश्रण से 'षट्पितापुत्रक' ताल उत्पन्न होता है। इसे 'पंचपाणि' भी कहते हैं। पंचपाणि ताल में एक प्लुत, एक लघु, दो गुरु, एक लघु एवं अन्त में एक प्लुत होता है। इसमें कुल बारह मात्राएँ होती हैं[7]। षट्पितापुत्रक ताल भी एककल, द्विकल एवं चतुष्कल भेद से तीन प्रकार का होता है। एककल षट्पितापुत्रक ताल की यथास्थिति होती है। द्विकल षट्पितापुत्रक ताल में बारह गुरु एवं चौबीस मात्राएँ होती हैं किन्तु एक पाद-भाग चार मात्राओं का होता है। चतुष्कल षट्-पितापुत्रक ताल में चौबीस गुरु एवं अड़तालीस मात्राएँ होती हैं। इसके प्रत्येक चरण में आठ-आठ मात्राएँ होती हैं[8]। भरत ने उपर्युक्त तीनों तालों के अतिरिक्त संपक्वेष्टाक और उद्घट नामक दो और तालों को स्वीकार किया है। नन्दिकेश्वर ने भी इनका वर्णन किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार 'संपक्वेष्टाक' ताल में प्लुत,

---

१. त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च स तालो द्विविधः स्मृतः।
चतुरस्तु विज्ञेयः तालश्चंचत्पुटो बुधैः।
त्र्यस्रः स खलु विज्ञेयस्तालश्चाचपुटो भवेत्॥ (नाटचशास्त्र ३१।७-९)

२. यथाक्षरोऽथ द्विकलस्तथा चैव चतुष्कलः।
(नाटचशास्त्र ३१।२५)

३. वृद्धौ स्यादथलस्त्र्यंगः सोऽयं चंचत्पुटो भवेत्।
(भरतार्णव ७-४३७)

४. संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ १४-१७।

५. गुर्वोर्मध्ये चाचपुटे लघुद्वन्द्वं प्रकीर्त्तितम्॥ (भरतार्णव ७।४३७)

६. संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ १५-१७।

७. पोलोगो गलपाश्चैव षट्पितापुत्रकः स्मृतः। (भरतार्णव ७।४३८)

८. संगीतरत्नाकर, तालाध्याय, पृष्ठ १५-१७।

तीन गुरु और अन्त में एक प्लुत होता है[1]। इसमें कुल बारह मात्राएँ होती है। 'उद्घट' ताल में एक मगण अर्थात् तीन गुरु एवं छः मात्राएँ होती है[2]। ये पाँच ताल नाट्यशास्त्र एवं भरतार्णव दोनों ग्रन्थों में समानरूप से मिलते हैं। भरत इन्हें मार्गताल कहते हैं। भरत ने ताल को दो भागों में बाँटा है—निःशब्द ताल और सशब्दः ताल। शार्ङ्गदेवने इसी को मार्ग और देशी इन दो भागों में बाँटा है। इसे ही आहत तथा अनाहत भी कहते हैं। भरत भी मार्ग और देशी भेद को स्वीकार करते हैं। नाट्यशास्त्र में उक्त पाँच तालों का ही विवेचन मिलता है जबकि भरतार्णव में एक सौ आठ तालों का निर्देश है किन्तु गणना में एक सौ बारह ताल विवेचित हैं। भरतार्णव के अनुसार इन तालों का स्वरूप निम्न प्रकार है :—

१.	चच्चत्पुटम्	= S S । S̀	=	(८)
२.	चाचपुटम्	= S । । S	=	(६)
३.	षट्पितापुत्रकम्	= S̀ । S S । S̀	=	(१२)
४.	सम्पक्वेष्टाकम्	= S̀ S S S S̀	=	(१२)
५.	उद्घट्टम्	= S S S	=	(६)
६.	आदिताल	= ।	=	(१)
७.	दर्पणताल	= o o S	=	(३)
८.	चच्चरी	= o 'δ' । o δ Ī o δ । oδ । o δ । o δ ।o δ ।	=	(१८)
९.	सिंहलील	= । o o o ।	=	(३½)
१०.	कन्दर्प	= o o । S S	=	(६)
११.	सिंहविक्रम	= S S S । S̀ । S S̀	=	(१६)
१२.	श्रीरंग	= । । S । S̀	=	(८)
१३.	रतिलील	= । । S S	=	(६)
१४.	रंगताल	= o o o o S	=	(४)
१५.	परिक्रम	= o o । । S	=	(५)
१६.	प्रत्यंग	= S S S । ।	=	(८)
१७.	गजलील	= । । । ।̀	=	(४¼)
१८.	त्रिभिन्न	= । S S̀	=	(६)
१९.	वीरविक्रम	= । । o o S	=	(५)
२०.	हंसलील	= ।̀ ।̀	=	(२½)
२१.	वर्णाभिन्न	= S । o o	=	(४)

---

१. मगणः स्यात् प्लुताद्यन्तः संपक्वेष्टाकसंज्ञके। (भरतार्णव ७।४३८)

२. उद्घट्टे मगणस्त्वेकः। (भरतार्णव ७।४३९)

२२. राजचूड़ामणि = o o | | | o o | S = (८)
२३. रंगद्योतन = S S S | Ṡ = (१०)
२४. राजताल = o Ṡ o o S | Ṡ = (१९)
२५. सिंहविक्रीडितम् = | Ṡ S | Ṡ S Ṡ | Ṡ = (१९)
२६. वनमाली = o o o o | | o o S = (७)
२७. चतुरस्रवणं = S | | o o S = (७)
२८. त्र्यस्रवणं = | o o | | S = (६)
२९ मिश्रवर्ण = o o δ o o δ o o δ o o δ = (७)
३०. वर्णताल = δ o δ o o o | | | | | | | | | | o o δ
= (१५)

३१. खण्डवर्णताल = Ṡ Ṡ S o S S | S = (१५½)
३२. रंगप्रदीप = | | S S Ṡ = (९)
३३. हंसनाद = | Ṡ o o Ṡ = (८)
३४. सिंहनाद = | S S | S = (८)
३५. मल्लिकामोद = | | o o o o = (४)
३६. शरभलील = | o | o | o | o | | = (८)
३७. रंगाभरण = S S | | Ṡ = (९)
३८. तुरंगलील = o o | = (२)
३९. सिंहनन्दन = S S | S | S o o S S | Ṡ | Ṡ S | | +
= (३२)

४०. जयश्री = S | S | S = (८)
४१. विजयानन्द = | | S S S = (८)
४२. प्रतिताल = | | o o = (३)
४३. द्वितीयक = o o | = (२)
४४. मकरन्द = o o | | | S = (६)
४५. कीर्तिताल = | Ṡ S S | Ṡ = (१२)
४६. विजयताल = Ṡ S S S = (१०)
४७. जयमंगल = | | S | | S = (८)
४८. राजविद्याधर = | S o o = (४)
४९. मंठ (मठ्य) ताल = | | S | | | | = (८)
५०. नेत्रमंठ = S S | S S + = (१३)
५१. प्रतिमंठ = | | | | S | | = (८)
५२. जयताल = | S | | | o o Ṡ = (१०)

५३.	कुडुक्क	= o o | |	=	(३)
५४.	निस्सारुक	= | ˋ|	=	(२$\frac{१}{४}$)
५५.	निस्सानुक	= | | S S | |	=	(८)
५६.	क्रीड़ाताल	= o δ	=	(१$\frac{१}{४}$)
५७.	त्रिभंगी	= | | S S	=	(६)
५८.	कोकिलप्रिय	= S | Ṡ	=	(६)
५९.	श्रीकीर्तिताल	= S S | |	=	(६)
६०.	बिन्दुमाली	= S o o o o S	=	(६)
६१.	नन्दन	= | | o o Ṡ	=	(६)
६२.	श्रीनन्दन	= S o o S	=	(५)
६३.	उद्वीक्षण	= | | S	=	(४)
६४.	मंठिकाताल	= S o Ṡ	=	(५$\frac{१}{२}$)
६५.	आदिमठ्य	= | | ˋ| ˋ|	=	(४$\frac{१}{२}$)
६६.	वर्णमठ्य	= | | o o | o o	=	(५)
६७.	ढेंकीताल	= S | S	=	(५)
६८.	अभिनन्दन	= | | o o S	=	(५)
६९.	नवक्रीड	= o δ	=	(१$\frac{१}{४}$)
७०.	मल्लताल	= | | | | o δ	=	(५$\frac{१}{४}$)
७१.	दीपक	= o o | | S S	=	(७)
७२.	अनंगताल	= | S | | S Ṡ	=	(११)
७३.	विषमताल	= o o o δ o o o δ	=	(४$\frac{१}{२}$)
७४.	नान्दीताल	= | o o | | S S	=	(८)
७५.	मुकुन्दताल	= | o o | S (| o o o o S)	=	(५)
७६.	कर्षुक	= | | | | S	=	(६)
७७.	एकताल	= o	=	($\frac{१}{२}$)
७८.	पूर्णकंकाल	= o o o o S |	=	(५)
७९.	खंडकंकाल	= o o S S	=	(५)
८०.	समकंकाल	= S S |	=	(५)
८१.	असमकंकाल	= | S S	=	(५)
८२.	झोंबड	= | | ˋ|	=	(३$\frac{१}{४}$)
८३.	पणताल	= | o |	=	(२$\frac{१}{२}$)
८४.	अभंगताल	= | Ṡ	=	(४)
८५.	रायबंगाल	= S | S o o	=	(७)
८६.	लघुशेखर	= ˋ|	=	(१$\frac{१}{४}$)

८७.	द्रुतशेखर	= δ	= (३/४)
८८.	प्रतापशेखर	= Š o Š	= (४ १/४)
८९.	गजझम्पा	= S o δ	= (३ १/४)
९०.	चतुर्मुखताल	= I S I Š	= (७)
९१.	झंपाताल	= o δ I	= (२ १/४)
९२.	प्रतिमठ्य	= I I S S I I	= (८)
९३.	तृतीयताल	= I I o o δ	= (३ ३/४)
९४.	वसन्त	= I I I S S S	= (९)
९५.	ललित	= o o I S	= (४)
९६.	रतिताल	= I S	= (३)
९७.	करणताल	= o o o o	= (२)
९८.	षट्ताल	= o o o o o o	= (३)
९९.	वर्धन	= o o I Š	= (५)
१००.	वर्णताल	= I I Š Š	= (८)
१०१.	राजनारायण	= o o I S I S	= (७)
१०२.	मदनताल	= o o S	= (३)
१०३.	पार्वतीलोचन	= o o I I o o I I I I S S I I	= (१६)
१०४.	गारूगी	= o o o δ	= (२ १/४)
१०५.	श्रीनन्दन	= S I I Š	= (७)
१०६.	जयताल	= I S I I o o Š	= (९)
१०७.	लीलाताल	= o I Š	= (४ १/२)
१०८.	विलोकित	= I S S o o Š Š	= (१२)
१०९.	ललितप्रिय	= I I S I S	= (७)
११०.	जनक	= I I I I S S I I S S	= (१४)
१११.	लक्ष्मीश	= o o δ I I Š Š	= (९ ३/४)
११२.	भद्रबाण	= I o I	= (२ १/२)

उपर्युक्त तालों में प्रारम्भ की पाँच तालें सर्वप्राचीन हैं। इन्हें मार्गताल भी कहा जाता है। अष्टम ताल चच्चरी ताल है। इसमें अट्ठारह मात्राएँ होती हैं। इसमें एक द्रुत, एक द्रुतविराम तथा एक लघु को आठ बार दोहराया जाता है[1]। तमिल ग्रन्थों में अधिकांशतः अठारह मात्राओं वाला प्रकार ही वर्णित है किन्तु संस्कृत ग्रन्थों में चच्चरी ताल में केवल इग्यारह मात्राएँ ही वर्णित हैं

1. अष्टकृत्वस्तु चञ्चर्यां विरामान्तौ द्रुतौ लघुः। (भरतार्णव ७।४४०)

जिसमें लघु केवल एक बार अन्त में ही प्रयुक्त होता है। तेरहवां ताल 'रतिलील' है। इसमें दो लघु तथा दो गुरु इस प्रकार छः मात्राएँ होती हैं[1]। किन्तु 'भरतार्णव' की सरस्वती महल में प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति में 'लघुरेकः' पाठ मिलता है। इस प्रकार 'रतिलील' ताल में एक लघु का निर्देश किया गया है। किन्तु अन्य संस्कृत एवं तमिल ग्रन्थों में 'लघुद्वन्द्वं' पाठ ही मिलता है अतः दो लघु एवं दो गुरु का ही निर्देश किया गया है। पचीसवां ताल 'सिंहविक्रीडित' है। इसमें उन्नीस मात्राएँ होती हैं तथा एक लघु, एक प्लुत, एक गुरु पुनः एक लघु, एक प्लुत, एक गुरु तदनन्तर एक प्लुत, एक लघु तथा एक प्लुत (। ऽ̀ ऽ । ऽ̀ ऽ ऽ̀ । ऽ̀) इस प्रकार उन्नीस मात्राएँ होती हैं[2]। यह भरतार्णव की पाण्डुलिपि के आधार पर है किन्तु 'आदिभरतम्' की दो पाण्डुलिपियों में इस ताल के लिये सत्रह मात्राओं का निर्देश है। सरस्वती महल से प्रकाशित तामिलग्रन्थ 'ताल-समुद्रम्' में इस ताल के दो प्रकारों का निर्देश है—एक में सत्रह मात्राएँ और दूसरी में पन्द्रह मात्राएँ हैं। 'धर्मपुरम्' मठ के एक संस्करण 'चच्चपुटवेंब' नामक प्राप्त एक अन्य ग्रन्थ ग्रन्थ में सत्रह मात्राओं के सिंहविक्रीडित नामक ताल का निर्देश है। यही पर 'तालवकलिवेंब' में अठारह मात्राओं के सिंहविक्रीडित' नामक ताल का उल्लेख है। अन्नामलाई विश्वविद्यालय के संस्करण 'भरतसंग्रहम्' नामक ग्रन्थ में इस ताल में अठारह मात्राओं का निर्देश किया गया है।

भरतार्णव में 'मंठ' ताल का विवेचन किया गया है। इसे 'मठ्य' ताल भी कहते हैं। मंठ या मठ्य ताल में आठ मात्राएँ होती हैं। इसमें पहले दो लघु, एक गुरु तदनन्तर चार लघु (। । ऽ । । । ।) तथा आठ मात्राएँ होती हैं[3]। 'आदिभरतम्' के अनुसार उसमें छः मात्राएँ होनी चाहिये अर्थात् दो लघु एवं एक गुरु के पश्चात् चार द्रुत होने चाहिये। 'तालसमुद्रम्' नामक ग्रन्थ में इस ताल के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम में आदिभरतम् के अनुसार छः मात्राएँ होती हैं और द्वितीय में पाँच मात्राएँ होती हैं, जिसमें दो लघु एवं एक गुरु के पश्चात् दो द्रुत (। । ऽ ० ०) होते हैं। प्रतिमंठ तथा प्रतिमठ्य ताल में भी आठ मात्राएँ होती हैं, किन्तु मंठ और प्रतिमंठ तथा प्रतिमठ्य के क्रम में अन्तर है। मंठ ताल में दो लघु के बाद एक गुरु तत्पश्चात् चार लघु (। । ऽ । । ।) होते हैं और प्रतिमंठ में एक नगण तथा एक जगण और अन्त में एक लघु (। । । । ऽ । ।) तथा आठ मात्राएँ होती हैं।[4] 'आदिभरतम्' में इसे 'तृतीय मठ्य' नाम से

---

१. रतिलीले विधातव्यं लघुरेको गुरुद्वयम् ॥ (भरतार्णव ७।४४२)
२. लपौ गलौ पो गपलाः सिंहविक्रीडिते प्लुतः ॥ (भरतार्णव ७।४४८)
३. सकारं मंठताले स्यात्तदग्रे लचतुष्टयम्। (भरतार्णव ७।४६१)
४. नगणो जगणो लश्च प्रतिमंठे नियोजितः ॥ (भरतार्णव ७।४६२)

अभिहित किया गया है। 'तालसमुद्रम्' में इसे 'प्रकाशमठ्य' कहा गया है किन्तु उसमें एक नगण और एक भगण (। । । ऽ । ।) सात मात्राओं का निर्देश है। प्रतिमठ्य में भी आठ मात्राएँ होती हैं किन्तु इसमें एक सगण तथा एक भगण (।।ऽऽ।।) होता है[1]। इस ताल का दूसरा नाम 'झपक' ताल भी है। भरतार्णव में प्रतिमंठ और प्रतिमठ्य अलग-अलग ताल माने गये हैं और दोनों के स्वरूप एवं क्रम में भी अन्तर है। किन्तु दोनों में मात्राएँ आठ ही होती हैं। प्रतिमंठ ताल में एक नगण और एक जगण तथा अन्त में एक लघु (। । । । ऽ । ।) होता है और प्रतिमठ्य ताल में एक सगण और एक भगण (। । ऽ ऽ । ।) होता है। दोनों में ही आठ-आठ मात्रायें होती हैं।

अन्यमठ या नेत्रमंठ तेरह मात्राओं का ताल होता है जिसमें एक तगण दो गुरु तथा अन्त में एक काकपद (ऽ ऽ । ऽ ऽ +) होता है[2]। आदिभरतम् तथा अन्य तामिल ग्रन्थों में इसके लिये बारह मात्राओं (ऽ । । ऽ ऽ +) का निर्देश किया गया है। 'तालसमुद्रम्' नामक ग्रन्थ में मंठ या मठ्य नामक ताल के द्वितीय भेद के लिये पाँच मात्राओं का निर्देश किया गया है। भरतार्णव में 'वर्णमठ्यक' ताल के लिये भी पाँच मात्राओं का निर्देश है किन्तु दोनों के क्रम में अन्तर है। तालसमुद्रोक्त मंठ ताल में दो लघु एवं एक गुरु के पश्चात् दो द्रुत (। । ऽ ० ०) होते हैं जबकि वर्णमठ्यक ताल में दो लघु एवं दो द्रुत के पश्चात् एक लघु एवं दो द्रुत (।।००।००) होते हैं[3]। यदि दो लघु के बाद विरामयुक्त पुनः दो लघु (। । ।ो ।ो) आते हैं तो 'आदिमठ्य' ताल कहलाता है[4]। इसमें ४½ मात्रायें होती हैं। इसी प्रकार एक गुरु तथा एक बिन्दु के पश्चात् एक प्लुत (ऽ ० ऽ) आने पर मंठिकाताल होता है[5]। इसमें साढ़े पाँच ५½ मात्राएँ होती हैं।

तालों में कंकालताल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कंकालताल चार प्रकार का होता है—पूर्णकंकाल, खण्डकंकाल, समकंकाल और असमकंकाल। इनमें पूर्णकंकाल ताल में चार द्रुत, एक गुरु एवं एक लघु (० ० ० ० ऽ ।) होता है। इसमें कुल पांच मात्राएँ होती हैं। खण्डकंकाल, समकंकाल और असमकंकाल में भी पांच मात्राएँ ही होती हैं किन्तु उनके क्रम में अन्तर रहता है। जैसे खण्ड-

---

१. प्रतिमठ्ये तु सगणो भगणः परिकीर्त्तितः ।। (भरतार्णव ७।४८३)
२. तकारतो गुरुद्वन्द्वं न शब्दमन्यमंठके। (भरतार्णव ७।४६१)
३. लौ विन्दू लश्च बिन्दू वर्णमठ्याख्यतालके। (भरतार्णव ७।४६९)
४. आदिमठ्यकताले तु लद्वयं द्वौ विरामकौ ।। (भरतार्णव ७।४६९)
५. मंठिकायां विधातव्या गुरुविन्दुप्लुताः क्रमात्। (भरतार्णव ७।४६८)

कंकाल ताल में दो द्रुत के पश्चात् दो गुरु (००ऽ ऽ) होते हैं, समकंकाल में दो गुरु के पश्चात् एक लघु (ऽऽ।) होता है और असमकंकाल ताल में एक लघु के पश्चात् दो गुरु (। ऽ ऽ) होते हैं[१]। इसी प्रकार झम्पाताल में सवा दो २¼ मात्राएँ होती हैं जिसमें दो द्रुत, जिनमें से एक विराम पर समाप्त होता है तथा अन्त में एक लघु (०୪।) होता है[२]। यदि एक गुरु के बाद दो द्रुत आते हैं जिनमें अन्तिम द्रुत विराम पर समाप्त होता है (ऽ०୪), तो उसे 'जगझम्पा' ताल कहते हैं[३]। भरतार्णव में एक चतुर्मुख ताल का उल्लेख है। इसके दो प्रकार बताये गये हैं। प्रथम में सात मात्राएँ होती हैं जिनमें एक जगण तथा एक प्लुत होता है (। ऽ । ऽ)। द्वितीय प्रकार में छः मात्राएँ होती हैं जिनमें एक नगण तथा अन्त में एक प्लुत (।।।ऽ) होता है[४]। भरतार्णव में सर्वाधिक मात्राओं का ताल 'सिंहनन्दन' है जिसमें एक तगण के बाद एक प्लुत एक लघु पुनः एक प्लुत एक गुरु और अन्त में दो लघु (ऽ ऽ । ऽ̆ । ऽ ० ० ऽ ऽ । ऽ̆ । ऽ̆ ऽ । ।) तथा बत्तीस मात्रायें होती हैं। शेष सभी ताल कम मात्राओं के होते हैं।

इस प्रकार भरतार्णव में एक सौ बारह तालों का विवेचन है। कंकाल-ताल के चार भेद होते हैं। यदि उसे एक प्रकार का मान लिया जाय तो तालों की संख्या एक सौ नौ होती है। भरतार्णव में इनका सम्बन्ध मुख्यतः ताण्डव एवं लास्य नृत्यों से जोड़ा गया है। प्राचीन तालों की अध्ययन दिशा में यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार संगीत-परम्परा में ताल का सर्वाधिक महत्त्व सिद्ध होता है। संगीत की तीनों विधाओं नृत्य, गीत एवं वाद्य में ताल का महत्त्व स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में नृत्य एवं गीतों के साथ हाथ से ताल देने की प्रणाली प्रचलित थी। ताल के अन्तर्गत निःशब्द तथा सशब्द दोनों क्रियाओं का उपयोग मात्राओं की गणना के लिए किया जाता था। नन्दिकेश्वर के अनुसार मार्ग और देशी भेद से दो प्रकार के ताल होते हैं। नन्दिकेश्वर ने दोनों तालों का विवेचन किया है। उनके अनुसार मार्गताल

---

१. चतुर्विधं स्यात् कंकालः पूर्णः खण्डः समोऽसमः।
पूर्णे द्रुतचतुष्केण गुरुणा लघुना क्रमात्॥
द्रुतं द्वन्द्वं गुरू खण्डे गुरुद्वन्द्वं लघुः समे।
एको लघुर्गुरुद्वन्द्वं कंकाले त्वसमे भवेत्॥ (भरतार्णव ७।४७६-७७)

२. व्योमद्वयं विरामान्तं लश्च झंपाभिधे भवेत्। (भरतार्णव ७।४८३)

३. जगझम्पे गुरुस्त्वेको विरामान्तं द्रुतद्वयम्॥ (भरतार्णव ७।४८१)

४. चतुर्मुखाभिधे ताले जगणानन्तरं प्लुतः॥
नगणश्च प्लुतश्चान्यश्चतुर्मुख समाद्वये॥ (भरतार्णव २७।४८)

पाँच प्रकार के होते हैं—चाचपुट, चच्चत्पुट, षट्पितापुत्रक, संपक्वेष्टाक और उद्घट्ट। कहरवा, धुमाली, दादरा आदि आधुनिक तालों के साथ इनका सामञ्जस्य बिठाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त शेष देशीताल हैं।

प्रारम्भ में केवल दो प्रकार के ताल थे—त्र्यस्र एवं चतुरस्र। इन्हीं से विविध तालों का विकास हुआ है। नाटचशास्त्र में आदिकाल में उत्पन्न पाँच तालों का निर्देश किया गया है किन्तु ताल-कलाओं की वृद्धि एवं तालों को मिश्रित करके तालों की संख्या-वृद्धि के मार्ग का भी निर्देश किया है। नाटचशास्त्र में एक सौ आठ तालों का निर्देश नही है। 'आदिभरतम्' एवं 'भरतार्णव' में एक सौ आठ तालों के नाम एवं विवरण प्राप्त होते हैं। भरतार्णव में चार ताल अधिक दिये गये हैं। इस प्रकार भरतार्णव में एक सौ बारह तालों का निरूपण किया गया है। भरतार्णव के तेरहवें अध्याय में कुछ विशिष्ट तालों का विवरण प्राप्त होता है जिनका प्रयोग ताण्डव एवं लास्य नृत्यों में किया जाता था। अध्ययन की दृष्टि से यह विवरण महत्त्वपूर्ण है। शार्ङ्गदेव ने १२० तालों का बड़े वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। इनमें से ८८ ताल आदिभरतम् के १०८ तालों में प्रतिपादित हैं और ९१ तालें भरतार्णव में प्रतिपादित ११२ तालों में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार 'आदिभरतम्' और 'तालसमुद्रम्' में उल्लिखित तालों से नन्दिकेश्वरप्रोक्त तालों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है।

●

नवम अध्याय

नन्दिकेश्वर की कृतियों में रसतत्व

भारतीय साहित्य में नाट्य-विधायक तत्त्वों में 'रस' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। रस के आदि प्रतिष्ठाता भरत माने जाते हैं किन्तु नाटचशास्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भरत के पूर्व भी रस-मीमांसा की परम्परा विद्यमान थी। जैसा कि भरत ने नाटचशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रस एवं भावों के विवेचन के अवसर पर अपने विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आनुवंश्य श्लोक एवं आर्यायें उद्धृत की हैं। एक स्थल पर तो उन्होंने रसशास्त्र पर रचित एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।[1] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत के पूर्व रस-विवेचन की परम्परा विद्यमान थी, चाहे वह अविकसित अवस्था में भले ही रही हो। राजशेखर ने तो नन्दिकेश्वर का रस के आधिकारिक विद्वान् के रूप में उल्लेख किया है।[2] किन्तु उनका रस-विषयक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। सम्भव है भरत ने उनके विचारों का आकलन कर उसे व्यवस्थित रूप दिया हो। क्योंकि एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप में रस का प्रथम उपस्थापन भरत के नाटचशास्त्र में ही उपलब्ध होता है। भरत ने नाटच के प्रसंग में रस का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह नाटचशास्त्र में सर्वथा मौलिक एवं मनोहारी प्रसङ्ग है। उनकी दृष्टि में 'रस' नाटचरचना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता।[3] नाटचशास्त्र के मुख्य विवेच्य विषय चार हैं—अभिनय, नृत्य, संगीत एवं रस। किन्तु इनमें रस प्रमुख है क्योंकि वे अभिनय, नृत्य एवं संगीत को रसाभिव्यक्ति का प्रधान या गौण सहकारी साधन मानते हैं। भरत ने जिन-जिन विषयों का नाटचशास्त्र में प्रतिपादन किया है उन सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रस के साथ है क्योंकि रस के स्फुटीकरण के सम्बन्ध में ही उनकी चर्चा

---

१. नाटचशास्त्र (काव्यमाला), पृष्ठ ६७।

२. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः (काव्यमीमांसा, प्रथम अधिकरण)।

३. 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।' (नाटचशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ २७२)

की गई है। उदाहरण के लिए, जैसे –मध्यम आकार वाले रंगमंच को रस को साक्षात्कार कराने की दृष्टि से अधिक सक्षम बताया है। क्योंकि रंगमंच का आकार यदि बड़ा है तो 'रस' दर्शकों के लिए अस्पष्ट ही रहेगा जिसे वाणी के उच्चारण तथा मुखगत अनुभावों द्वारा व्यक्त किया जाता है।[1] इसी प्रकार नृत्त की व्याख्या के प्रसंग में बताया गया है कि विविध प्रकार के नृत्त विविध रसों को अभिव्यक्त करते हैं।[2] इसी प्रकार नृत्त के साथ प्रयुक्त होने वाले गीत के स्वर भी रसाभिव्यक्ति के साधन होते हैं। अतः उनके मतानुसार नृत्य भी रसाभिव्यक्ति का साधन है। प्रस्तावना के प्रसंग में भी बताया गया है कि यदि प्रस्तावना अधिक विस्तृत होती है तो अभिनेता थक जायेंगे और रस को स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं कर सकेंगे और दर्शक ऊब जायंगे तथा रसास्वादन नहीं कर सकेंगे।[3] अतः रसानुभूति की दृष्टि से प्रस्तावनादि का विस्तार ठीक नहीं है। इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के प्रायः सभी विवेच्य विषय रसाभिव्यक्ति के साधनमात्र हैं। अतः नाट्य में रस का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

रस का स्वरूप:—

दर्शनशास्त्र में रस का एक गुण माना गया है जिसका ज्ञान हमें रसनेन्द्रिय के द्वारा होता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय एवं तिक्त भेद से रस छः प्रकार होते हैं।[4] आयुर्वेदशास्त्र में 'रस' का अर्थ सफेद द्रव पदार्थ है[5] जो पाचनक्रिया की सहायता से भोजन से उत्पन्न होता है। यह मुख्यतः हृदय में रहता है और वहाँ से परिचालित होकर धमनियों में होते हुए समस्त शरीर का पोषण करता है। सामान्यतः पुष्प एवं फलों से निकले हुए द्रव पदार्थ को भी 'रस' कहते हैं किन्तु इसका अन्तर्भाव उपर्युक्त षड्रस में हो जाता है। इनके अतिरिक्त पारद, विषय, सार, जल-संस्कार, अभिनिवेश, क्वाथ और देहधातु के सार के रूप में 'रस' शब्द प्रसिद्ध है अन्यत्र नहीं।[6] किन्तु श्रृंगारादि में प्रयुक्त होने वाला रस 'नाट्य या काव्य' रस कहा जाता है जिसका आस्वादन रसनेन्द्रिय

---

१. अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ ५३–५४।

२. अभिनव भारती, भाग १, पृष्ठ १८०–१८२।

३. अभिनव भारती, भाग १, पृष्ठ २४६।

४. मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदेन षड्विधाः —तर्कसंग्रह

५. शब्दार्थचिन्तामणि, भाग ४, पृष्ठ ७१।

६. मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे क्वाथे देहधातोर्निर्यासे वाऽयं प्रसिद्धो न त्वन्यत्र ॥

—अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २८८।

द्वारा नहीं होता; वलिक मन से होता है। नट के द्वारा अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय, नाटक एवं काव्यविशेष से प्रकाश्य अर्थ 'नाटच' कहा जाता है। यह नाटच विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्तविभावादि रूप है, किन्तु सभी विभावों के ज्ञान में पर्यवसित होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्ताओं के प्रधान भोक्ता (नायक) में पर्यवसान होने से नायक की रत्यादि रूप स्थायीभावात्मक चित्त-वृत्ति भी 'नाटच' है।[1] वह चित्तवृत्ति स्वकीय एवं परकीय भेद से रहित होकर लौकिक गीत, गेयपदादि, लास्य के दस अंग से युक्त, स्वीकृतलक्षण सम्पन्न, गुण, अलंकार, गीत, वाद्य आदि के संयोग से मनोहारित्व को प्राप्त होकर काव्य की महिमा एवं प्रयोग-परम्परा के अभ्यास विशेष के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्त कर सामाजिकों को भी अपनी सीमा में समाविष्ट कराकर तथा दोनों की चित्तवृत्ति में तादात्म्य होने के कारण अनुमान, आगम एवं परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से विलक्षण रूप में प्रतीत होने वाली नायक के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने कारण, लौकिक अंगना आदि से उत्पन्न अपनी रति एवं शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निर्बाध अनुभूति नामक व्यापापार के द्वारा गृहीत होने से 'रस' शब्द से अभिहित होती है।[2] अतः रस ही नाटच है क्योंकि नाटच की पूर्णतः अनुभूति रस में ही होती है। इस प्रकार जिस नाटचरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। इस नाटचरस के अन्तर्गत अन्य सब रसों की स्थिति गौण होती है और ये प्रधान रस का ज्ञान समुदायरूप में करवाते हैं। यह रस नाटच-समुदाय से ही आविर्भूत होता है। अतः नाटच में रस निहित है। इस प्रकार रससमुदाय ही नाटच है अथवा नाटच ही रस है। दृश्यकाव्य में नाटचरूप ही रस होता है।[3] भरत का कथन है कि जिस प्रकार संसार में पुरुष सुसंस्कृत नाना प्रकार के व्यंजनों का भोजन करते हुए रसों का आस्वादन कर आनन्दित होते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के विभाव-अनुभाव रूप भावों एवं अभिनयों के द्वारा

---

१. तत्र नाटचं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा, तथापि सर्वेषां जड़ानां संविदि तस्याश्च भोक्तरि भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।

(अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २६६)

२. अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २६६–६७।

३. नाटचात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृष्ठ २९०)

अभिव्यक्त वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक युक्त स्थायी भावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि प्राप्त करते हैं।[1] विश्वनाथ का कथन है कि सहृदय के हृदय में वासनारूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव एवं संचारिभावों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं तब उन्हें 'रस' कहा जाता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य या नाटच के सहृदय व्यक्तियों को ही 'रस' का अनुभव हुआ करता है किन्तु इस रस का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जब उनके हृदय में सत्त्व का उद्रेक होता है।

अभिनवगुप्त की दृष्टि में समुदायरूप अर्थ नाट्य होता है। अभिनय भी उसी नाठच का एक अंश है। वह नाटच ही तादात्म्य प्रतीति है और तादात्म्य प्रतीति वह महारस है जो प्रेक्षकों को आनन्द रस में निमग्न कर देता है। इस प्रकार रस आनन्द रूप है और रस के आनन्दरूप होने के कारण परब्रह्म या आत्मा का भी रसरूप में भी उल्लेख है[3]। अभिनवगुप्त की दृष्टि से रसरूप में आनन्द-मय ज्ञानरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है, आत्मा आनन्द रूप है और 'रस' आस्त्राद्यता के कारण आनन्द स्वरूप है[4]। अग्निपुराण में परब्रह्म परमात्मा को अक्षर, सनातन, अज, विभु, स्वयंप्रकाश एवं ईश्वर कहा गया है। उसका आनन्द सहज है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार या रस है[5]। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार या रस है और उसका प्रथम विकार महत्तव है। उसी से अभिमान या अहङ्कार की अनुभूति होती है। इसी अहङ्कार के कारण मनुष्य में अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जागृत होकर उसे सहज आनन्द में

---

१. अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २८८–२९०।

२. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥ (साहित्यदर्पण ३।१)

३. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली, ७)

४. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते॥
(अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २९२)

५. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्कार-रसाह्वया॥
(अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् ४।१-२)

विभोर कर देती है, यही अहङ्कार है और यह अहङ्कार ही रस या आनन्द है। आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति यह सहज आनन्दरूप या रसरूप है। इसी अहङ्कार या आत्मप्रतीति का दूसरा नाम शृङ्गार है जो रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि क्योंकि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। उनका यह शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नहीं है। यहाँ शृङ्गार का अभिप्राय निरपेक्ष प्रेम या आत्मनिष्ठ प्रेम है। इस प्रकार अग्निपुराण का यह अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही शृङ्गार है और शृङ्गार ही रस है। इसी से अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं।

विश्वनाथ ने रस को सहृदय-संवेद्य, अलौकिक काव्यार्थतत्त्व कहा है किन्तु इस रस का आस्वादन सबको नहीं होता। इसका अनुभव उसी को होता है जिसमें 'सत्त्व' का उद्रेक होता है। रजोगुण एवं तमोगुण के सम्पर्क (संस्पर्श) से रहित चित्त 'सत्त्व' कहलाता है। रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर 'सत्त्व' का प्रकाशित होना मन का 'उद्रेक' है। इस सत्त्व के उद्रेक से सहृदयों के द्वारा अनुभूत 'रस' अखण्ड, स्वयंप्रकाश एवं आनन्दमय रत्यादि-संवेदन रूप है। उस समय अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का संस्पर्श (ज्ञान) नहीं रहता। यह अनुभव (आस्वाद) है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का कोई भेद आभासित नहीं होता। अतः इसे ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है। यह अनुभव अलौकिक चमत्कार अर्थात् सहृदय के चित्त का विस्तार है और यह चमत्कार ही रसरूप अनुभव का प्राण है। आचार्य नारायण पण्डित के अनुसार चमत्कार ही रस का सार है। इसका अनुभव पुण्यशाली सहृदय ही करते हैं। सहृदय विभावादि में संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से अनुविद्ध आत्मानन्द का आस्वाद लिया करते हैं। उस समय उसे स्वगत एवं परगत का भेद नहीं रहता। रस की यह आस्वादयमता स्वप्रकाशानन्दसंविदतत्त्व से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। रस स्वयं ही अपने स्वरूपभूत अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय होता है। इस प्रकार 'रस' और 'आस्वाद' में कोई तात्त्विक भेद नहीं। भेदप्रतीति तो 'राहोः शिरः' के समान काल्पनिक है[1]। 'राहोः शिरः' इस वाक्य में जो भेद (राहु का शिर) होता है वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि जो राहु है वही शिर है और जो शिर है वही राहु है। इसी प्रकार रस और आस्वाद वस्तुतः दोनों एक रूप है। सहृदय रसानुभव के विभावादि से तादात्म्य स्थापित कर आत्मलीन हो जाता है उस समय सहृदय 'अहम्' का भी परित्याग कर ब्रह्मरस में लीन हो जाता है और स्वप्रकाश रस अथवा चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ उसका कोई भेद नहीं रहता। यही तादात्म्यरूप आस्वाद्यता नाटच है, और नाटच ही रस है।

---

१. साहित्यदर्पण ३।२-४, पृष्ठ १०५-११०।

अभिनय और रस—

'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर अभिनय शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है—आंगिक चेष्टाओं द्वारा हावभावादि मनोभावों का प्रदर्शन करके प्रेक्षक के हृदय में रस का संचार करना। अभिनयों के द्वारा नट प्रेक्षकों के हृदय में सौन्दर्यानुभूति का उद्बोधन कर रसानुभूति की सौन्दर्य-चेतना के तट पर उन्हें ले जाता है[1]। इस प्रकार मनोंभावों को प्रदर्शित कर प्रेक्षकों के हृदय में रस का संचार करना अभिनय का मुख्य उद्देश्य है। समस्त नाटचकर्म अभिनय में ही समाविष्ट है। अभिनय होने पर काव्य नाटच होता है और नाटच ही रस है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय का वर्गीकरण चार वर्गों में किया है—आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्त्विक[2]। इन सभी प्रकार के अभिनयों का सम्बन्ध रस से है। अङ्ग, उपाङ्ग, प्रत्यङ्गों की चेष्टा आदि के द्वारा 'आङ्गिक' अभिनय सम्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में भाव विद्यमान रहते हैं। जो भाव व्यक्ति में निरन्तर वर्तमान रहते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं और जो अनियमित रूप से यदाकदा आकर प्रवहमान जीवनधारा में गति देकर लौट जाते हैं वे संचारीभाव कहे जाते हैं। अभिनेता जब आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा मनोगत भावों को प्रदर्शित करता है तो बह भाव (स्थायीभाव) रसत्व का पद प्राप्त कर लेता है। अभिनेता जिस रस का प्रदर्शन करना चाहता है, तदनुकुल भाव-भंगिमाओं का ही अभिनय करता है। इस प्राकर भाव ही रस है। कोई भी भाव रसहीन नहीं है और न कोई रस भाव हीन होता है[3]। जो रस है वही भाव है और जो भाव है वही रस है[3]। भाव प्रेक्षक के हृदय में वर्तमान रहते हैं। ये भाव ही उसके हृदय में रस-रूप में उद्दीप्त हो उठते हैं। भरत ने उनचास भावों की परिकल्पना की है किन्तु नन्दिकेश्वर ने अभिनय की दृष्टि से छत्तीस भावों की कल्पना की है। अभिनय के द्वारा ही भावों की अभिव्यक्ति होती है।

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्द, छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण-दोष आदि आते हैं। अभिनय में रसानुकूल वर्णों के प्रयोग पर जोर दिया गया है। भरत के अनुसार रसानुकूल छन्दों के योग से नाटचार्थ समृद्ध होता है। शृंगार

---

१. भरत और भारतीय नाटचकला। २. अभिनयदर्पण, ३८।

३. (क) न भावहीनो रसोऽस्ति न भावो रसवर्जितः। (नाटचशास्त्र ६।३७)
(ख) यतो भावस्ततो रसः। (अभिनयदर्पण, श्लोक ३७)
(ग) न भावहीनोऽस्ति रसः न भावो रसवर्जितः।
(अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्रम् ४।२-६)

रस के लिए आर्या जैसे मृदु वृत्त और वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसों के लिए लघु अक्षराश्रित छन्द भावाभिव्यक्ति के लिए उपयोगी हैं[1]। भरत ने गुण और रस का नित्य सम्बन्ध तथा गुण को रस का उत्कर्षक बताया है। गीत-वाद्यादि जो वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आते हैं उनका सम्बन्ध रस के साथ होता है। रसानुकूल ही गीतों का प्रयोग मनोरंजक होता है। नाटचप्रदर्शन के लिए आहार्य अभिनय परमावश्यक होते हैं। रस को प्रकट करने में 'आहार्य' अभिनय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। आहार्य का प्रयोजन नाटच में विविध प्रकार के नायकों के स्थायीभावों के यथार्थ रूप से प्रकट करना है। अभिनेता को रंगमंच पर जिस का अभिनय करना है उसी रस के अनुकूल ही वेश-भूषा धारण करनी चाहिए। जैसे यदि हास्यरस के प्रदर्शन में हास्यास्पद विचित्र वेश-भूषा धारण किया जाता है तो विप्रलम्भ शृंगार में शुद्ध वेश-भूषा धारण करनी चाहिए और शृंगार रस के प्रदर्शन में तदनुकूल मनोहर, सुन्दर एवं आकर्षक वेष-भूषा धारण करनी चाहिये। भरत ने रस-दशा के अनुरूप ही अंगरचना का वर्ण भी विहित किया है। उन्होंने प्रत्येक रस के लिए अलग-अलग वर्ण निर्धारण किये हैं। जैसे, शृंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर (चमकीला सफेद), भयानक का काला, वीभत्स का नील और अद्भुत का पीत वर्ण बताया गया है[2]। तत्तद् रसों के अनुरूप वर्ण (रंग) से पात्रों के मुख रंगने चाहिए और तदनुकूल वर्ण के ही वस्त्रादि धारण करना चाहिये इस प्रकार आहार्य अभिनय मूलतः रस की अभिव्यक्ति के लिये होता है।

रस की दृष्टि से उक्त तीनों अभिनयों के अतिरिक्त सात्त्विक अभिनय का अधिक महत्त्व है। रस का आन्तरिक अंश होने के कारण नाटच-प्रदर्शन में मनोगत भावों को प्रकट करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि मनोगत भावों को प्रकट करने वाला अभिनय ही नाटच में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और सर्वश्रेष्ठ अभिनय वह होता है जिसमें सात्त्विक अभिनय की मात्रा अधिक रहती है। इसीलिये भरत ने कहा है कि सात्त्विक अभिनय में ही नाटच प्रतिष्ठित है[3]। नाटच ही रस है और रस में सात्त्विक अन्तरंग है, अतः सात्त्विक अभिनय ही

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १६।११४–११६।

२. श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्यः प्रकीत्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीत्तितः॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥ (नाटचशास्त्र ६।४३–४४)

३. अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १४९–१५०।

श्रेष्ठ है। भावों एवं रसों के आश्रित अभिनय में सत्त्व अव्यक्त रूप से निहित रहता है, इसलिये सत्त्व के अभिनय में क्रोध, स्नेह, रोमांच आदि का यथारूप प्रयोग किया जाना चाहिये।

नन्दिकेश्वर के अनुसार अभिनय में रस आठ होते हैं—श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। उन्होंने आठ स्थायीभावों, आठ सात्त्विकभावों और बीस संचारीभावों का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में आठ स्थायीभाव हैं—रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा और विस्मय। भरत के अनुसार व्यभिचारीभावों की संख्या तैंतीस हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, स्वेदाम्बु, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और मूर्च्छा[१]। इन सात्त्विक भावों की उत्पत्ति चित्त की एकाग्रता से होता है। चित्त की इस एकाग्रता के कारण ही सामाजिक पात्रों के सुख-दुःखादि को अपना समझने लगता है। अभिनवगुप्त का मत है कि सात्त्विक भाव से पूर्ण-योग होने पर ही नाटय-प्रयोग प्रशस्य होता है। उनके अनुसार नाट्य रसमय होता है और रस का अन्तरंग सात्त्विक है। सात्त्विक में ही नाट्य प्रतिष्ठित है[२]। घर्म, रोमांच, अश्रु आदि सत्त्व के गुण हैं। इन्हीं सात्त्विक गुणों के द्वारा दर्शक अनुकार्यगत भावों को अपनी संवेदना-भूमि में अनुभव करता है तब रस-प्रतीति होती है[३]।

रसजा दृष्टि—

आङ्गिक अभिनयों में अभिनय की दृष्टि से 'दृष्टि' का सर्वाधिक महत्त्व है। दृष्टि की भाव-भंगिमाओं एवं उनके विभिन्न रूपों का विवेचन नन्दिकेश्वर ने व्यापकता से किया है। दृष्टि की प्रत्येक भाव-भंगिमा के द्वारा मानव के सुख-दुःखात्मक जीवन का भावलोक मुखरित होता है। उसमें ही अनुभूति को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। नन्दिकेश्वर ने आठ रस दृष्टियों, आठ स्थायी दृष्टियों एवं बीस संचारी दृष्टियों कुल छत्तीस दृष्टियों का विवेचन किया है[४] जिनके द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है। कुमारस्वामी ने आठ अन्य दृष्टियों का उल्लेख कर चौवालीस दृष्टियाँ मानी है[५]। नन्दिकेश्वर के अनुसार कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री, वीरा, भयानका, बीभत्सा एवं अद्भुता

१. अभिनयदर्पण, ४१।
२. अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १४९–१५०।
३. दशरूपक पर घनिक की टीका ४।४।
४. सर्वास्ताः मिलिताः सत्यः षट्त्रिंशद्दृष्टयो मताः। (भरतार्णव ४।३२८)
५. मिरर आफ् जेश्चर, पृष्ठ ४०।

ये आठ रस-दृष्टियाँ हैं[1]। जो दृष्टि मानो दृश्य पदार्थ को पी रही हो, अत्यन्त निर्मल एवं विकसित हो, भूभंग एवं कटाक्ष से युक्त हो और कामवर्धक हो, उसे 'कान्ता' दृष्टि कहते हैं। हास्या दृष्टि में कुंचित पलकों वाली दृष्टि तीव्र, मध्य और मन्द गति से कुछ भीतर की ओर चली जाती है और पुतलियाँ आश्चर्य-जनक रूप में घूमती हैं। आश्चर्यचकित भावों के अभिनय में उसका प्रयोग होता है। जो दृष्टि नीचे गिरी हो, पलक ऊपर उठी हो, अश्रुयुक्त हो, नासिका के अग्रभाग पर स्थिर हो और शोक से पुतली असलाई हुई हो उसे 'करुणा' दृष्टि कहते हैं। करुण रस में इसका प्रयोग होता है। रौद्री दृष्टि में पलकें चकित, पुतलियाँ स्तब्ध एवं अत्यन्त रक्त और भृकुटि भयानक, उग्र एवं रुक्ष हो जाती है। रौद्र रस के अभिनय में इसका विनियोग होता है। वीरा दृष्टि में दृष्टि समतारों वाली, गम्भीर, विकसित, निश्चल, दीप्त एवं संकुचित पलकों वाली होती है। औदार्य, धैर्य, गाम्भीर्य विशेष तेज एवं विविध पराक्रमों की अभिव्यक्ति में इसका विनियोग होता है। भयानक दृष्टि में पुतलियाँ फड़कने लगती हैं, पलकें स्तब्ध एवं खुली हुई होती हैं और दृष्टि घबड़ाई हुई होती है। भयानक रस के भाव-प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। बीभत्सा दृष्टि में पुतलियाँ चंचल हो जाती हैं, पलकें संकुचित हो जाती हैं और घूमने लगती है तथा घृणा के भाव उभर आते हैं। बीभत्स रस के अभिनय में इसका विनियोग होता है। अद्भुत दृष्टि में वरौनियों के अग्रभाग सिकुड़ जाते हैं, पुतलियाँ आश्चर्य से घूमने लगती है और उपांग विकसित हो जाते हैं। अद्भुत रस के अभिनय में इसका विनियोग होता है[2]। इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने आठों रसों के विनियोग की दृष्टि से आठ प्रकार की रसदृष्टियों का विवेचन किया है।

स्थायिभाव दृष्टियां:—

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में आठ प्रकार की स्थायिभाव-दृष्टियों का उल्लेख किया है। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयन्विता, जुगुप्सिता और विस्मिता ये आठ स्थायी भाव से उत्पन्न दृष्टियाँ हैं[3]। यदि रसदृष्टि अतितीव्र भावों से युक्त होती है तब उसे 'भावदृष्टि' कहते हैं। 'स्निग्धा' भावदृष्टि में दृष्टि विकसित, स्निग्ध एवं मधुर होती है, भौहें चैतन्य रहती हैं और कटाक्ष

---

१. कान्ता हास्या च करुणा रौद्रा बीरा भयानका।
बीभत्सा चाद्भुतेत्यष्टौ द्रष्टव्या रसदृष्टयः॥ (भरतार्णव ४।३३३–३४)

२. भरतार्णव ४।२३९।२४९ तथा नाटचशास्त्र, अष्टम अध्याय एवं नृत्याध्याय, तृतीय प्रकरण।

३. स्निग्धा हृष्टा तथा दीना क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता।
जुगुप्सिता विस्मितेति दृशोऽष्टौ स्थायिभावजाः॥ (भरतार्णव ४।२३४)

सतृष्ण हो जाती है, शृङ्गाररस के अभिनय में इसका प्रयोग होता है। 'हृष्टा' दृष्टि हास्ययुक्त, विशद पुतलियों वाली, उत्फुल्ल कपोलों वाली, चंचल और संकुचित कोरों वाली होती है। हास्य रस के अभिनय में इसका विनियोग होता है। 'दीना' दृष्टि में पलकें ऊपर उठी हुई होती हैं, पुतलियाँ कुछ खुली रहती हैं, दृष्टि आंसुओं से पूर्ण एवं मन्द-मन्द संचरण करने वाली होती है। क्रोध के भावों को व्यक्त करने के लिये क्रुद्धा दृष्टि का विनियोग होता है। क्रुद्धा दृष्टि में भौंहें कुटिल एवं रुक्ष हो जाती हैं। पलकें ऊपर उठ जाती हैं और पुतलियाँ कुछ चंचल एवं रूखी हो जाती हैं। दृप्ता दृष्टि धैर्य को उगलती हुई सी स्थिर एवं उत्साहयुक्त होती है। इसका विनियोग उत्साह के अभिनय में होता है। भयान्विता दृष्टि में दो पलकें खुली हुई होती हैं, पुतलियाँ भय से कम्पमान हो जाती है और दृष्टि भयग्रस्त हो जाती है। जुगुप्सिता दृष्टि उद्विग्न, संकुचित पलकों एवं मीलित पुतलियों वाली होती है। घृणा के भाव में इसका विनियोग होता है। विस्मिता दृष्टि में दोनों पलकें विकसित हो जाती हैं, पुतलियाँ घूमने लगती हैं और दृष्टि निश्चल हो जाती है। विस्मय के भावों के अभिनय में इसका विनियोग होता है[1]। ये आठ प्रकार की स्थायिभाव-जन्य दृष्टियाँ हैं इनका अपने-अपने रसों के अभिनय में विनियोग होता है।

व्यभिचारीभाव-दृष्टियाँ :—

नन्दिकेश्वर ने बीस प्रकार की व्यभिचारिभावों से उत्पन्न दृष्टियाँ मानी हैं। उनके मतानुसार शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, ग्लाना, शंकिता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, आकेकरा, विभ्रान्ता, विलुप्ता, त्रस्ता, विकोशा और मदिरा ये बीस प्रकार की व्यभिचारीभाव या संचारिभावों से जन्य दृष्टियाँ हैं[2]। इनमें शून्या दृष्टि कम्पनरहित, धूसरित, सम तारों वाली, सम पलकों वाली, शून्य दिखाई पड़ने वाली होता है। चिन्ता का भाव प्रकट करने में इस दृष्टि का प्रयोग होता है। मलिना दृष्टि संकुचित पलकों वाली, दृश्य को ग्रहण करने में असमर्थ पुतलियों वाली, कम्पित भौंहों वाली तथा धुंधली होती है। स्त्रियों के प्रेमप्रदर्शन में,

---

१. भरतार्णव ४।२५०-२५८, नृत्याध्याय, दृष्टि प्रकरण ४४१-४४८ तथा नाटयशास्त्र।

२. शून्या च मलिना श्रान्ता लज्जिता शंकिता तथा।
मुकुला चार्धमुकुला ग्लाना जिह्मा च कुंचिता॥
वितर्किताऽभितप्ता च विषण्णा ललिताभिधा।
आकेकरा विकोशा च विभ्रान्ता विप्लुता परा॥
त्रस्ता च मदिरेत्येता व्यभिचारिषु विंशतिः।
भरतार्णव ४।२३६-३८ नृत्याध्याय, दृष्टिप्रकरण ४२८-४३१ तथा नाटयशास्त्र ८।

उचित अवसर पर प्रिय के साथ वार्तालाप करने में तथा निहृत स्त्रियों के दस भावों में एक में मलिना दृष्टि का विनियोग होता है। इसी प्रकार श्रम के अभिनय में श्रान्ता दृष्टि, लज्जा के भावप्रदर्शन में लज्जिता दृष्टि, ग्लानि के भाव-प्रदर्शन में ग्लाना दृष्टि, शंका के अभिनय में शंकिता दृष्टि, विषाद के भाव में विषण्णा दृष्टि, आनन्द, सुन्दर, स्पर्श और गन्ध के भाव-प्रदर्शन में मुकुला दृष्टि; रोग, चोट एवं निर्वेद के अभिनय में अभितप्ता, अनिष्ट एवं नेत्र पीड़ा के भाव-प्रदर्शन में कुंचिता; असूया, जड़ता, आलस्य आदि के अभिनय में जिह्मा दृष्टि, ललित भावों के अभिव्यक्ति में ललिता दृष्टि, अद्‌भुत रस के उपस्थित करने के अभिनय में वितर्किता दृष्टि, सुख के भावों में अर्धमुकुला, दृष्टि भ्रान्ति एवं विराम भाव-प्रदर्शन में विभ्रान्ता दृष्टि, चपलता, उन्माद, पीड़ा तथा दुःखादि के अभिनय में विलुप्ता दृष्टि, त्रास के अभिनय में त्रस्ता दृष्टि तथा भयंकर भावों के प्रदर्शन एवं क्रोध, पाण्डित्य, गर्व आदि भावों के अभिव्यञ्जन में विकोशा दृष्टि का विनियोग किया जाता है। इनके अतिरिक्त दुर्निरीक्ष्य पदार्थ एवं स्नेहभंगपूर्ण दृष्टिपात करने में आकेकरा दृष्टि का विनियोग होता है। आकेकरा दृष्टि में पलकें कुछ सिकुड़ी हुई होती हैं, पुतलियाँ बार-बार घूमने लगती हैं, तिरछी चितवन एवं अधखुली आंखें हो जाती है। अशोकमल्ल के अनुसार प्रिय के अपराधी होने पर स्नेहविच्छेदपूर्वक जो दृष्टि उस पर डाली जाती है उसे विच्छेद-प्रेषित कहते हैं। नन्दिकेश्वर ने मदिरा दृष्टि के तीन प्रकार बताये है। पूर्णमद के अभिनय, मध्यम मद के अभिव्यञ्जन एवं धीर पुरुषों के अधम मद के अभिव्यञ्जन में मदिरा दृष्टि का प्रयोग होता है[1]।

नन्दिकेश्वर के अनुसार दृष्टियों के ये छत्तीस प्रकार दिग्दर्शनमात्र प्रदर्शित किये गये हैं। भौंहों, पलकों एवं पुतलियों के संयोग से उसके असंख्य भेद हो सकते हैं। विभिन्न रसों के अभिनय में उसका अभिव्यञ्जन होता है इस प्रकार दृष्टियों के भेद निरूपण करने में ब्रह्मा भी समर्थ नहीं है तो मानवों की बात ही क्या है? नन्दिकेश्वर द्वारा प्रतिपादित दृष्टियों का विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाट्य-प्रयोग में इनकी योजना अवश्य करनी चाहिए। इससे अभिनय में भावों का सम्यक् बोध होता है। इसके अतिरिक्त नासिका, कपोल, चिबुक, ग्रीवा आदि अंगों का विनियोग भी शृंगार, करुण, वीर और रौद्र आदि रसों के प्रदर्शन में होता है। रसदृष्टियों के समान मुखराग का महत्त्व भी है। रस एवं भावों के प्रदर्शन में अभिनेता को तदनुकूल मुखराग का प्रदर्शन करना चाहिए। मुखराग चार प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। इनमें अद्‌भुत, शृंगार एवं हास्य के प्रदर्शन में प्रसन्न, वीर, रौद्र आदि के अभिनय में रक्त तथा

१. भरतार्णव ४।२५९–२८७; नाट्यशास्त्र ८।८२-८४।
तथा नृत्याध्याय, दृष्टिप्रकरण ४४९–४७४।

भयानक एवं बीभत्स रस के अभिनय में श्याम मुख का प्रदर्शन करना चाहिये। दृष्टि का जिस रूप में प्रदर्शन हो उसी रूप में रस एवं भावों से युक्त मुखराग की भी योजना करनी चाहिये।

नृत्य और रस—

मानव में भाव स्थायी संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं। जब वह नृत्य देखता है या गीत का श्रवण करता है उनके आश्रय से उसके मन के भाव जागृत होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं जिसके अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। जो अभिनेता या नर्तक अपनी कला द्वारा जितनी जल्दी श्रोता या दर्शकों की रसमय अवस्था उत्पन्न करने में समर्थ होता है उतना ही उस अभिनेता या नर्तक को सफल माना जाता है। यद्यपि भाव अनेक होते हैं किन्तु कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनके अन्तर्गत प्राय: सभी भावनाएँ आ जाती हैं। रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह भय, घृणा और विस्मय— ये आठ प्रधान भाव हैं। ये भाव मानव-हृदय में स्वाभाविक रूप से सुषुप्त अवस्था में वर्तमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही जागृत हो उठते हैं। ये भाव मानव-हृदय में निरन्तर स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं इसलिए इन्हें स्थायीभाव कहते हैं। किसी भी भाव को उत्पन्न करने के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है, वह कारण 'विभाव' कहलाता है। जैसे नृत्य में नर्तक को देखकर भाव उत्पन्न होता है, तो नर्तक 'विभाव' हुआ। साथ ही स्वर, ताल, वेश-भूषा आदि भावों को उत्साहित करने में सहायता करते हैं। अत: वे भावों को उत्साहित करने के कारण होने से 'उद्दीपन-विभाव' कहलाते हैं और स्वयं नर्तक या नर्तकी आलम्बन विभाव होते हैं।

साहित्यशास्त्र में भी रस, भाव आदि बताये गये हैं किन्तु नृत्य के भावों की साहित्यशास्त्री के भावों से समानता होते हुए भी एक महान् अन्तर है। साहित्य और नाटक में जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है वह आश्रय' कहलाता है। जैसे रामायण में धनुषयज्ञ के समय लक्ष्मण को देखकर परशुराम को क्रोध उत्पन्न होता है। यहाँ पर परशुराम के मन में क्रोध का भाव उत्पन्न हुआ तो परशुराम 'आश्रय' हुए और लक्ष्मण को देखकर क्रोध उत्पन्न हुआ अत: लक्ष्मण आलम्बन विभाव हुए किन्तु नृत्य में जो कुछ होता है उसका सीधा प्रभाव दर्शक पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में दर्शक ही स्वयं 'आश्रय' बन जाता है और नर्तक 'आलम्बन'। इस प्रकार साहित्यशास्त्र या नाटक में नायक-नायिका को आवलम्बन माना गया है किन्तु नृत्य में दर्शक और नायक-नायिका के मध्य सीधा सम्बन्ध होता है अत: दर्शक स्वयं 'आश्रय' बन जाता है। आश्रय का अर्थ होता है जिसके हृदय में भाव जागृत हों। नर्तक का कार्य भाव को जगाना होता है और उसकी प्रतिक्रिया दर्शक के हृदय पर सीधी होती है। नर्तकी की मुस्कान

दर्शक के हृदय में आनन्द पैदा करती है। यही कारण है कि साहित्यशास्त्र में आने वाले अनुभाव नृत्य में नहीं होते; क्योंकि अनुभाव भाव का परिणाम होता है और दर्शक के हृदय में उत्पन्न होता है तो उसका परिणाम भी दर्शक में होना चाहिये। नृत्य में अनुभाव को आलम्बनगत उद्दीपन कहते हैं। जिनसे भाव स्पष्ट होते हैं उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। नृत्य में अभिनय द्वारा भावों की उत्पत्ति दिखाई जाती है। जैसे शोक के भाव में निस्तेज और अस्त-व्यस्त शरीर, अश्रु-प्रवाह, ओष्ठचर्वण आदि लक्षणों से ही दर्शक समझ लेता है। अतएव अनुभाव का नाट्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन कारणों से अनुभाव का स्वरूप बनता है वे कारण संचारीभाव या व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। ये संचारीभाव स्थायीभाव के प्रबल सहायक होते हैं। संचरणशील होने से इन्हें संचारीभाव कहा जाता है। ये नाट्य द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इन्हीं के सहयोग से स्थायीभाव रस रूप को प्राप्त होते हैं। नृत्य में आठ रस, आठ स्थायीभाव, आठ सात्त्विक भाव और तेंतीस संचारीभाव होते हैं किन्तु भरतार्णव में नृत्य के लिये नौ रसों का निर्देश किया गया है।

भरतार्णव में नृत्य के दो प्रकार बताये गये हैं—ताण्डव और लास्य। ताण्डव नृत्य में वीररस का प्रदर्शन होता है और लास्य में श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। ताण्डव पुरुषों द्वारा प्रयोज्य होता है। इसमें रौद्र, क्रोध एवं वीरत्व की भावनाएँ प्रकट की जाती हैं[1]। इसे उद्धत नृत्य भी कहते हैं। भगवान् शिव ने सर्वप्रथम इस नृत्य को देवताओं के सामने प्रस्तुत किया था। एक कथा के अनुसार त्रिपुरासुर का बध करने के लिए भगवान् शंकर ने वीररस प्रधान नृत्य किया था। तभी से इस नृत्य का जन्म हुआ। यह नृत्य पुरुषों के लिए अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसमें कुछ ऐसे अंगहारों का प्रदर्शन किया जाता है कि जिनका प्रदर्शन स्त्रियों के द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि नारी श्रृंगार एवं कोमलता की प्रतीक है इसलिये उसके द्वारा केवल लास्य नृत्य का प्रदर्शन ही लोक-रंजक होता है। इस नृत्य में कटिमुद्राओं द्वारा भावों को स्पष्ट किया जाता है। इसमें अंगसंचालन अत्यन्त कठोर एवं रौद्र होता है। इसके प्रभाव से पृथ्वी कम्पायमान हो जाती है, रौद्र एवं क्रोध की धारा बहने लगती है। अभिनय, गीत वाद्य, लय आदि सभी में रौद्र का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

लास्य श्रृंगार रस प्रधान नृत्य है। त्रिपुरासुर के बध के पश्चात् विजय की प्रसन्नता में पार्वती ने श्रृंगाररस प्रधान नृत्य किया था। यह नृत्य केवल स्त्रियों के लिये उपयोगी होता है। इसमें अंग-संचालन कोमलता लिये होता है अतः

---

१. वीररसे महोत्साहो पुरुषो यत्र नृत्यति।
रौद्रभावरसोत्पत्तिः तत् ताण्डवमिति स्मृतम्॥

इसे सुकुमार नृत्य कहते हैं। इसमें शृंगाररस की अभिव्यक्ति के लिये अंगों के विभिन्न अवयवों का प्रदर्शन होता है जिसे नारी ही कर सकती है। इस नृत्य के द्वारा कोमलता, मधुरिमा एवं मुग्धता का भाव प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार लास्य का भाव-प्रदर्शन मूलतः शृंगार-रस से ओत-प्रोत रहता है। नाट्य यदि देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध होता है तो शिव द्वारा निर्दशित उद्धत नृत्त का संयोजन करना चाहिए और स्त्री एवं पुरुषों के शृंगाररस से सम्बद्ध प्रणयात्मक भाव प्रदर्शित करना हो तो पार्वती-प्रयुक्त ललित अंगहारों से युक्त 'लास्य' नृत्य की योजना करनी चाहिये[1]।

भरतार्णव में नौ प्रकार के अंगहारों का निर्देश है—ललित, विक्रम, कारुणिक, विचित्र, विकल, भीम, विकृत, उग्रतर और शान्तज । ये अंगहार विशुद्ध नृत्य के समाप्ति भाग हैं जो मूलतः शिव एवं पार्वती के नृत्य के नियत भाग हैं। नाटयशास्त्र में बत्तीस प्रकार के अंगहारों का निर्देश है किन्तु ये अंगहार उतने सरल एवं सहज नहीं हैं जितने भरतार्णव में प्रतिपादित नौ अंगहार। भरतार्णव में प्रतिपादित अंगहार सर्वथा मौलिक एवं नौ रसों से सम्बद्ध है। जैसे ललित नामक अंगहार शृंगार रस से सम्बद्ध होता है तथा विक्रम वीररस से, कारुणिक करुण रस से, विचित्र अद्भुत रस से, विकल हास्य रस से, भीम भयानक रस से, विकृत वीभत्स रस से, उग्रतर अंगहार रौद्र रस से और शान्तज अंगहार शान्तरस से सम्बद्ध बताये गये है[3]। इन अंगहारों का नर्तन प्रातः-कालीन कार्यक्रम के प्रस्तुतीकरण के समय किया जाता है।

गीत और रस—

मानव-हृदय में भाव स्थायी संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं जो गीत के श्रवण या नृत्य के दर्शन से जागृत होकर रसरूप में परिणत हो जाते है जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। भरत का कथन है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है[4]। नाट्य की रस-प्रक्रिया में नायक-नायिका आलम्बन विभाव; एकान्त, उद्यान, चाँदनी आदि उद्दीपन विभाव, चेष्टा आदि अनुभाव और निर्वेद, औत्सुक्य आदि संचारी-भाव होते हैं जिनके संयोग से रस-निष्पत्ति होती है; किन्तु गीत की रस-प्रक्रिया

---

१. नाटयशास्त्र (गायकवाड़) ४।३११–३१२।

२. भरतार्णव १०।५८३–५८५।

३. तदेव।

४. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। (नाटयशास्त्र, षष्ठ अध्याय)

में स्थायीभाव का आलम्बन 'अंशस्वर' होता है जिससे स्थायीस्वर कहते हैं। इस स्थायी स्वर का 'संवादीस्वर' उद्दीपन विभाव होता है और अनुवादीस्वर अनुभाव का कार्य करता है तथा 'संचारीस्वर' संचारी भावों को प्रकाशित करता है। इसीलिये कहा जाता है कि स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त एवं अनुवादी स्वर द्वारा अनुभावित तथा संचारी स्वरों द्वारा परिपोषित सहृदयों की वह चेतनाविशेष रस है जिसकी अनुभूति के समय रस-स्तमोगुणजनित राग-द्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं[१]। कालिदास ने भी कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर प्राणियों के हृदय में जन्म-जन्मान्तर की भावनाएँ जागृत हो जाती हैं[२]। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का व्यञ्जक मानते हैं[३]। उसका कथन है कि जिस प्रकार वाचक शब्द वाच्यार्थ के बोधन के पश्चात् व्यंग्यार्थ का बोध कराते हैं उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधन के पश्चात् भाव या रस का बोध कराते हैं। आनन्दवर्धन का कथन है कि जिस वस्तु के नील रूप का निर्बाध बोध हो रहा हो उसके विषय में कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह वस्तु पीली है, नीली नहीं। उसी प्रकार वाचक शब्दों, अवाचक गीतशब्दों एवं अशब्द चेष्टाओं की सर्वानुभवसिद्ध व्यञ्जकता का कौन अपलाप कर सकता है[४]। रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ ने भी कहा है कि गीत, काव्य और नाट्य ये निरपेक्ष रूप से अलग-अलग रस के उद्गमस्थान हैं[५]। किन्तु काव्य की अपेक्षा गीत-ध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है क्योंकि काव्य का रसास्वादन तो सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है किन्तु गीत के द्वारा बालक भी आनन्दानुभव करता है और तिर्यग्योनि प्राणी भी गीत-ध्वनि से आनन्दमग्न हो जाते हैं, यहाँ तक कि

---

१. भरत का संगीत सिद्धान्त, पृष्ठ २७०–२७१।

२. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ (अभिज्ञानशाकुन्तल ५।२)

३. तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम्।
(ध्वन्यालोक, ३।३३ की वृत्ति)

४. 'नहि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टानां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव, तत्केनापह्नूयते।
(ध्वन्यालोक, ३।३३ की वृत्ति)

५. नाट्ये गीते च काव्ये त्रिपु वसति रसश्शुद्धबुद्धस्वभावः। (भरतकोष, पृष्ठ ५२९)

अचेतन-जड़-प्रकृति भी प्रभावित हो जाती है[1]। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीत के द्वारा असहृदय व्यक्तियों का भी हृदय रसमय हो जाता है और वह सहृदय के समान ही रसास्वादन करने लगता है।

नन्दिकेश्वर ने षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद इन सात स्वरों का निर्देश किया है[2]। भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि षड्जादि सात स्वरों का विनियोग रस के सन्दर्भ में हो। हास्य और शृंगार में मध्यम एवं पञ्चम; वीर रौद्र एवं अद्भुत में षड्ज एवं ऋषभ; करुण रस में गान्धार एवं निषाद तथा बीभत्स एवं भयानक रस में धैवत स्वर का प्रयोग करना चाहिये[3]। संगीतपारिजात के अनुसार तीव्र स्वर वीर रस में होता है, तीव्रतर स्वर अद्भुत, रौद्र और हास्य रस में होता है और तीव्रतम स्वर शृंगार रस में होता है। भरत ने भी रसों के साथ स्वरों का सम्बन्ध बताया है। तदनुसार मध्यम का हास्यरस में, पञ्चम का शृंगार, षड्ज का वीर, ऋषभ का अद्भुत; गान्धार और निषाद का करुण तथा धैवत का बीभत्स एवं भयानक रस में प्रयोग होता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित ये चार वर्ण हैं। उदात्त के साथ संगीत के आरोही का, अनुदात्त के साथ अवरोही का, स्वरित के साथ स्थायी का और कम्पित के साथ संचारी का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। भरत ने रस के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहा है कि हास्य और शृंगार में उदात्त एवं स्वरित; वीर अद्भुत और रौद्र में उदात्त एवं कम्पित का तथा करुण, वात्सल्य एवं भयानक रसों में उदात्त स्वरित एवं कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये[4]। किस रस के लिये कौन-सा छन्द उचित है, इसका निर्देश करते हुये भरत ने कहा है कि शृंगाररस के लिये आर्या सदृश मृदुवृत्त और रौद्र, वीर एवं अद्भुत रसों के लिये लघु अक्षराश्रित वृत्त भावाव्यक्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त होते हैं[5]। इस प्रकार स्पष्ट है कि रस की अनुभूति गीत के माध्यम से सरलता से हो सकती है।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध २१।१५।

२. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २६।

३. हास्यशृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ।
गान्धारश्च निषादश्च कर्त्तव्यौ करुणे रसे॥
धैवतश्चैव कर्त्तव्यो बीभत्से सभयानके। (नाट्यशास्त्र, २९।१७-१८)

४. तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैः वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुणवात्सल्यभयानकेषूदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति। (नाट्यशास्त्र, १९।४३)

५. नाट्यशास्त्र १६।१२१, १२७-१२८।

नन्दिकेश्वर के अनुसार मन्त्र, गीत आदि का गायन 'गान्धर्व' कहा जाता है[३]। उनकी दृष्टि में गान्धर्व सम्यक् रूप से गाया जाने वाला गीत है और वह गीत वर्ण एवं अर्थ से कथमपि विलग नहीं है। संगीत गायन में वर्ण भावों के अनुकूल होने पर ही रसोद्बोधन में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार रसानुभूति में गीत के शब्द, अर्थ एवं स्वर तीनों सहायक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वर रसों के अभिव्यञ्जक होते हैं। अतः रसानुभूति में स्वरों का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

भारतीय प्रेक्षागृह एवं रसतत्त्व—

अभिनय के लिये स्थापित प्रेक्षागृह का वर्णन नाटचशास्त्र, भरतार्णव अभिनयदर्पण एवं अन्य नाटच, नृत्य तथा संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। नाटच का मुख्य लक्ष्य प्रेक्षकों को रसास्वादन कराना होता है। अतः प्रेक्षागृह के निर्माण में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि प्रेक्षकों को रसास्वादन में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न न हो। इसीलिये भरत ने[१] मध्यम परिणाम वाले प्रेक्षागृह को अभिनय के लिये सर्वश्रेष्ठ बताया है। उनका कथन है कि प्रेक्षागृह ऐसा होना चाहिये, जिसमें स्वर ठीक रूप से सुनाई दे, संगीत-लहरी किसी प्रकार भी विपन्न न हो; संवाद एवं गीत सुखपूर्वक सुने जा सकें। प्रेक्षागृह इतना विशाल नहीं होना चाहिये कि रंगमंच पर होने वाला अभिनय सुविधापूर्वक न देखा जा सके। प्रेक्षागृह के विशाल होने पर संवाद एवं गीतों में वर्णों के स्फुटरूप में उच्चारण प्रकट न होने से अत्यन्त बेसुरापन हो जायेगा और अभिनेताओं के मुखों पर स्थित नाना दृष्टियों से समन्वित भाव अस्पष्ट हो जायेंगे जिससे रसानुभूति में बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार दर्शकों के बैठने का स्थान भी ऐसा बनाया जाना चाहिये कि उसमें एक दूसरे के अभिनय-परिशीलन में बाधा उत्पन्न न हो सके, साथ ही रंगसज्जा में सौन्दर्य एवं आकर्षण का भी ध्यान रखना चाहिये।

---

१. गायन्ति मन्त्रगीतादीन् तान् गान्धार्वाञ्जगुर्बुधाः
(रुद्रडमरूद्भवस्त्रविवरणम्–२)।

२. मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठचमुच्चारितस्वरम्।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्॥
यश्चास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्यध्यममिष्यते।
यस्मात् पाठचं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्॥
(नाट्यशास्त्र, (गायकवाड़) २।१९–२१)

नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में प्रेक्षागृह के निर्माण की एक परम्परा रही है। उससे ज्ञाता होता है कि उस समय अभिनय के लिये रंगशालाएँ स्थापित थीं, जिन्हें 'सभा' कहा जाता था। नाटचशास्त्र और अभिनयदर्पण में नाटच एवं नृत्य के लिये अलग-अलए सभाओं का विधान किया गया है। उनको किस समय और कहाँ पर आयोजित एवं प्रदर्शित करना चाहिये, इसका भी निरूपण किया गया है। नन्दिकेश्वर ने नाटच, नृत्त एवं नृत्य किस उद्देश्य से किया जाता है, इसका शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया है। अभिनयदर्पण में बताया गया है कि अभिनय प्रदर्शन के लिये एक सभापत्ति एवं मन्त्री की नियुक्ति होनी चाहिये। नन्दिकेश्वर के अनुसार सभा का अध्यक्ष सकल कलाओं में कुशल, श्रीसम्पन्न, विवेकशील, पुरस्कारवितरण में कुशल, संगीतविद्या में निपुण, सर्वज्ञ, प्रशस्तकीर्त्तिशाली, रसिक, हाव-भावों का ज्ञाता, सदाचारी, शीलसम्पन्न, दयालु, धीरोदात्त एवं अभिनयकुशल होना चाहिये[१]। इन गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न सभागति के अतिरिक्त सभा के लिये एक मन्त्री की व्यवस्था होनी चाहिये। मन्त्री पद पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति की जानी चाहिये जो मेधावी, भाषण-कला में निपुण, श्रीमान्, यशस्वी, हाव-भावों का ज्ञाता, गुण-दोष का विवेचक, नीति-निपुण, सहृदय एवं प्रधान-कला में अभिरुचि रखने वाला हो[२]।

सभा की रचना—

सभामण्डप में सभापति को पूर्व की ओर मुख करके प्रसन्नमुख आसन ग्रहण करना चाहिये। सभापति के दोनों ओर कवियों, मन्त्रियों एवं मित्रजनों को बैठाना चाहिये। सभा के सामने अभिनय का आयोजन होना चाहिये। सभा के सामने अभिनयस्थल को रंगमंच कहा जाता था। रंगमंच के मध्य में नर्तकी और उसके समीप प्रधान नर्तक स्थित होते थे। उनके दाहिनी ओर तालधारी और उनके दोनों ओर मृदंगवादक बैठते थे। उन दोनों के मध्य गीतकार और गीतकार के पास ही स्वरकार का स्थान होता था[३]। अभिनयदर्पण में बताया है कि नर्तकी सुकुमार, सुन्दरी एवं युवती हो, उसमें निर्भीकता, सरसता एवं कमनीयता होनी चाहिये, उसके नेत्र विशाल और उसको गीत, वाद्य, ताल के अनुसार अभिनयकला में दक्ष होना चाहिये। उसकी वेश-भूषा आकर्षक होनी चाहिये। नन्दिकेश्वर के अनुसार वह नर्तकी अभिनय के योग्य समझी जाती थी जो गानविद्या में निपुण हो, गीत-वाद्य-ताल के अनुसार जिसके पादसंचालन में गतिमत्ता हो, जिसको स्थिरभाव का ज्ञान हो, रंग-मंच पर पादसंचालन की सीमा-रेखाओं का जिसे अभ्यास हो, जिसको भ्रमण की विधियों का ज्ञान हो,

१. अभिनयदर्पण, १७। २. तदेव, १८। ३. अभिनयदर्पण, २०–२२।

जिसके अभिनय में स्वाभाविकता हो, जो सहजभाव से दृष्टि-संचालन में निपुण हो, जो बुद्धिमती हो, कला के प्रति जिसमें सहज रुचि हो और जिसकी वाणी में मधुरता हो। नर्तकी अपने पैरों में ऐसे घुघुरुओं को पहने, जिसकी आवाज मधुर हो, आकार छोटे हों, देखने में सुन्दर हो और बनावट में अर्धचन्द्राकार हो[1]। इस प्रकार की योग्यताओं से सम्पन्न नर्तकी अभिनय के सर्वथा उपयुक्त समझी जाती है। नाटचशास्त्र में बताया गया है कि नर्तकी को देश, भाषा, वेश एवं लोक-व्यवहार आदि के औचित्य का ज्ञान होना चाहिये[2]।

अभिनयदर्पण में बताया गया है कि अंग प्रत्यंग की शृंगार-रचना करने के पूर्व नर्त्तक-नर्तकी को सर्वप्रथम विघ्न-विनायक गणेश एवं नटराज शंकर की स्तुति करनी चाहिये। तदनन्तर आकाश और पृथ्वी की बन्दना करनी चाहिये। इसी प्रकार विधि-पूर्वक वाद्य-यन्त्रों की पूजा-अर्चना कर नमस्कारपूर्वक गुरुपाद से आज्ञा प्राप्त कर नर्तक-नर्तकी की शृंगार-रचना करनी चाहिये। इसके पश्चात् नर्तक-नर्तकी रंग की अधिष्ठातृ देवी की बन्दना कर इस प्रकार स्तुति करें—हे रंगभूमि की अधिष्ठातृ देवि! भरत की नाटच-परम्परा की सौभाग्यकलिके! विविध भावों एवं रसों को आनन्द में परिणत करने वाली, एवं सृष्टि को सम्मोहित करने वाली एकमात्र कलारूपिणि देवि! तुम्हारी बार-बार जय हो[3]। इस प्रकार अभिनय के पूर्व-देवताओं एवं वाद्य-यन्त्रों की पूजा करनी चाहिए।

पुष्पाञ्जलि—

पुष्पाञ्जलि-विधि का जैसा विस्तृत एवं सांगोपांग-विवेचन नन्दिकेश्वर ने किया है वैसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया है। नन्दिकेश्वर ने बताया है कि रंगभूमि की अधिष्ठातृ देवी की बन्दना करने के पश्चात् नर्त्तक-नर्तकी को चाहिये कि वह विघ्न-बाधाओं की निवृत्ति के लिये, प्राणियों की रक्षा के लिये, देवताओं की प्रसन्नता के लिये, दर्शकों की ऐश्वर्य-वृद्धि के लिये, नाटच के नायक के कल्याण के लिये, अन्य पात्रों के श्रेयस् के लिये तथा आचार्य से गृहीत नाटच-विधि की सिद्धि-सफलता के लिये पुष्पाञ्जलि अर्पित करे[4]। नन्दिकेश्वर का कथन है कि नाटच एवं नृत्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में पुष्पाञ्जलि का विधान करना चाहिये। क्योंकि पुष्पाञ्जलि-विधि के साथ विहित नाटच सफल होता है। पुष्पाञ्जलि में प्रथम दिक्पालों की पूजा करनी चाहिये। नन्दिकेश्वर का कथन है कि शिव, पार्वती, विघ्नेश, स्कन्द एवं सप्तमातृकाओं को तरु-पुष्पों से पुष्पाञ्जलि अर्पित करें। लक्ष्मी और विष्णु को लतापुष्प और सरस्वती एवं ब्रह्मा को कमल-पुष्पों से पुष्पाञ्जलि अर्पित करनी चाहिये। किन्तु दिग्पालों

---

१. तदेव, २३–३०।
२. नाट्यशास्त्र २।६३।
३. अभिनयदर्पण।
४. तदेव।

के पुष्पाञ्जलि में पुष्पों का नियम अन्य प्रकार हैं। इन्द्र के समक्ष मन्दार, पारिजात, विल्व, दुर्वादल की पुष्पाञ्जलि अर्पित करनी चाहिये। इसी प्रकार अग्नि के समक्ष वन्धूक, चम्पक और कदम्ब के पुष्पों की, काल (यम) के समक्ष इन्दीवर, तापिच्छ और अतसी के पुष्पों की, निऋर्ति के समक्ष करवीर, जपापुष्प और शिलीन्द्र के पुष्पों की, वरुण के समक्ष कल्हार एवं कुमुद के पुष्पों की, वायु के समक्ष मल्लिका, जाति, जयंती, बकुल एवं वल्लरी के फूलों की, कुबेर के समक्ष कमल एवं कुन्द के पुष्पों की, ईशान के समक्ष नक्तमाल, द्रोण और धतूर के पुष्पों की पुष्पाञ्जलि अर्पित करें[1]। इस प्रकार दिग्पालों की पूजा में आठों दिशाओं में पुष्प समर्पित करना चाहिये।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने पुष्पाञ्जलि-अर्पण के पूर्व पूजा का विधान बताया है। उनके अनुसार नृत्य एवं नाटच में प्रेक्षागृह के द्वार पर गणपति, स्कन्द, क्षेत्रपाल, हरिहरपुत्र (शास्ता), महाकाल एवं नन्दिकेश्वर की आराधना कर विविध प्रकार के पुष्पों से पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर शिव पार्वती का आवाहन कर पूजा करे। तत्पश्चात् ताल में चतुर्मुख ब्रह्मा, ढक्का में विष्णु, मर्दल पर नन्दिकेश्वर, वीणा में सरस्वती, दण्डिका में नारद और तुम्बुरु तथा दर्दुर वाद्य में वीरभद्र का आवाहन कर गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि से पूजन कर नटराज शंकर का ध्यान करें। तदनन्तर नाटचाचार्य की आज्ञा से सभी अपना-अपना वादन प्रारम्भ करें। उसके बाद नान्दी का पाठ करें। नान्दीपाठ के पश्चात् शास्त्र के अनुसार पुष्पाञ्जलि का विधान करें। यदि शिव के समक्ष पुष्पाञ्जलि अर्पित करें तो शिव की स्तुति करें और दिग्पालों के समक्ष पुष्पाञ्जलि अर्पित करें तो दिग्पालों की स्तुति करें[2]।

नाटचशास्त्र में नान्दी का विस्तृत विवेचन किया गया है। नाटचशास्त्र के अनुसार नान्दी आशीर्वचनयुक्त पूर्वरंगकालीन मांगलिक अनुष्ठान है। नान्दी का अधिष्ठातृ देव चन्द्र है, वे उसके अनुष्ठान से आनन्दित होते हैं[3]। चन्द्रवन्दना के मूल में नाटचरस के आनन्द की प्रतिकात्मकता का सहज बोध होता है। चन्द्र रसेश्वर हैं, रसाधार हैं और नाटच ही रस है, रस ही नाटच है और आनन्दरूप भी है। इस प्रकार नान्दी, चन्द्र एवं नाटच की रसमयता का समन्वय नान्दी द्वारा होता है। शारदातनय नान्दी के साथ रसेश्वर चन्द्र के सम्बन्ध की परिकल्पना को आनन्द का प्रतीक स्वरूप प्रतिपादित किया है[4]।

---

१. भरतार्णव १५।९२८–९४१।   २. भरतार्णव १५।९५०–९६१।

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) ५।४९।

४. चन्द्रायत्ततया नाटचे प्रवृत्ते रससम्पदाम्   (भावप्रकाशन, पृष्ठ १९७)

उपनिषदों में भी रस को आनन्दरूप प्रतिपादित किया गया है[1]। इस प्रकार नान्दी का अनुष्ठान आनन्दमूलक है, नाट्य भी आनन्दमूलक है और उसके अधिष्ठातृ देव चन्द्र भी रसेश्वर हैं। अतः नाट्य में नान्दी की कल्पना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से नाट्य तथा नृत्य में नान्दीपाठ किया जाता है।

नाट्य रस-सृष्टि का वह सागर है जहाँ पर विभिन्न कलाएँ और उनसे सम्बन्धित विभिन्न रुचियाँ सरिता सरोवर की भाँति उमड़कर एकत्र होती हैं और उसी में समा जाती हैं। यही कारण है कि अभिनेता और विभिन्न रुचि रखने वाले विभिन्न वर्गों एवं वर्णों के लोगों को एक साथ एक ही स्थान पर समान रूप से रस-आनन्द प्राप्त होता है। शारदातनय का कथन है कि 'लोगों की विभिन्न रुचि, उनके विभिन्न स्वभावों के आधार पर नाट्य की रचना की जाती है जिसका जो शिल्प, शृंगार व्यवसाय, चेष्टा है और जिसकी वाणी जैसी है, उसे वही चीज नाटक में मिल जाती है। यही कारण है कि कामुक, विदग्ध, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, वयोवृद्ध, रस और भाव के विशेषज्ञ, अज्ञ बालक एवं स्त्रियाँ सभी नाटक में अनिवर्चनीय आनन्द (रस) प्राप्त करते हैं; क्योंकि नाटक में उन्हें अपनी-अपनी रुचि का आनन्द मिलता है। तरुण लोग भोग-विलास की बातों में, कुशल नीति की बातों में, सेठ धन अर्जन में विरागी मोक्ष के विषय में, शूर वीभत्स, रौद्र एवं युद्ध की बातों में, वृद्ध धर्म-कथाओं में, विद्वान् सभी प्रकार के बातों में और अज्ञ, बालक एवं स्त्रियाँ हंसी-मजाक एवं वेश-भूषा में रस (आनन्द) प्राप्त कर सन्तुष्ट होते हैं[2]।' महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि भिन्न भिन्न रुचि के लोगों के लिये नाटक एक ऐसा साधन है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है[3]। इससे स्पष्ट है कि अभिनय के द्वारा विभिन्न रुचि रखने वाले सभी प्रकार के लोगों के हृदय में आनन्द की जो लहर उत्पन्न होती है, वही रस है। इसीलिये अभिनय के सफल प्रदर्शन के लिये रंग-मंच की कल्पना की गई है जहाँ पर अभिनीत दृश्य को देखकर सभी प्राणी प्रफुल्लित होते हैं। यदि अभिनय के लिये उचित रंगमंच की रचना न हो तो प्रेक्षकों को अभिनय का आनन्द नहीं मिलेगा और उसे रसानुभूति नहीं होगी। अतएव नाट्य के सफल प्रदर्शन एवं सभी वर्ग के लोगों को सुखपूर्वक रसानुभूति कराने की दृष्टि से नाट्यशास्त्रीय नियम के अनुसार रंगशाला का निर्माण आवश्यक है।

●

---

१. रसो वै सः। सह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

२. भावप्रकाशन (शारदातनय), पृष्ठ २२७।

३. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। (मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक)

दशम अध्याय

आचार्य नन्दिकेश्वर की देन

हमारा यह विशाल संस्कृत वाङ्मय विस्तृत क्षीर-सागर की भाँति लहरा रहा है जिसके आह्लादकारिणी लहरियों में अवगाहन कर सभी परम आनन्द को प्राप्त करते हैं। जहाँ ही डुबकी लगाइये, शब्द एवं भाव रत्नों की अपूर्व मणि-राशि को प्राप्त कर आत्मा चकित एवं तृप्त हो जाता है। नाट्य उस रस-सागर की एक पुनीत धारा है और संगीत सुधा-रस को प्रवाहित करने वाली त्रिवेणी, जिसमें अवगाहन कर प्राणी जन्म-जन्मान्तर के कालुष्य से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते हैं। सदियों से पूर्व प्रवाहमान जन-जीवन का सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम यह संगीत एवं नाट्यकला ही रही है। नन्दिकेश्वर ने सर्वलोकानुरञ्जिनी इस कला को व्यवस्थित रूप दिया और हमारे जन-जीवन में जो कुछ, सुन्दर, भव्य, उदात्त एवं श्रेष्ठ था, उसकी अभिव्यक्ति का प्रशस्त माध्यम यह कला बनी।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में नन्दिकेश्वर का व्यक्तित्व विलक्षण है। उन्होंने नाट्यकला के साथ संगीतकला एवं नृत्यकला के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक रूपों का भी निरूपण किया है। उनकी चिन्तनधारा ने अभिनय, नृत्त, संगीत और दर्शन को प्रेरित किया है। भारतीय अभिनय एवं संगीतकला का इतिहास नन्दिकेश्वर की सतत प्रवहमान विकासशील चिन्तनधारा का ही इतिवृत्त है। उन्होंने अभिनय एवं नृत्य की विभिन्न मुद्राओं एवं भाव-भंगिमाओं का सुन्दर विवेचन किया है। कहा जाता है कि नन्दिकेश्वर ने नटराज परमशिव के आदेश से भरत को नृत्यकला की शिक्षा दी थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विगत अध्यायों में आचार्य नन्दिकेश्वर के साहित्य का एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनके साहित्य के अध्ययन से अनेक मौलिक तत्त्व उद्घाटित हुए हैं। उन्होंने अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी कल्पना से नाट्यकला एवं संगीतकला दोनों को अनुप्राणित एवं अनुरंजित किया

है। नाटच एवं नृत्य कला के उद्गम एवं विकास की दृष्टि से उनके साहित्य में वर्णित कथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी मान्यता है कि ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों को संग्रह करके नाटच का सृजन हुआ है जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का प्रदाता है। भरत ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया है। अभिनयदर्पण के अनुसार भरत ने गन्धर्वों, अप्सराओं, किन्नरों आदि के साथ नाटच का प्रथम प्रदर्शन शिव के समक्ष प्रस्तुत किया था। उस प्रयोग को देखकर शिव ने उसे गीत-वाद्य युक्त नृत्य से सकलंकृत कर चित्र रूप में प्रस्तुत करने के लिये अपने प्रमुख गण तण्डु के द्वारा भरत को शिक्षा दिलायी। तदनन्तर भगवती पार्वती ने 'लास्य' नामक नृत्य की शिक्षा भरत को दी। तण्डु के द्वारा प्रयुक्त वह नृत्य 'ताण्डव' नाम से प्रचलित हुआ।

नन्दिकेश्वर का कथन है कि यह नाटच कीर्ति, वाक्चातुर्य, सौभाग्य और विद्वत्ता को बढ़ाता है जिससे व्यक्ति में उदारता, स्थिरता, धीरता एवं सुखसमृद्धि की वृद्धि होती है और सभी प्रकार के दुःख, शोक, ग्लानि, खेद आदि की जलन मिट जाती है। यदि ऐसा न होता तो ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर चुकने के बाद नारद जैसे योगियों का चित्त यह नाटच कैसे मोहित कर पाता। नन्दिकेश्वर के अनुसार नृत्य एवं अभिनय के आविष्कारक नटराज परम शिव हैं। शिव अपने स्वरूपों, सिद्धान्तों, एवं व्यवहारों से गरीबों के एकमात्र देवता हैं। मिट्टी की मूर्ति बनाकर विल्वपत्र एवं धतूर चढ़ाकर उनकी पूजा सरलता से की जा सकती है। वे भोले बाबा गाल बजा देने मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं[1]। नृत्य एवं अभिनय उन्हीं की देन है। कहा जाता है कि त्रिपुरासुर के बध के पश्चात् प्रसन्नता में उन्होंने नर्तन किया था तभी से नृत्य का जन्म हुआ। समस्त सृष्टि-चक्र उन्हीं के अभिनय का परिणाम है। समस्त भुवन, समस्त वाङ्मय, समस्त नक्षत्रलोक और सारा भाव-लोक उन्हीं में समाया हुआ है।

आचार्य नन्दिकेश्वर का एक उल्लेखनीय योगदान यह है कि उन्होंने नाटचविषयक विभिन्न तत्त्वों को दार्शनिक पृष्टभूमि के परिप्रेक्ष्य में परखा है। उनकी दृष्टि से नाटच-शाश्वत आनन्द का प्रतीक है क्योंकि उसमें अभिनय, नृत्य, संगीत आदि अनेक रञ्जक-कलाओं का प्रयोग होता है जिनका अवलोकन एवं अवगाहन करके सहृदय आत्मदर्शन में लीन होकर सत्, चित् एवं आनन्द से अनुप्राणित हो उठता है।

नन्दिकेश्वर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है 'अभिनयतत्त्व' का साङ्गोपाङ्ग विवेचन। उन्होंने अभिनय को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया है जो उसे

---

१. मूर्तिर्मृदा विल्वदलेन पूजा, प्रयाससाध्यं वदनं च वाद्यम्। (उद्भटविवेक)

अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ है। उन्होंने समस्त सृष्टि-चक्र को शिव का अभिनय बताया है। समस्त भुवन जिसका आंगिक अभिनय है, समस्त वाङ्मय जिसका वाचिक अभिनय है, समस्त नक्षत्रमण्डल जिसका आहार्य अभिनय है और स्वयं शिव सात्त्विक रूप हैं[1]। इस प्रकार उन्होंने शिव के विराट् रूप का ध्यान किया है जिसमें समस्त लोक, सारा वाङ्मय, समस्त नक्षत्रमण्डल और सारा भाव-जगत् समाया हुआ है। दृश्य-अदृश्य जो कुछ भी विश्व में है वह सब नटराज शिव के नर्तन का परिणाम है। उनकी दृष्टि में अभिनय ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्ददायक है। तभी तो नारद जैसे योगियों का चित्त भी उसकी ओर आकृष्ट होता है।

नन्दिकेश्वर ने नाट्य का अभिनय पक्ष विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। सम्भवतः आधुनिक युग में भी अभिनय का इतना पूर्ण एवं सर्वाङ्गीण विवेचन नहीं किया जा सकता। उनके विशद वर्णन से अभिनय सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। अंग, प्रत्यंग और उपाङ्ग—इन तीन साधनों से आंगिक अभिनय का प्रदर्शन हुआ करता है। नन्दिकेश्वर ने आङ्गिक अभिनय के लिये शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि, पाद और ग्रीवा को प्रमुख अङ्ग माना है और स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर, उरु, जङ्घा, मणिबन्ध, जानु, कूर्पर को प्रत्यङ्ग माना है तथा दृष्टि, भ्रूपुट, तारा, कपोल, नासिका, हनु, अधर, दशन, जिह्वा, चिबुक, वदन, पार्ष्णि, गुल्फ, अङ्गुलि, हथेली एवं पाद के तालुओं को उपाङ्ग कहा है। नन्दिकेश्वर ने इनके केवल लक्षण ही नहीं बताये हैं बल्कि किस अभिनय का क्या विनियोग है, किस अवसर पर इनका प्रयोग किया जाता है—इसका भी विवेचन किया है। उन्होंने आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत 'भ्रमरी' नृत्य का विवेचन किया है जिसमें विविध भाव-भंगिमाओं द्वारा घूम-घूम कर नर्तन किया जाता है।

नन्दिकेश्वर ने आङ्गिक अभिनय का जितना विशद और तात्त्विक विवेचन किया है वह विश्व के किसी नाट्य के प्रयोगात्मक साहित्य के लिए आज भी स्पर्द्धा का विषय हो सकता है। उनकी दृष्टि में नाट्य ही अभिनय है। अभिनेता अभिनय के माध्यम से कविकृत कल्पना का अभिनयन प्रेषण कर प्रेक्षक को रसाविष्ट करता है। आङ्गिक अभिनय का विधान नन्दिकेश्वर की मौलिक देन है। उनका अभिनय-विधान इतना विकसित एवं समन्वित है कि पात्र के अङ्गोपाङ्ग की प्रत्येक चेष्टा में सत्त्व-नियन्त्रित लय की कल्पना की है। मनोदशा के प्रतिबिम्ब ही तो हमारी चेष्टाएँ हैं और उसी के अनुरूप मनुष्य के नेत्रों में और मुख पर राग की

---

१. आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥
(अभिनयदर्पण, श्लोक १)

आभा झलकती है। नेत्रों के भाव-भरे संकेत और कर-पल्लव की एक मुद्रा में न जाने हृदय के कितने मर्मस्पर्शी सुख-दुःखात्मक भावों एवं विचारों का प्रतिफलन होता है, अभिनेता या नर्तक प्रेक्षक के आत्मदर्शन रूप आनन्द का माध्यम है, वह रस-रूप आध्यात्मिक उल्लास की अनुभूति का कलात्मक साधन है। नन्दिकेश्वर की दृष्टि में केवल अङ्गों का संचालन ही अभिनय नहीं, बल्कि सुख-दुःखात्मक भावों को अभिव्यक्त करना भी आवश्यक है। वाचिक अभिनय का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि वाचिक अभिनय नाटच का शरीर है, शरीर एवं वेशभूषा के अभिनय वाक्यार्थ द्वारा ही व्यञ्जित होते हैं। आहार्य नेपथ्यज विधि है। इसका विधान तो नाटच के सारूप्य सृजन के लिये होता है। वेशविन्यास, अलंकार-रचना, अंग-रचना, केश-विन्यास, रंगशाला की दृश्य-योजना आदि आहार्य अभिनय की विधियाँ हैं। आहार्य अभिनय से नाटच प्रयोग परिपुष्ट होता है। सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सात्त्विक भावों का यथास्थान और यथारस प्रयोग किया जाता है। नन्दिकेश्वर की दृष्टि में उत्तम कोटि का अभिनय वह है जिसमें मनोभावों का अधिकाधिक प्रकाशन हो। इस प्रकार अभिनय में केवल बाह्य चेष्टाओं का ही प्रदर्शन नहीं, बल्कि बाह्य चेष्टाओं के साथ मन के भावों का प्रकाशन भी होता है।

नन्दिकेश्वर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन 'संगीतकला' का विवेचन है। नाटचकला में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और उसे आज भी नाटचाभिनय से पृथक् कर पाना आसान नहीं है। नाटक में संगीत का उपयोग वातावरण की पूर्ति एवं रसमय सृष्टि के लिए किया जाता है। केवल रंगमंच पर दृश्यों को सुसज्जित कर देने मात्र से ही घटनाओं का सजीव वातावरण तैयार नहीं हो जाता, बल्कि संगीत ही उसकी जीवनी-शक्ति है। संगीत के अन्तर्गत नर्तन, गायन, वादन—तीनों का समावेश है। यही कारण है कि आचार्यों ने नाटचाभिनय के साथ संगीतकला का भी महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है।

'नर्त्तन' संगीतकला का महत्त्वपूर्ण अंग है, विना नर्तन के संगीत की अपूर्णता है। नन्दिकेश्वर ने 'नर्त्तन' का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने नर्तन को नाटच का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार नाटच में नृत्य का प्रयोग नटराज भगवान् शंकर की प्रेरणा से हुआ है। नन्दिकेश्वर ने नर्तन के दो प्रकार बताये हैं—ताण्डव और लास्य। ताण्डव का सम्बन्ध शिव से और लास्य का सम्बन्ध पार्वती से है। ताण्डव और लास्य की उद्भावना में शिव और पार्वती दोनों का योगदान रहा है। ताण्डव नृत्य नाना प्रकार के करणों एवं अंगहारों से युक्त होता है। अंगहार, करण और रेचक ये नृत्य-सम्बन्धी तत्त्व हैं। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में अंगहारों का विस्तृत एवं मौलिक

विवरण प्रस्तुत किया है। भरतार्णव में चित्र-विचित्र ताल, लय एवं करणों के संयोग से अंगहारों की निष्पत्ति बताई गयी है। नन्दिकेश्वर ने नौ प्रकार के अंगहारों का वर्णन किया है और प्रत्येक अंगहार का सम्बन्ध रस से जोड़ा गया है तथा ये अंगहार सौन्दर्य-शास्त्र से भी सम्बद्ध हैं। भरतार्णव में जो नौ अंगहार बताये गये हैं वे रसपरक होने के कारण रस की संख्या के अनुसार नौ माने गये हैं। प्रत्येक अंगहार में करणों की संख्या निर्धारित होती है। नृत्य में हस्त और पाद की गतियों को 'करण' कहा गया है। प्रत्येक करण में हस्त एवं पाद की मुद्राएँ बताई गई हैं। स्थानक, चारी, नृत्तहस्तादि करण के ही विभिन्न तत्त्व हैं। नृत्य में खड़े होने की मुद्रा को 'स्थानक' कहते हैं। भरतार्णव बत्तीस प्रकार के स्थानकों का प्रतिपादन किया गया है। चारी भी करणों का ही एक प्रमुख तत्त्व है। नन्दिकेश्वर ने एक पाद से किये जाने वाले अभिनय को चारी कहा है। चारी के द्वारा ही करणों एवं अंगहारों की रचना होती है। उन्होंने चारी के दो भेद किये हैं—आकाशचारी और भूचारी। आकाशचारी का प्रयोग आकाश में और भूचारी का प्रयोग भूमि पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त भरतार्णव में चारीयुक्तहस्त का भी विवेचन किया गया है।

नन्दिकेश्वर की महत्त्वपूर्ण मौलिक देन है 'सप्तलास्य-विवेचन'। भरतार्णव में नृत्य के रूपों का सात के समूह रूप में वर्णन किया गया है जिसे 'सप्तलास्य' कहते हैं। ये सात की संख्या में निर्दिष्ट हैं—शुद्धनाट्य, देशीनाट्य, पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलस। शुद्धनाट्य में सात प्रकार के ताण्डव और देशी नाट्य में पाँच प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं। इनमें प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। नन्दिकेश्वर ने शुद्ध एवं देशी नाट्यों की उत्पत्ति शिव एवं पार्वती द्वारा बतायी है। भरतार्णव में ताण्डव एवं लास्य शब्द का प्रयोग पुरुष और स्त्री के मिले-जुले नृत्य के लिये किया गया है। उन सबके सम्मिलित रूप को 'सप्तलास्य' कहा गया है। प्रारम्भ में जो दो रूप—शुद्ध एवं देशी निर्दिष्ट है उनके मौलिक तत्त्वों को 'ताण्डव' कहा गया है और शेष पाँच रूपों पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलस को लास्य कहा गया है।

'गायन' संगीतकला की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। भारतीय नाटकों में गीतों की योजना की पुष्ट परम्परा रही है। नन्दिकेश्वर ने संगीत का जितना महत्त्वपूर्ण मौलिक विवेचन किया है वैसा विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। भरत ने भी संगीत का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है किन्तु नन्दिकेश्वर जैसी मौलिकता उनमें नहीं दृष्टिगोचर होती। नन्दिकेश्वर ने शिव के डमरू से उद्‌भूत चौदह सूत्रों की संगीत एवं दर्शनपरक व्याख्या प्रस्तुत कर साहित्य को

एक नवीन दिशा प्रदर्शित की है। कहा जाता है कि एक समय नटराज भगवान् शिव ने नृत्त के अवसान में चौदह बार डमरू बजाया था, उस समय डमरू से चौदह सूत्र प्रकट हुए। उन सूत्रों के आधार पर पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र की रचना की और नन्दिकेश्वर ने संगीत एवं दर्शन परक व्याख्या प्रस्तुत की है।

नन्दिकेश्वर के अनुसार शिव के प्रथम चार सूत्र स्वरसूत्र हैं जिसमें नौ स्वर हैं। उनकी दृष्टि में ऋृ लृ ये दो ध्वनियां नपुंसक हैं शेष सात स्वर प्रमुख है। उन्होंने प्रथम सूत्र अउउण् (अ इ उ) को लघु स्वर, तृतीय सूत्र 'एओङ्' (ए औ) को दीर्घ स्वर और चतुर्थ' सूत्र ऐ औ च्' (ऐ औ)को प्लुत स्वर माना है। इस प्रकार कुल सात स्वर हैं। इन्हीं सात स्वरों से संगीत के सात स्वर उद्भूत हैं। इनमें अ इ उ (अउउण्) से क्रमशः षड्ज, ॠषभ, गान्धार (सरिगाः) की उत्पत्ति हुई है, ए, औ (ए ओ ङ्) से मध्यम एवं पंचम (म·प) की और ऐ, औ (ऐ औ च्) से धैवत एवं निषाद (ध, नि) की उत्पत्ति हुई है।[1] नन्दिकेश्वर इन स्वरसूत्रों से ताल की उत्पत्ति भी बताई है। नन्दिकेश्वर के अनुसार प्रथम सूत्र के तीन अक्षर अ इ उ ह्रस्व वर्ण हैं अतः इनकी एक एक मात्राएँ होंगी, तृतीय रूप (ए, ओ) में दो गुरु हैं और चतुर्थ सूत्र (ए औ) में दो प्लुत हैं। इस प्रकार कुल तीन लघु, दो गुरु और दो प्लुत स्वर हैं।[2] नन्दिकेश्वर ने द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद की स्थापना की है। मतंग ने नन्दिकेश्वर के द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद को अपने बृहद्देशी नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है।[3] इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने अपनी मौलिक परिकल्पना का मौलिक परिचय तो दिया ही है। साथ ही संगीत के अन्य तत्त्व नृत्य एवं वाद्य का भी भव्य·विधान अपने ग्रन्थ में किया है। गीत तो नाट्च का प्राणाधायक तत्त्व है किन्तु विना वाद्य-वृन्द के गीत नीरस है। अतः नृत्य, गीत, वाद्य ये सब एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि गीत, वाद्य, नृत्य आदि की योजना के बिना नाट्य को सर्वांग सुन्दर नहीं माना जा सकता। वस्तुतः संगीत ही वह तत्त्व है जो नाट्य के अनुकुल रस की भाव-भीनी सृष्टि करता है।

नाट्य एवं संगीत में रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत की दृष्टि में तो 'रस' ही नाट्य है। गुण, अलंकार आदि उपादानों की परिकल्पना रसोद्बोधन के

---

१. ··················अउउण् सरिगाः स्मृताः।
एओङ् मपौ धनी ऐऔच् द्वेधा सप्तस्वरा मताः॥
(रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २६)

२. लघुत्रयं गुरुद्वन्द्वं प्लुतद्वन्द्वं स्वरो भवेत्। (रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, ३८)

३. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
(बृहद्देशी (मतंग), पृष्ठ ३२)

लिए ही की गई है। यद्यपि भरत रस-सिद्धान्त के आदि प्रवर्त्तक माने जाते हैं किन्तु रस-सिद्धान्त की परम्परा उनके पूर्व से ही चली आ रही है। राजशेखर ने तो आचार्य नन्दिकेश्वर को रस का आधिकारिक विद्वान् बताया है[1]। नन्दिकेश्वर की रस-योजना नाट्य एवं संगीत उभयपरक है। उनकी दृष्टि में रस आनन्दरूप है। सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग का ध्येय सहृदय को रसास्वादन कराना है। नाट्य-रस का यह आस्वादन उस मनोरंजन की भांति है। जिसका उपभोग जीवात्मा सांसारिक विषय-भोगों के द्वारा करता है। नन्दिकेश्वर ने रसास्वादन के विषय में एक मौलिक चिन्तन-धारा प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि में रस आनन्दरूप है, गीत के श्रवण तथा नाट्य एवं नृत्य के दर्शन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रस का आस्वादन है। यह आनन्दरूप रस का स्वाद हर जगह मिलता है, चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा शृंगारिक। सब में एक-सा स्वाद मिलेगा। यह स्वाद रस से भिन्न नहीं, स्वाद ही रस है, रस ही आनन्द है, नाट्य भी रस है, नृत्य भी रस है और गीत भी रस है, क्योंकि सब में आनन्द है और आनन्द ही रस है। इस दृष्टि से काव्य एवं नाट्य-गत रस संगीतरस से भिन्न नहीं है। नाट्य एवं काव्य रस संगीत में पूर्णतः अनुभूत किये जा सकते हैं। नृत्य एवं वाद्य प्रेक्षकों के अन्तस् में स्थित स्थायी भावों को जागृत कर उन्हें रसाप्लावित कर देते हैं। क्योंकि गीत के शब्द एवं अर्थ के साथ चतुर्विध अभिनय का संयोग होने पर नृत्य के द्वारा रसानुभूति काव्य एवं नाट्य की अपेक्षा द्रुततर गति से होती है। इसलिये नन्दिकेश्वर ने सभी प्रकार के लोगों के लिये नाट्य एवं संगीत (नृत्य एवं गीत) को एक ऐसा साधन बताया है जहाँ सबको एक-सा आनन्द मिलता है। विशेष उल्लेखनीय यह है कि नन्दिकेश्वर की दृष्टि में सहृदय असहृदय सभी रस की अनुभूति कर सकते हैं जैसा कि कालिदास ने भी कहा है कि रम्य वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर जन्मजन्मान्तर के भाव एवं प्रेम उद्भूत हो जाते हैं।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय एवं नृत्य की समग्र दृष्टि के साथ 'प्रेक्षागृह' की भी कल्पना की है। उन्होंने प्रेक्षागृह को 'सभा' के नाम से अभिहित किया है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक नाट्य, नृत्त एवं नृत्य परिषद् (सभा) के लिये एक सभापति तथा मंत्री होना आवश्यक है। सभापति और मंत्री को सर्वगुण सम्पन्न एवं समस्त कलाओं में मर्मज्ञ होना चाहिये। सभा में सभी कलाकारों को यथास्थान स्थित होना चाहिये तथा वाद्य-यन्त्रों को यथास्थान स्थापित उनकी पूजा कर गुरु की आज्ञा से नेपथ्य-विधान करना चाहिये। तदनन्तर रंग की अधिष्ठातृ देवी की स्तुति दिग्पालादि देवताओं को पुष्पांजलि अर्पित कर तब नृत्य प्रारम्भ करे।

---

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः (काव्यमीमांसा)

नन्दिकेश्वर के अनुसार नृत्य गीत, भाव, ताल आदि से समन्वित होना चाहिये। उनका कथन है कि गीत वाणी द्वारा गानय करे और गीत के अभिप्राय को हस्तमुद्राओं द्वारा, भावों को नेत्र द्वारा एवं ताल-छन्द की गति को दोनों पैरों द्वारा प्रदर्शित करे। इस प्रकार रंगविधि के साथ किया गया अभिनय एवं नृत्य सफल होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य नन्दिकेश्वर के अनेक मौलिक तत्त्व उद्घाटित हुए हैं। अभिनय, संगीत एवं नृत्य कला उनकी मौलिक उद्भावनाएँ संस्कृत साहित्य के लिये सर्वथा उपादेय हैं। उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं एवं सिद्धान्तों से संस्कृत-साहित्य को ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व-वाङ्मय को गौरवान्वित किया है। उनकी नाट्यकला एवं संगीतकला सार्वभौम सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है। अतएव उनके सिद्धान्तों का असाधारण महत्त्व एवं उपयोग है। प्राचीन होने पर भी जीवन-रस से परिपुष्ट होने के कारण वे अब भी मौलिक एवं जीवन्त हैं। उनसे केवल भारतीय नाट्य एवं संगीत कला ही नहीं बल्कि विश्व की नाट्य एवं संगीत कला प्राणवती हो सकती है। नन्दिकेश्वर की अभिनय एवं संगीतकला के माध्यम से भारतीय जीवन की प्रवृत्ति एवं परम्परा वर्षों तक अभिव्यक्ति पाती रही है। माहेश्वरसूत्रों से संगीतकला का उद्गम दिखाकर उन्होंने संगीत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है। उन्हीं की परम्परा भरत, मतंग आदि आचार्यों द्वारा प्राणवती रही है। आज भी इस परम्परा की विजय-वैजयन्ती सर्वत्र लहरा रही है। उनका साहित्य सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक पक्ष का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है और आज के वैज्ञानिक युग में भी आचार्यों को सहज उपादेयता का सन्देश देता है।

भारतीय नाट्य एवं संगीतकला के पुनरुद्बोधन की इस मंगलमय पुण्य-वेला में आचार्य नन्दिकेश्वर की नाट्य एवं संगीत कला के उपादेय ज्योतिर्मय आलोक से भारतीयकला का प्रगति-पथ ज्योतिर्मय हो सकता है।

परिशिष्ट–१

(नन्दिकेश्वरप्रोक्ता)

नन्दिकेश्वरकाशिका

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ १ ॥

एकदा सकललोकनायको विश्वरूपविलासवैचित्र्यचमत्कारप्रवीणो नटराजराजः परमशिवः परमेश्वरः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमारादि-सिद्धान्नन्दिकेश-पाणिनि-व्याघ्रपात्-वसिष्ठादीन्मुनींश्चोद्धर्त्तुकामो डमरूनिनादव्याजेन चतुर्दश-सूत्रात्मकं तत्त्वमुपदिदेश—

Xअइउण् ।१। Xऋऌक् ।२। Xएओङ् ।३। Xऐऔच् ।४।

Xहयवरट् ।५। Xलण् ।६। Xञमङणनम् ।७। Xझभञ् ।८।

Xघढधष् ।९। Xजबगडदश् ।१०। Xखफछठथचटतव् ।११।

Xकपय् ।१२। Xशषसर् ।१३। Xहल् ।१४।

इति माहेश्वरढक्कानिनादनिर्गतानि चतुर्दशसूत्राणि माहेश्वरवरप्रसादान्नन्दिकेश्वरेण लब्धानि। एतान्येवाधारीकृत्य नन्दिकेश्वरेण स्वान्तर्गतं तत्त्वं प्रकाशयितुं 'नन्दिकेश्वरकाशिका' इति शैवमतप्रतिपादको ग्रन्थो व्यलेखि। नन्दिकेश्वरेण माहेश्वरसूत्राणामेकाऽपरा व्याख्या सङ्गीतकलादृष्ट्याऽपि 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' नामके ग्रन्थे कृता। परमशिवेन शिवेन चतुर्दशसूत्रात्मकं यत्तत्त्वमुपदिष्टं तत्तत्त्वार्थं नन्दिकेश्वरः पञ्चविंशतिकारिकारूपेणास्फोटयत्—

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यवर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥ २ ॥

अइउण् ॥ १ ॥

अकारो ब्रह्मरूपः स्यन्निर्गुणः सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामि समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ॥ १ ॥

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥ २ ॥

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत् ।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः समृता ॥ ३ ॥

वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।
सृष्टयाविर्भावमासाद्य मध्यमा वाक् समा मता ॥ ४ ॥

अकारं सन्निधीकृत्य जगतां कारणं गतम् ।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं गतम् ॥ ५ ॥

जगत् स्रष्टुमभूदिच्छा यदा ह्यासीत् तदाभवत् ।
कामबीजमिति प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥ ६ ॥

अकाशे ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता ।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥ ७ ॥

ऋलृक् ॥ २ ॥

ऋलृक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत् ।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत् ॥ ८ ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते ।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरपि ॥ ९ ॥

स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ ।
वर्णानां मध्यमं क्लीवमृलृवर्णद्वयं विदुः ॥ १० ॥

एओङ् ॥ ३ ॥

एओङ् मायेश्वरात्म्यैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु ।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥ ११ ॥

ऐऔच् ॥ ४ ॥

ऐऔच् ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत् स्वान्तर्गतं ततः ।
इच्छया विस्तरं कर्त्तुमाविरासीन्महामुनिः ॥ १२ ॥

हयवरट् ॥ ५ ॥

भूतपञ्चकमेतस्माद्धयवरण् महेश्वरात् ।
व्योमवाय्यम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि ॥ १३ ॥

हकाराद्व्योमसंज्ञं च यकाराद्वायुरुच्यते ।
रकाराद्वह्निस्तोमं तु वकारादिति सैव वाक् ॥ १४ ॥

लण् ॥ ६ ॥

आधारभूतं भूतानामन्नादीनां च कारणम् ।
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम् ॥ १५ ॥

अमङणनम् ॥ ७ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च अमङणनम् ।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु ॥ १६ ॥

झभञ् ॥ ८ ॥

वाक्पाणी च झभञासीद्विराड्रूपचिदात्मनः ।
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते ॥
वर्गाणां तुर्यवर्णा ये कर्मेन्द्रियमया हि ते ॥ १७ ॥

घढधष् ॥ ९ ॥

घढधष् सर्वभूतानां पादपायू उपस्थकः ।
कर्मेन्द्रियगणा ह्येते जाता हि परमार्थतः ॥ १८ ॥

जबगडदश् ॥ १० ॥

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वाधीन्द्रियपञ्चकम् ।
सर्वेषामेव जन्तूनामीरितं जबगड़दश् ॥ १९ ॥

खफछठथचटतव् ॥ ११ ॥

प्राणादिपञ्चकञ्चैव मनोबुद्धिरहङ्कृतिः ।
बभूव कारणत्वेन खफछठथचटतव् ॥ २० ॥

वर्गद्वितीयवर्णोत्थाः प्राणाद्याः पञ्च वायवः ।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

कपय् ॥ १२ ॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव सर्वेषामेव सम्मतम् ।
सम्भूतमिति विज्ञेयं कपय् स्यादिति निश्चितम् ॥ २२ ॥

शषसर् ॥ १३ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा ।
समाश्रित्य महादेवः शषसर् क्रीड़ति प्रभुः ॥ २३ ॥

शकाराद्राजसोद्भूतिः षकारात्तामसोद्भवः ।
सकारात् सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः ॥ २४ ॥

हल् ॥ १४ ॥

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः ।
अहमात्मा परो हल् स्यामिति शम्भुस्तिरोदधे ॥ २५ ॥

इति नन्दिकेश्वरकृता काशिका समाप्ता ।

परिशिष्ट–२

श्रीनन्दिकेश्वरप्रणीतं

रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्

अथ गान्धर्वः

मार्गं देशीं च यो वेत्ति स गान्धर्वोऽभिधीयते ।
न गायन्ति मनुष्योक्तं गीतं ये शिवतत्पराः ॥ १ ॥

गायन्ति मन्त्रगीतादीन् तान्गान्धर्वाञ्जगुर्बुधाः ।
यो वेत्ति केवलं मार्गं स्वरादिः स निगद्यते ॥ २ ॥

हृद्यशब्दः सुशारीरो ग्रहमोक्षविचक्षणः ।
रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविदः ॥ ३ ॥

प्रबन्धगाननिष्णातो विविधालापतत्त्ववित् ।
सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायासलसद्गतिः ॥ ४ ॥

आयत्तकण्ठस्तालज्ञः सावधानो जितश्रमः ।
शुद्धच्छायालगाभिज्ञः सर्वकाकुविशेषवित् ॥ ५ ॥

अपरस्थायसंचारः सर्वदोषविवर्जितः ।
क्रियापरो युक्तलयः सुघटो धारणान्वितः ॥ ६ ॥

स्फूर्जन्निर्जवनो हारि रहःकृद्भञ्जनोद्धुरः ।
सुसम्प्रदायो गीतज्ञैर्गीयते गायनाग्रणीः ॥ ७ ॥

गुणैः कतिपयैर्हीनो निर्दोषो मध्यमो मतः ।
महामाहेश्वरेणोक्तः सदोषो गायनाधमः ॥ ८ ॥

शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा ।
भावकश्चेति गीतज्ञा पञ्चधा गायनं जगुः ॥ ९ ॥

अन्यूनशिक्षणे दक्षः शिक्षाकारो मतः सताम् ।
अनुकार इति प्रोक्तः परभङ्ग्यनुकारकः ॥ १० ॥

रसाविष्टस्तु रसिको रञ्जकः श्रोतृरञ्जकः ।
गीतस्यातिशयाधानाद्भावकः परिकीर्तितः ॥ ११ ॥

एकलो यमलो वृन्दगायनश्चेति ते त्रिधा।
एक एव तु यो गायेदसावेकलगायनः ॥ १२ ॥

सद्वितीयश्च यो गायेत्स च यमलगायनः।
गातृवादकसंघातो वृन्दमित्यभिधीयते ॥ १३ ॥

संदष्टोद्घृष्टसीत्कारी भीतशङ्कितकम्पिताः।
कराली विकलः काकी वितालो करभोद्भटः ॥ १४ ॥

झोम्बकस्तुम्बकी वक्री प्रसारी विनिमीलकः।
विरसापस्वराव्यक्तस्थानभ्रष्टा व्यवस्थिताः ॥ १५ ॥

मिश्रकोऽनवधानश्च तथाऽन्यः सानुनासिकः।
पञ्चविंशतिरित्येते गायका निन्दिता मताः ॥ १६ ॥*

तत्त्वसूत्रं मन्त्रसूत्रं भूतसूत्रं ततः परम्।
रौद्रं सारस्वतञ्चैव पाटसूत्रं तु षड्विधम् ॥ १७ ॥

षट्त्रिंशदक्षरं तत्त्वसूत्रं ब्रह्मप्रभाषितम्।
मन्त्रसूत्रं भूतसूत्रं पञ्चाशदक्षरान्वितम् ॥ १८ ॥

रुद्रसूत्रं समायुक्तं द्विचत्वारिंशदक्षरैः।
सारस्वतं तु तत्संख्यं पाटसूत्रेऽर्णविंशतिः ॥ १९ ॥

एवं वर्णक्रमं ज्ञात्वा मूलसूत्रानुसारतः।
युक्तानि हल्स्वरैस्तानि त्रयस्त्रिंशद्धलः स्मृतः ॥ २० ॥

स्वराः षोडश संप्रोक्तास्ते च नित्यस्वरूपिणः।
हलः शिवः समाख्याताः शिवशक्त्यात्मिकाः स्वराः ॥२१॥

षडङ्गसहितान् वर्गान् यो जानाति स तत्त्ववित्।
ह्रस्वदीर्घप्लुतास्ते स्युर्द्रुतरूपार्धमात्रिकाः ॥ २२ ॥

रौद्रमङ्गीकृतं तेषु पाणिनीयमुनीश्वरैः।
त्र्यक्षरं प्रथमं सूत्रं द्वितीयं द्व्यक्षरं मतम् ॥ २३ ॥

तृतीयं द्व्यक्षरं प्रोक्तं चतुर्थं द्व्यक्षरं स्मृतम्।
चत्वारि स्वरसूत्राणि स्वरास्तैस्तु नव स्मृताः ॥ २४ ॥

सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋऌ-नपुंसकौ।
त्रिविधं स्वरसूत्रं तु नामाक्षरस्वरात्मकम् ॥ २५ ॥

त्रिसूत्रैस्ते स्वराः प्रोक्ता द्वितीयं तु निरर्थकम्।
लघुसूत्रं तु प्रथमं गुरुसूत्रं तृतीयकम् ॥ २६ ॥

* प्रारम्भ से १६ श्लोक संगीतरत्नाकर में मिलते हैं।

चतुर्थं प्लुतसूत्रं स्यादइउण् सरिगाः स्मृताः ।
एओङ् मपौ धनी ऐऔच् द्वेधा सप्तस्वराः मताः ।। २७ ।।

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः ।। २८ ।।

आत्मा विवक्षमाणोऽथ बुद्धया प्रेरयते मनः ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।। २९ ।।

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
स एव कण्ठे मध्यः स्यान्मूर्ध्नि तारश्च गीयते ।। ३० ।।

मन्द्रो मध्यश्च तारश्च त्रिविधः कथितः स्वरः ।
सामान्यलघुस्वराणां या मात्रा सम्प्रकीर्त्तिता ।। ३१ ।।

अस्माद्यद् द्विगुणं प्रोक्तं मन्द्रस्थानं तदुच्यते ।
मन्द्रात्तु द्विगुणं मध्यं मध्यतारं तृतीयकम् ।। ३२ ।।

उच्चः स्वरः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
उदात्तश्चानुदात्तश्च तृतीयः स्वरितः स्मृतः ।। ३३ ।।

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ।। ३४ ।।

एवं ते त्रिविधाः प्रोक्ता वेद्याः शांस्त्रविशारदैः ।
शुद्धविकृतभेदेन स्वरश्च द्विविधो मतः ।। ३५ ।।

चतुःसप्ताङ्कविधिसप्तदशविंशतिद्वाविंशतिरिति सप्तस्थानसंरक्षिता शुद्धाः ।
येषां शुद्धत्वहानिः स्यात्ते स्वरा विकृता मताः ।। ३६ ।।

स्थानद्वयसमारम्भात् षड्जमध्यमग्रामयोः ।
द्विविधा मूर्च्छना प्रोक्ताः षड्जग्रामस्य मूर्च्छनाः ।। ३७ ।।

सप्तैव तासां नामानि प्रोक्तानि भरतेन च ।
तेष्वेकैका भवेन्मूर्च्छना सप्तधा तानभेदतः ।। ३८ ।।

आर्चिका गाथिका चैव सामिकाथ स्वरान्तरा ।
औडवा षाडवा पूर्णा सप्तधा मूर्च्छना मता ।। ३९ ।।

तत्रार्चिकैकरूपा स्याद् द्विरूपा गाथिका स्मृता ।
त्रिरूपा सामिका प्रोक्ता चतूरूपा स्वरान्तरा ।। ४० ।।

औडवा पञ्चरूपा स्यात् षड्रूपा षाडवा मता ।
पूर्णा प्रोक्ता सप्तरूपा मूर्च्छनैव विभज्यते ।। ४१ ।।

आर्चिका त्वेकरूपा स्याद् गाथिका च द्विरूपिका ।
सामिका नवरूपा स्यात् ··· ··· ··· ··· ··· ॥ ४२ ॥

चतुर्विंशतिभी रूपैः संयुक्ता तु स्वरान्तरा ।
सविंशत्या शतरूपा स्यादौडवा मूर्च्छना तु या ॥ ४३ ॥

सविंशत्या सप्तशतरूपा सा षाडवा स्मृता ।
चत्वारिंशत्समायुक्तसहस्रैः पञ्चभिर्युता ॥ ४४ ॥

तानैरन्यैर्युता पूर्णा मूर्च्छना सप्तमी तु या ।
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि द्वादशस्वरमूर्च्छनाः ॥ ४५ ॥

द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः ।
जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये ॥ ४६ ॥

अथाधुनोच्यते शास्त्रे स्वरसामान्यलक्षणम् ।
स्वयं च राजते यस्मात्तस्मादेष स्वरः स्मृतः ॥ ४७ ॥

श्रुतिः श्रूयत इत्येवं ध्वनिरेषोऽभिधीयते ।
श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद्ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।
सा चैकापि त्रिधा ज्ञेया तारमन्द्रादिभेदतः ॥ ४८ ॥

लक्षणं च श्रुतीनां हि तालानां लक्षणं ततः ।
मात्रात्रयात्मकं सूत्रं प्रथमं सार्धमात्रिकम् ॥ ४९ ॥
तृतीयं गुरुयुग्मेन चतुर्थं प्लुतयुग्मतः ।
लघुत्रयं गुरुद्वन्द्वं प्लुतद्वन्द्वं स्वरो भवेत् ॥ ५० ॥

हस्तद्वयस्य संयोगे वियोगे चापि वर्तते ।
व्याप्तिमान् यो दश प्राणैस्स कालः तालसंज्ञकः ॥ ५१ ॥
ताण्डवस्यादिवर्णेन तालस्याद्यक्षरेण च ।
समायोगो यदा स्याच्च तालनामाभिधीयते ॥ ५२ ॥

तालात्मकं जगत्सर्वं तालस्तु व्यापकः स्मृतः ।
सूत्रे सूत्रे च तालः स्यात् स तालः कालसम्भवः ॥ ५३ ॥

सूत्रेषु सूचिताः सर्वे तालभेदा मुनीश्वरैः ।
चतुःसूत्रभवस्तालो मात्राद्वयाधिकस्थितिः ॥ ५४ ॥

तृतीयं सूत्रं चतुर्मात्रिकप्रस्तारे तृतीयं रूपम् । चतुर्थं सूत्रं षाण्मात्रिकप्रस्तारे षट्त्रिंशत्तमम् । प्रथमसूत्रद्वयं पञ्चमात्रिकप्रस्तारे मतद्वयम्—प्रथमं मतम्, द्वितीयं मतञ्च । प्रथममते पञ्चमात्रिकम् । द्वितीयमते षाण्मात्रिकम् ।

स्वरतालस्य पिण्डः ३३३३ संख्या २०८८४०२ ।
तिथितालस्य पिण्डः ३३३३३ संख्या २९३७०६६ ।

कालो मार्गाः क्रियाङ्गानि ग्रहो जातिकलालयाः ।
यतिप्रस्तारकश्चेति तालप्राणाः दशस्मृताः ।। ५५ ।।

प्रतिदेहं यथा प्राणास्ताले ताले तथा दश ।
कालः तालस्तु विज्ञेयः कलापातलयान्वितः ।। ५६ ।।

लध्वादिक्रियया मापः कालः समय उच्यते ।
मार्गः पन्था इति प्रोक्तः येन तालः प्रदर्श्यते ।। ५७ ।।

नियतकालकलापातः मार्ग इत्युच्यते बुधैः ।
स मार्गस्त्रिविधः प्रोक्तः चित्रदक्षिणवार्त्तिकाः ।। ५८ ।।

सशब्दा चाथ निःशब्दा क्रिया हि द्विविधो मतः ।
द्रुतो लघुः गुरुश्चैव प्लुतः काकपदो यतिः ।। ५९ ।।

षडङ्गानि च प्रोक्तानि नन्दिना भरतेन च ।
ग्रहस्ताले समोऽतीतोऽनागतश्च त्रिधा मतः ।। ६० ।।

क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लय इत्युच्यते बुधैः ।
त्रयो लया इति प्रोक्ता द्रुतमध्यविलम्बिताः ।। ६१ ।।

लयप्रयोगनियमो यतिश्च त्रिविधा मता ।
समा स्रोतोगता चैव गोपुच्छेति कीर्त्तिता ।। ६२ ।।

तालाङ्गमार्गविस्तारः प्रस्तारश्चोच्यते बुधैः ।
निःशब्दः शब्दयुक्तश्च द्विधा तालो निगद्यते ।। ६३ ।।

तत्रावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशनम् ।
चतुर्विधश्च निःशब्दः विज्ञेयः तालकोविदैः ।। ६४ ।।

ध्रुवः शम्या ततस्तालः सन्निपातस्तथा परः ।
इत्येवं शब्दयुक्तश्च चतुर्विधः प्रकीर्त्तितः ।। ६५ ।।

तत्रावापस्तु विज्ञेयः उत्तानाङ्गुलिकुञ्चनम् ।
निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम् ।। ६६ ।।

तस्य दक्षिणतः क्षेपो विक्षेपः कथितो बुधैः ।
अङ्गुलिकुञ्चन ज्ञेयं प्रवेशाख्यमधस्तलम् ।। ६७ ।।

ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिकाशब्दपूर्वकः ।
पातो दक्षिणहस्तस्य शम्या च कथितो बुधैः ।। ६८ ।।

वामहस्तस्य पातस्तु तालनामाभिधीयते ।
उभयोश्च समः पातः सन्निपात इतीरितः ।। ६९ ।।

ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा पद्मिनी च विसर्जिता ।
विक्षिप्ता च पताका च पतिता चाष्टमी मता ।। ७० ।।

सशब्दाऽत्र ध्रुवा ज्ञेया सर्पिणी वामगामिनी ।
कृष्णा दक्षिणपाता स्यात् पद्मिनी स्यादधोगता ।। ७१ ।।

विसर्जिता बहिर्याता विक्षिप्ताकुञ्चनात्मिका ।
पताकातूर्ध्वगमनात् पतिता करपातनात् ।। ७२ ।।

प्रमाणं स्यात्करद्वन्द्वे सार्धैकत्रिषडङ्गुलैः ।
घाताशेषो गुरुर्ज्ञेयः प्लुते घातात्करभ्रमः ।। ७३ ।।

।। इति मार्गसङ्गीते रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणं समाप्तम् ।।

●

परिशिष्ट—३

शब्दानुक्रमणिका

'ए'

'ऐ'

'ओ'

'औ'

'क'

'च'

'न'

'ब'

'भ'

'म'

नाट्य और सङ्गीत के पारिभाषिक शब्द-कोष

अङ्ग—ताल की कालगणना करने का माप। इसके छः भेद—द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, काकपाद और विराम।

अङ्गहार–पाँच से अधिक करणों की क्रिया। अङ्गों का समुचित सञ्चालन अथवा हाव-भावादि युक्त मुद्रा में नर्तन। प्रातःकालीन कार्यक्रम में किया जाने वाला नृत्य। अङ्गहार के नौ प्रकार–ललित, विक्रम, कारुणिक, विचित्र, विकल, भीम, विकृत, उग्रतर और शान्तज।

अभिनय—अभिनेय (रामादि) की अवस्थाओं का अनुकरण। अभिनय के चार प्रकार—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।

अवनद्ध—चमड़े से मढ़ा हुआ चर्मवाद्य। पुष्करवाद्य तथा भाण्डवाद्य।

आकाशचारी–चारी का एक भेद। पृथ्वीतल से ऊपर उठकर होने वाला संचरण।

आङ्गिक—अभिनय एक प्रकार। अङ्गों-प्रत्यङ्गों के संचालन के द्वारा भाव-प्रदर्शन।

असंयुतहस्त–हस्ताभिनय का एक प्रकार। एक हाथ से की जाने वाली क्रिया।

आहार्य—अभिनय का एक प्रकार। वेश-भूषा के विन्यास के द्वारा भाव-प्रदर्शन।

उत्प्लबन—उछल-कूद कर किया जाने वाला अभिनय तथा नृत्य।

करण—हस्त-पादादि की संचालन क्रिया।

कला—काल प्रमाण का नाम। गुरु अक्षर। कला के तीन रूप—एककल, द्विकल और चतुष्कल।

काल–समय। ताल का एक अङ्ग।

क्रिया—ताल-प्रदर्शन की एक विधि। ताली देना। क्रिया के दो प्रकार—सशब्दा क्रिया और निःशब्दा क्रिया।

गतिप्रचार—अङ्गसञ्चालन की एक क्रिया। इसके दो प्रकार-चलित और स्थित।

ग्रह—ताल का प्रारम्भिक स्थान। गीत में वाद्य की संगति-प्रारम्भ का स्थान। जाति का प्रारम्भिक स्वर। ग्रह के चार प्रकार—सम, विषम, अतीत और अनागत।

ग्राम—स्वरों का समूह। एक प्रकार का राग। स्वर सप्तक।

घन–कांस्य धातु से निर्मित वाद्य। (झांझ, करताल आदि) काल का मापक।

चारी—करणों का एक प्रमुख तत्त्व। एक पैर से किया जाने वाला नर्तन।

छालिक्य–एक विशिष्ट प्रकार की गानशैली। ग्रामराग। एक नृत्य प्रकार।

जाति–ताल का एक अङ्ग। जाति के दो प्रकार—त्र्यस्र और चतुरस्र। एक प्रकार का राग।

तत—तार से बना हुआ तन्त्रीवाद्य (वीणा आदि)।

ताण्डव—पुरुष के द्वारा प्रयोज्य उद्धत नृत्य। ताण्डव के दो भेद—शुद्धनाट्य और देशीनाट्य।

(१) **शुद्धनाट्य** के सात प्रकार—दक्षिणभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजङ्गभ्रमण, विद्युद्भ्रमण, लताभ्रमण और ऊर्ध्वताण्डव।

(२) **देशीनाट्य** के पाँच प्रकार—निकुञ्चित, कुञ्चित, आकुञ्चित, पार्श्वकुञ्चित और अर्धकुञ्चित।

तार—शिर से उत्पन्न होने वाला स्वर।

ताल—काल और क्रिया का प्रमाण। ताली देना। गीत की क्रिया के काल को नापने का साधन।

ताल के दस प्राण—काल, मार्ग, अङ्ग, क्रिया, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार।

तूर्य—चतुर्विध वाद्य। तुरही नामक वाद्यविशेष।

ध्रुवागान—छः नर्तकियों द्वारा प्रयोज्य पूर्वरङ्ग में किया जाने वाला गीतविशेष।
ध्रुवागान के छः प्रकार—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा।

नाट्य—रसाश्रित अङ्ग सञ्चालन। अभिनय।

नाद—अव्यक्तध्वनि। अनाहतनाद और आहतनाद।

नान्दी—पूर्वरङ्ग में किया जाने वाला मङ्गलाचरण।

निर्गीत—निरर्थक अक्षरों से किया जाने वाला गान।

नृत्त—भाव और अभिनय रहित अङ्गसञ्चालन।

नृत्तहस्त—हस्ताभिनय का एक प्रकार। सौन्दर्य-विधान के लिए विहित एक हस्तक्रिया।

नृत्य—भावाश्रय नर्तन।

पादाभिनय—पैरों से किया जाने वाला अभिनय। पादाभिनय के सात प्रकार—चलन, चङ्क्रमण, सरण, कुट्टन, लुठित, लोलित और विषमसंचर।
पादाभिनय के चार अन्य प्रकार—मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी और पादचारी।

पुष्पाञ्जलि—नाट्य एवं नृत्य के आदि, मध्य एवं अन्त में किया जाने वाला एक माङ्गलिक अनुष्ठान।

पुत्तलिकानृत्य—कठपुतली का नृत्य।

प्रेक्षागृह—नाट्यशाला।

बहिर्गीत—शुष्क अक्षरों से किया जाने वाला गान। पूर्वरङ्ग में विहित वाद्य-वादन।

भ्रमरी—चक्करदार नृत्य। आकाशचारी का एक प्रकार।

भूचारी—चारी का एक प्रकार। भूमि पर किया जाने वाला संचरण।

मण्डल—चारियों के संयोग से निष्पन्न होने वाला पादाभिनय।

मध्य—कण्ठ से उत्पन्न होने वाला स्वर। लय का एक प्रकार।

मन्द्र—उरस् से उत्पन्न होने वाला स्वर।

मार्ग—ताल के दस प्राणों में एक प्राण। ताल में कालविभाजन का मार्ग। मार्ग के तीन प्रकार—चित्र, दक्षिण और वार्त्तिक। पुष्करवाद्य की एक प्रणाली। शिष्ट गीत-पद्धति।

मूर्च्छना—मोह, समुच्छ्राय (आरोह)। सप्तस्वरों का क्रमशः आरोहावरोहक्रम।

मेपोलनृत्य—एक प्रकार का लोकनृत्य। जिसमें एक बाँस गाड़कर उसके चारों ओर युवतियाँ नाचती थी।

यति—लय के प्रयोग का नियम। विराम। अर्द्धद्रुत। अर्द्धलघु। यति के तीन प्रकार—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा।

यथाक्षर—ताल के अङ्ग कला का एक रूप। एककल (एकाक्षर कालमान)

रस—शृङ्गार, वीर, हास्य, रौद्र, करुण, भयानक, वीभत्स, अद्भुत। इसके पाँच प्रकार—काव्यरस, नाट्यरस, नृत्यरस, गीतरस और वास्तुरस।

रासक—बारह या सोलह नर्त्तकियों द्वारा प्रयोज्य हस्तबद्धनृत्य

रास—नर-नारियों का मण्डलाकार सामूहिक नृत्य।

लय—ताल का एक प्रमुख अङ्ग। गायन और वादन के अन्तर्गत प्रचलित एक सा कालमान। इसके तीन प्रकार हैं—द्रुत, मध्य, विलम्बित।

लास्य—स्त्रीद्वारा प्रयोज्य सुकुमार नृत्य।

वाचिक—अभिनय का एक प्रकार। पाठ्य और गीत द्वारा प्रयोज्य अभिनय।

वितत—चर्मनद्ध वाद्य।

श्रुति—श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ध्वनि।

स्वर—अनुरणनात्मक रञ्जक ध्वनि। स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

सप्तलास्य—नृत्य के सात रूप—शुद्धनाट्य, देशीनाट्य, पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलस।

संयुतहस्त—दोनों हाथों से संयुक्त अभिनय।

सात्त्विक—अभिनय का एक प्रकार। सात्त्विक एक प्रकार का भाव। सात्त्विक भावों से किया गया अभिनय।

सुषिर—फूँक कर बजाया जाने वाला वाद्य।

स्थानक—करणों का एक तत्त्व। अभिनय या नृत्य में खड़े होने की एक मुद्रा।

हल्लीसक—मण्डलाकार सामूहिक नृत्य का एक प्रकार।

हस्ताभिनय—हाथ से किया जाने वाला अभिनय। इसके तीन प्रकार हैं—असंयुतहस्त, संयुतहस्त और नृत्तहस्त।

•

परिशिष्ट—५

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत ग्रन्थ :–

१. अग्निपुराण (व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता–१९५७।

२. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् (डा० पारसनाथ द्विवेदी) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९८५।

३. अट्ठकथा—नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा।

४. अथर्ववेदसंहिता (सायणभाष्य)—निर्णयसागर, प्रेस बम्बई—१९३५।

५. अनर्घराघव (मुरारि) निर्णयसागर, प्रेस बम्बई—१९३९।

६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (कालिदास) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१३।

७. अभिनयदर्पण (अंग्रेजी—नन्दिकेश्वर) कलकत्ता, १९३४।

८. अभिनयदर्पण (हिन्दी अनुवाद—नन्दिकेश्वर) इलाहाबाद, १९६७।

९. अभिनवभारती १–४ भाग (अभिनवगुप्त) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा, १९३४, १९५४, १९५६, १९४०।

१०. अमरकोश (अमरकोश) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९४०।

११. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) गङ्गापुस्तकालय, वाराणसी।

१२. अष्टाध्यायी (पाणिनि) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी।

१३. आचारांगसूत्र—पालि टैक्स सोसाइटी १८८२–९१।

१४. उत्तररामचरित (भवभूति) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७१।

१५. ऋग्वेद (सायणभाष्य), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई शक सम्वत् १८१०।

१६. ऐतरेय आरण्यक (ए० बी० कीथ) आक्सफोर्ड, १९०९।

१७. औभापतम् (के० वासुदेवशास्त्री) मद्रास—१९५७।

१८. कथासरित्सागर (सोमदेवभट्ट) राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७।

१९. कल्पद्रुमकोष—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा।

२०. कादम्बरी (बाण) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी। १९६१।

२१. कामसूत्र (जयमंगला)—वात्स्यायन—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६०।

२२. काव्यप्रकाश (मम्मट) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना—१९३३।

२३. काव्यप्रकाश (डा० पारसनाथ द्विवेदी) विनोद पुस्तकमन्दिर, आगरा १९८६।

२४. काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर) ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६० ।
२५. काव्यमीमांसा (राजशेखर) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ।
२६. काव्यादर्श (दण्डी) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, १९,५८ ।
२७. काशिकावृत्ति (जयादित्य वामन) चौखम्बा, वाराणसी ।
२८. किरातर्जुनीयम् (भारवि) चौखम्बा, वाराणसी, १९३९ ।
२९. कुट्टिनीमतम् (दामोदर गुप्त) काशी, १९६१ ।
३०. कुमारसंभव (कालिदास) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ।
३१. कूर्मपुराण(व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९६१ ।
३२. गौतमधर्मसूत्र (उमेशचन्द्र पाण्डेय) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी ।
३३. चारुदत्त (भासनाटकचक्रम्) पूना १९३७ ।
३४. जातककथा—काशी, १९३७ ।
३५. छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।
३६. तर्कसंग्रह—हरिहर शास्त्री, वाराणसी ।
३७. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, १९३० ।
३८. तैत्तिरीय ब्राह्मण—सायणभाष्य ।
३९. तैत्तिरीयसंहिता—सायणभाष्य ।
४०. दत्तिलम्—संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६० ।
४१. दशरूपक (धनञ्जय) चौखम्बा, वाराणसी—१९७३ ।
४२. दीर्घनिकाय—पालीटैक्स सोसाइटी, १९४९ ।
४३. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९११ ।
४४. नन्दिकेश्वरकाशिका (नन्दिकेश्वर) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७२ ।
४५. नाटकलक्षणरत्नकोष (सागरनन्दी) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, १९७२ ।
४६. नाट्यशास्त्र भाग १–४ (भरत) ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४, १९५४, १९५६, १९६४ ।
४७. नाट्यशास्त्र (भरत) काव्यमाला संस्करण, पूना ।
४८. नाट्यशास्त्र (भरत) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, १९१९ ।
४९. नाट्यशास्त्र (१–७ अध्याय) हिन्दी अनुवाद ।
५०. नाट्यशास्त्रसंग्रह (श्री के० वासुदेवशास्त्री), सरस्वती महल, लाइब्रेरी, तंजौर, १९५३ ।
५१. नाट्यसर्वस्वदीपिका—प्राच्य विद्या मन्दिर, पूना ।
५२. नारदीयशिक्षा (नारद) मैसूर, ९९४६ ।
५३. निरुक्तम् (यास्क) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, १९५२ ।
५४. नृत्तरत्नावली (जयसेनापति) गवर्नमेन्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास, १९६५ ।

५५. नृत्याध्याय (अशोकमल्ल) इलाहाबाद, १९६९ ।
५६. पद्मपुराण (व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९६२ ।
५७. पाणिनीयशिक्षा (पाणिनि) कलकत्ता, १९३८ ।
५८. पातञ्जलमहाभाष्य (पतञ्जलि) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७ ।
५९. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, (भासनाटकचक्र), पूना १९३७ ।
६०. प्रतिमानाटक, (भासनाटक चक्रम्), पूना १९३७ ।
६१. बालरामायण (राजशेखर) जीवानन्द-विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४ ।
६२. बृहद्देशी (मतङ्ग) अनन्तशयनं संस्कृत ग्रन्थावली ।
६३. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता—१९५५ ।
६४. भट्टिकाव्य (जयमंगला)—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०६ ।
६५. भरतकोष (रामकृष्ण कवि) पूना १९६१ ।
६६. भरतभाष्य (नान्यदेव) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
६७. भरतार्णव (नन्दिकेश्वर) सरस्वती महल, तंजौर—१९५७ ।
६८. भागवतपुराण (व्यास) गीताप्रेस, गोरखपुर ।
६९. भावप्रकाशन (शारदातनय) गायकवाड़, बड़ौदा—१९६८ ।
७०. मत्स्यपुराण (व्यास) गुरुमण्डल, ग्रन्थमाला कलकत्ता १९५४ ।
७१. मनुस्मृति (मन्वर्थक्तावली) चौखम्बा, वाराणसी, १९५३ ।
७२. मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३९ ।
७३. महाभारत (नीलकण्ठी व्याख्या)—पूना १९२९ ।
७४. मार्कण्डेयपुराण (व्यास) गुरुमण्डल, ग्रन्थमाला कलकत्ता—१९६२ ।
७५. मालविकाग्निमित्र (कालिदास) चौखम्बा, वाराणसी ।
७६. मृच्छकटिक (शूद्रक) चौखम्बा, वाराणसी, १९५५ ।
७७. मृच्छकटिक (शूद्रक) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९२० ।
७८. मेघदूत (कालिदास) चौखम्बा, वाराणसी—१९७१ ।
७९. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९२६।
८०. रघुवंश महाकाव्य (कालिदास) चौखम्बा, वाराणसी ।
८१. रसार्णवसुधाकर (शिंगभूपाल) त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज—१९१६ ।
८२. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण-(डा० पारसनाथ द्विवेदी) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
८३. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम् (नन्दिकेश्वर) म्यूजिक एकेडमी, मद्रास ।
८४. लघुशब्देन्दुशेखर (नागेशभट्ट) चौखम्बा, संस्कृत सीरिज वाराणसी—१९५४ ।
८५. लिङ्गपुराण (व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता–१९६० ।
८६. वह्निपुराण ।

८७. वाचस्पत्यम् (श्रीताराचन्द्र भट्टाचार्य) चौखम्बा, वाराणसी ।
८८. वाजसनेयिसंहिता—चौखम्बा, वाराणसी ।
८९. वायुपुराण (व्यास) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता—१९५९ ।
९०. वाल्मीकिरामायण (वाल्मीकि) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई – १९२४ ।
९१. वाराहपुराण (व्यास) चौखम्बा, वाराणसी ।
९२. विक्रमोर्वशीय (कालिदास) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४२ ।
९३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण—गायकवाड़, बड़ौदा, १९५८ ।
९४. विष्णुपुराण (व्यास) गीताप्रेस, गोरखपुर ।
९५. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४२ ।
९६. शतपथब्राह्मण (सायणभाष्य) बम्बई १९४० ।
९७. शब्दकल्पद्रुम (राजाराधाकान्तदेव) मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी—१९६१ ।
९८. सामवेद (सातवेलकर) स्वाध्याय मण्डल १९६३ ।
९९. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) चौखम्बा, वाराणसी—१९५७ ।
१००. सिलप्पादिकारम्—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, १९३९ ।
१०१. संगीतदर्पण (दामोदर) संगीत कार्यालय, हाथरस ।
१०२. संगीतमकरन्द (नारद) गायकवाड़, बड़ौदा, १९२० ।
१०३. संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) अड्यार लाब्रेरी, मद्रास—१९४३ ।
१०४. संगीतराज (कुम्भ) काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी ।
१०५. संगीतसमयसार (पार्श्वदेव) ।
१०६. संगीत-सुधा (रघुनाथ) ।
१०७. संगीत सुधाकर (हरपाल) ।
१०८. स्वप्नवासवदत्ता (भास) चौखम्बा, वाराणसी, १९२३ ।
१०९. हरविजय (रत्नाकर) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
११०. हरिवंशपुराण (व्यास) गीताप्रेस, गोरखपुर ।
१११. हिन्दी अभिनवभारती—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

हिन्दी के ग्रन्थ :—

१. अभिनयदर्पण (देवदत्तशास्त्री) किताबमहल, इलाहाबाद, १९५६ ।
२. आचार्य भरत (डा० शिवचरण शर्मा) मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकेडमी, १९७१ ।
३. नाटचकला (रघुवंश) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१ ।
४. प्राचीन भारत में संगीत (डा० धर्मावती) भारतीय विद्याभवन, वाराणसी–१९६७ ।
५. भरत और भारतीय नाटचकला (डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—१९७० ।
६. भरत का संगीत सिद्धान्त (आचार्य बृहस्पति) लखनऊ—१९५९ ।

७. भारतीय धर्म एवं संस्कृति (डा० बुद्धप्रकाश) मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।
८. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच (डा० राममागर त्रिपाठी), अशोक प्रकाशन, दिल्ली। १९७१।
९. भारतीय संगीत का इतिहास (डा० पराञ्जपे) चौखम्बा, वाराणसी—१९६९।
१०. भारतीय काव्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय) वाराणसी।
११. भारतीयदर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी) श्रीराममेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा—१९७३
१२. रङ्गमञ्च—(सर्वदानन्द) श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी आगरा, १९६६।
१३. वैदिक साहित्य का इतिहास – (डा० पारसनाथ द्विवेदो) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९८३।
१४. संगीतचिन्तामणि (आचार्य बृहस्पति) संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६६।
१५. संगीतशास्त्र—(के० बासुदेव शास्त्री) सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९५८।
१६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास —(एस० के० दे) हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना १९७३।
१७. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६६
१८. संस्कृत नाटक (कीथ)—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।
१९. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कृष्णमाचारी।
२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पोद्दार) नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
२१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र (डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय) चौखम्बा, वाराणसी–१९६७।
२२. हर्षचरित: सांस्कृतिक अध्ययन (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पटना।
२३. हिन्दी नाट्य : उद्भव और विकास (डा० दशरथ ओझा) आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली–१९६१।
२४. हिन्दी नाट्य परम्परा—श्रीकृष्णदास।
२५. हिन्दुसभ्यता (डा० राधाकुमुद मुकर्जी)।

अंग्रेजी :—

1. Contribution to the History of Hindu Drama by M. M. Ghosh, Calcutta, 1958.
2. Classical Sanskrit litereture—by A. B. Kith—London-1936.
3. Histri of Sanskrit Litereture—by A. B. Kith.
4. History of Sanskrit Poetics—by S. K. Dey—Calcutta. 1960.
5. Histori of Indian Litereture—Wintarmiber.
6. Histri of Sanskrit Literature by Macdonel.

7. Mirror of Gestur——By Anaud Kumar Swami.
8. Number of Rasas—By V. Raghavan.
9. Naty shastra—by Manmohan Ghosh—Aciatic Society of Bengal 1950.
10. Religion & Society.
11. Some Concepts of Alankar Shastra—V. Raghaven.

पत्र-पत्रिकाएँ :—

१. अग्निपुराण का रचनाकाल (डा० पारसनाथद्विवेदी) आगरा विश्वविद्यालय रिसर्च जर्नल, आगरा भाग १९, पार्ट २, जुलाई १९७१ ।
२. संगीत परम्परा और भरतार्णव (डा० पारसनाथ द्विवेदी) भारतीय साहित्य-हिन्दी इन्स्टीट्यूट आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, वर्ष १४ अंक १-२, सन् १९६९ ।
३. भाण्डाकर प्राच्य विद्या पत्रिका-भाग ७, पूना ।
4. Apastamb & Bahvrich Brahaman (Keith, J. R. S. 1915)
5. Indian Culture Vol. II (Rigved & Mohanjodaro)
6. Journal of Andhra Historical Research Society, Vol. III
7. Journal of Music Academy, Madras.
8. Mirror of Gestures—Anand Kumar Swami.
9. New India Antiquary Vol. VI, No. 3, 1943.
10. Theory of Arab Music.

•

परिशिष्ट—६

शुद्धि-निर्देश

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
६	३	ज्ञैलादि	शैलादि
७	२	मातंगभरत	मतङ्गभरत
८	२८	अभिनवदर्पण	अभिनयदर्पण
९	१	नन्दि	नन्दी
९	२७	नन्दि	नन्दिकेश्वर
१२	३३	बालमीकिरामायण	वाल्मीकिरामायण
१४	२७	तां	तं
१५	६	वृहद्देशी	बृहद्देशी
१५	१२	बल्कि	वल्कि
१५	२८	वृहद्देशी	बृहद्देशी
१५	२९	वाद्यभाण्डाजां	वाद्यभाण्डानां
१७	३१	नन्दीश्वरमते	नन्दिमते
१७	३२	षोडशेष्वपि	षोडशस्वपि
१७	३३	ग्रहसन्धानेमोक्षेमुखचतुष्टयम्	ग्रहसन्धानमोक्षैर्मुखचतुष्टयम्
२४	३१	नन्दिकेश्चर	नन्दिकेश्वर
२६	३१	काक्ष्यमीमांसा	काव्यमीमांसा
२७	३	कीर्त्तिघर	कीर्त्तिधर
२७	१२	पुरष्कर	पुष्कर
२७	२०	उद्धत किया है।	उद्धृत किया है[४]।
२७	२१	दर्शिते	दर्शितं
२७	३२	न पुष्करविहीनं	(क) न पुष्करविहीनं
२७	३४		(अभिनवभारती भाग ४ पृ० ४१४)
२८	२	जाती है[१]।	जाती है।
२८	४	चुके थे[२]।	चुके थे।
२८	१५	पंचम	पञ्चम
२८	२१	१.	(ख)

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२८	२२	षोडशेष्वपि	षोडशस्वपि
२८	२३	ग्रहसन्धाने मोक्षे मुखचतुष्टये	ग्रहसन्धानमोक्षैर्मुखचतुष्टयम्
२८	२५	२. (पृ० २८)	५. (पृ० २७)
२९	२	नन्दिकेश्ववर	नंन्दिकेश्वर
२९	३३	नन्दिकेश्दरकाशिका	नन्दिकेश्वरकाशिका
२३	१८	सात्वती	सात्त्वती
३९	२०	हिडब्राण्ड	हिलब्राण्ड
४३	१	नाट्यकाल का विकाअ	नाट्यकला का विकास
४४	२१	महत्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण
४४	३१	प्राञ्जो जगाम···	प्राञ्चो अगाम···
४४	३३	यजुवेंद	यजुर्वेद
४५	१३	नायक	गायक
४६	३१	कमैन्द···	कर्मन्द···
४८	२१	क्षत्रों	क्षेत्रों
४८	२८	···रङ्गोपजीविनश्च	···रङ्गोपजीविनींश्च
४८	३१	दघुः	दद्युः
५१	३१	भायप्रकाशन	भावप्रकाशन
५७	११	ह्स्व	ह्रस्व
५८	१६	सङ्गीतचार्यों	सङ्गीताचार्यों
५८	३१	वृहद्देशी	बृहद्देशी
६२	२७	गुणानो	गृणानो
६२	३२	वाणः	बाणः
६३	१७	वैवत	धैवत
६४	२०	कुष्ट	क्रुष्ट
६४	२०	घैवत	धैवत
६४	२४	कुष्टस्वर	क्रुष्टस्वर
६४	२८	ऋषभदैवतौ	ऋषभधैवतौ
६५	६	कुष्टादि	क्रुष्टादि
६९	१५	वल्लरी	वल्लकी
६९	१५	भामरी	भ्रमरी
६९	१७	मृदंग	(नहीं रहेगा)
६९	३२	आचारांगसूक्ष	आचारांगसूत्र

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
७३	२७	एवभेनं	एवमेनं
७८	१८	किम्बदन्ती	किम्वदन्ती
७५	३	मेरी	भेरी
७७	१७	दादशस्वरसम्पन्ना	द्वादशस्वरसम्पन्ना
७८	६	सम्पणं	सम्पूर्ण
८२	११	द्योषवती	धोषवती
८२	३२	द्विस्पर्शे	द्विमर्शे
८४	२९	महामुनिऽ	महामुनिः
८९	८	छन्छः	छन्दः
८९	११	भारतभाष्य	भरतभाष्य
८९	२२	भारतभाष्य	भरतभाष्य
९०	९	निवोधत	निबोधत
९०	२९	भारतभाष्य	भरतभाष्य
९१	८	भरतनाटचमास्त्रम्	भरतनाटचशास्त्रम्
९१	९	बत्तिल	दत्तिल
९१	१५	संगीताचार्या	संगीताचार्य
९१	२५	धूर्त्तिलेः	धूर्त्तिलैः
९२	११	सन्थन्ध	सम्बन्ध
९४	२९	तत्तूमदवाः	तत्तनूद्भवाः
९४	२९	पृ० ८	१।५१
९५	८	गान्धर्ब	गान्धर्व
९५	२१	तत्रैकोन्नपंचाशत्	तत्रैकोनपञ्चाशत्
९५	२५	काकसूत्र	कामसूत्र
९५	२६	वर्ये	वर्षे
९६	८	अश्वकुट्ट	अश्मकुट्ट
९८	२	याष्टिक	याष्टिक
१००	३३	जातिरागादिसद्धिचर्थं	जातिरागादिसिद्धचर्थं
१०१	१७	कीर्त्तिधराचार्याः	कीर्त्तिधराचार्यः (अभिनवभारती भाग १, पृ० २०६)
१०१	२०	मतमत्रागामित्वेन	मतागामित्वेन
१०१	२२	विधिर्निरुपित	विधिर्निबद्धः

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१०३	२१	पारगंत	पारङ्गत
१०५	१३	रुद्रडमरूद्भवसूत्राविवरण	रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण
१०६	१२	हस्तभिनय	हस्ताभिनय
१०६	१३	हस्तभिनय	हस्ताभिनय
१०७	५	असपुतहस्त	असंयुतहस्त
१०७	१०	पान्डुलिपि	पाण्डुलिपि
११०	३२	समाप्तश्चार्यं	समाप्तश्चायं ग्रन्थः
१११	२४	ईसके	इसके
११५	१	अघोमुख	अधोमुख
११५	४	सुन्दर	सुन्दरी
११५	६	हस्तभिनय	हस्ताभिनय
११५	९	सर्पशिर	सर्पशीर्ष
११५	२०	पादभिनय	पादाभिनय
११५	२२	कुहन	कुट्टन
११६	९	वाणाहस्त	बाणहस्त
११६	११	चतुररस	चतुरस्र
११६	२१	हस्तभिन्नयों	हस्ताभिनयो
११६	२२	घुतम्	धुतम्
११६	२४	अघोमुखम्	अधोमुखम्
११६	२५	स्कन्घानतम्	स्कन्धानतम्
११६	२६	हास्य	हास्या
११६	२५	पारर्वाभिमुखम्	पार्श्वाभिमुखम्
११६	३२	चलम्	चलन
११६	३२	संक्रमण	चङ्क्रमण
११६	३२	चलम्	चलन
११६	३२	कुहन	कुट्टन
११७	९	वत्तीस	बत्तीस
११७	१५	सृगशीर्ष	मृगशीर्ष
११७	२१	चचश्चत्पुट	चच्चत्पुट
११७	३२	कङ्कालाल	कङ्कालताल
११८	१०	विधुल्लीला	विद्युल्लीला
११८	१२	स्थितावत्ती	स्थितावर्त्ता

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
११८	१३	सत्रोत्सारितमत्तवी	समोत्सारितमत्तली
११८	१४	अध्यर्घिक	अध्यर्धिका
११९	१५	क्लस	कलस
११९	२५	कारण	करण
११९	२५	दक्षिणाभ्रमण	दक्षिणभ्रमण
१२१	२६	साभिका	सामिका
१२१	२७	साभिका	सामिका
१२१	२८	गान्धारातनुदात्त	गान्धारावनुदात्त
१२३	१४	हयवरट	हयवरट्
१२४	५	सत्वगुण	सत्त्वगुण
१२४	९	तत्वों	तत्त्वों
१२४	१०	ममस्त	समस्त
१२५	१	अभिनयका	अभिनय का
१२७	२१	सात्विक	सात्त्विक
१२७	२६	सात्विकोऽपरः	सात्त्विकोऽपरः
१२७	२८	सर्ववाङ्यम्	सर्ववाङ्मयम्
१२७	२९	सात्विकं	सात्त्विकं
१२७	३२	सात्विक	सात्त्विक
१२८	२६	आलोकित	आलोलित
१२८	२६	घुत	धुत
१२८	३१	सममुद्धाहित्मधोमुखमालौलितं	सममुद्वाहितमधोमुखमालोलितं
१२९	२६	आलोकित	आलोलित
१२९	२६	घुत	धुत
१३०	४	धूत	धुत
१३१	१७	दृष्टा	हृष्टा
१३३	२६	अर्थचन्द्र	अर्द्धचन्द्र
१३४	२	संदेश	संदंश
१३५	५	शुक्रतुण्ड	शुकतुण्ड
१३६	२९	संदेश	संदंश
१३८	१२	ककंट	कर्कट
१३९	३२	भरताणव	भरतार्णव
१३९	३२	सयुतहस्त	संयुतहस्त

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१४०	३	पुष्पुट	पुष्पपुट
१४०	९	वेदहस्त	देवहस्त
१४०	१०	वेदहस्तमुद्राओं	देवहस्तमुद्राओं
१४०	११	वेदहस्त	देवहस्त
१४०	१३	वेदहस्त	देवहस्त
१४३	२४	शिरहस्त	शिखरहस्त
१४४	८	व्याविद्धवक्त्र	आविद्धवक्त्र
१४४	९	दक्षपक्ष	दण्डपक्ष
१४५	४	गजदत्त	गजदन्त
१४६	१२	सपंशीर्ष	सर्पशीर्ष
१४७	२७	अर्घमुकुल	अर्धमुकुल
१४८	१३	शुक्रतुण्डहस्त	शुकतुण्डहस्त
१४९	२९	देवगुरू	देवगुरु
१५१	१६	सङ्क्रमण	चङ्क्रमण
१५१	२१	प्रावृत्त	प्रावृत्थ
१५३	३	संक्रमण	चङ्क्रमण
१५५	१	वीभत्स	बीभत्स
१५८	१	सात्विक	सात्त्विक
१५८	२	सात्विक	सात्त्विक
१५८	९	सात्विक	सात्त्विक
१६२	२३	बैष्णव	वैष्णव
१६५	३	समात्सारितमण्डली	समोत्सारितमण्डली
१६८	८	अर्थचन्द्र	अर्द्धचन्द्र
१७७	२६	शार्गदेव	शार्ङ्गदेव
१८०	५	हसगति	हंसगति
१८०	३२	पाण्णिर्बहिमुखो	पार्ष्णिर्वहिर्मुखो
१८१	३३	कुंचितः	कुञ्चिता
१८२	२०	भजंगभ्रमण	भुजङ्गभ्रमण
१८३	२३	शुकतुण्ढाभिधौ	शुकतुण्डाभिधौ
१८८	१	तिर्यंक	तिर्यक्
१८८	१८	चायलंकारनटन	चार्यलङ्कारनटन
१८८	१९	सप्तलास्थों	सप्तलास्यों

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१८९	११	घघरिका	घर्घरिका
१९१	०	लक्ष्मांश	लक्ष्मीश
२०८	३३	सन्देहो	सन्दोहो
२१०	८	मूर्च्छवा	मूर्च्छना
२१०	२०	मूर्छ्चधातु	मूर्च्छ्धातु
२१५	३०	नाटचशास्त्रशास्त्र	नाटचशास्त्र
२१८	३१	बौणावाधतत्त्वज्ञः	वीणावादनतत्त्वज्ञः
२२०	५	भाण्डवाद्धों	भाण्डवाद्यों
२२४	३०	रुद्रमरुद्धवसूत्रविवरण	रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण
२३२	२	संपक्वेष्टक	संपक्वेष्टाक
२३६	९	ववेचित	विवेचित
२३६	३०	वर्णाभिन्न	वर्णभिन्न
२३७	६	चतुरस्त्रवणं	चतुरस्त्रवर्ण
२३७	७	त्र्यस्त्रवणं	त्र्यस्त्रवर्ण
२३५	११	वारह	बारह
२४५	५	विबिध	विविध
२४७	९	नाठच	नाटच
२४९	५	मनोंभावो	मनोभावों
२५०	१७	वीभव्स	बीभत्स
२५२	१८	अद्भुत	अद्भुता
२५६	१५	भरतार्णाव	भरतार्णव
२५७	१७	वीभत्स	बीभत्स
२६०	३१	तस्मान्यध्यम०	तस्मान्मध्यम०
२६३	३	वन्धूक	बन्धूक
२६४	३	अधिष्टातृ	अधिष्ठातृ
२६७	१४	नन्दिकेश्चर	नन्दिकेश्वर